TEXT PROBLEM WITHIN THE BOOK ONLY

TIGHT BINDING BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182799

UNIVERSAL
LIBRARY

आधुनिक कविता में विषय और शैली

Vidya Prakashan
Bagpat U.P.

डा० रांगेय राघव

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

प्रथम संस्करण
मई, १९६२

प्रकाशक :
राजपाल एण्ड सन्ज़
पोस्ट बॉक्स १०६४, दिल्ली-६

●

मूल्य
दस रुपये

कार्यालय व प्रेस :
जी० टी० रोड, शाहदरा, दिल्ली-३२

●

बिक्री-केन्द्र :
कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

●

मुद्रक :
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, क्वींस रोड, दिल्ली

ADHUNIK HINDI KAVITA MEN VISHAYA AUR SHAILI :
DR. RANGEYA RAGHAV : CRITICISM

क्रम

भूमिका	५
सत्य, शिव और सुन्दर	१७
सामीप्य और संसर्ग के आलम्बन	५०
आस्था और मूल्यांकन	७०
अभिव्यक्ति और विधान	१०४
संवेदना और स्वानुभूति	१४५
प्रकृत धर्म और दर्शन	१६७
समाज और युग-सीमा	२०७
आत्म और लोकसंवहन	२३५
आधेय और बिंबीकरण	२५६
उदात्तीकरण और सामंजस्य	२८०
मानव-संस्कृति	३०६

भूमिका

काव्य में चेतना का तात्पर्य

काव्य तो चेतना का ही पर्याय है, फिर नयी और पुरानी का संघर्ष तो दूर, पहले इसे ी सोचना आवश्यक है कि उसमें फिर चेतना का प्रयोग ही किसलिए किया जाए। क्योंकि ह या तो विरोधाभास-सा लगता है या इसमें यह दृष्टि है कि जो कुछ है, हमारी ही ोढ़ी है और पहले काव्य में चेतना ही नहीं थी ! इसलिए इसकी व्याख्या करना उचित । काव्य तो सदैव से मानव-चेतना का प्रतिबिम्ब है। जब हम उसे काव्य में ढूंढ़ते , तब वह अप्रयास ही मिल जाती है। प्रकृति-वर्णन, लोक-वर्णन, समाज-वर्णन, व्यक्ति-र्णन से लेकर अंतःप्रकृति तक के वर्णन में वह हमें प्राप्त होती है। प्रतीकों या पात्रों के ाध्यम से वह ध्वनित हुआ करती है। अतः जब हम उसीपर केन्द्रित होते हैं तब समग्र ृष्टि का मानव-मस्तिष्क में चेतन-रूप जो बिंबीकरण है, उसे नहीं देखते, वरन् उसे देखते ं जो मानवात्मा के उत्थान को प्रकट करनेवाली भावना है, जो उसे उदात्त बनाती है। ारिपाटी का सौन्दर्य पार करके जब लेखनी नयी स्फूर्ति प्रदान करने में समर्थ होती है, तब ुम उसे चेतना कहा करते हैं, क्योंकि बहुकृत्य-बहुकरणीय जीवन में कविता एक छन्द-ता ही नहीं, एक सौन्दर्य है जो जीवन के प्रत्येक कार्य-व्यापार में होती है। वह सौंदर्य ात कलाओं के विविध रूपों में अपनी अभिव्यक्ति पाता है, और लोकहित की कामना उसी सौन्दर्य के अंतर्गत आती है। इस प्रकार जब हम काव्य में चेतना देखते हैं तो व उस चेतना को नहीं देखते जो मानवीय विकास का परिणाम है, वरन् उसे देखते ो सर्वात्म को अपने में लीन करके उदात्त बनने की ओर प्रेरित करता है और सुंदरता अभिव्यक्ति को अपना सत्य और शिव बनाती है।

नवचेतना की व्याख्या

प्रत्येक युग अपने साथ कुछ परिवर्तन लाता है। आदिकवि वाल्मीकि वास्तव में दकवि नहीं थे। उनसे पहले उपनिषदों और उनसे भी पहले वेदों के कवि थे। किन्तु भारत-युग के अंत में जब लोक-काव्य के रूप में गेय महाभारत में लोक-गाथाएं संबद्ध तब वाल्मीकि रामायण की पुरानी कथा में भी नये संवर्द्धन प्रारंभ हुए और क्योंकि

उसमें मानव को प्रथम बार प्रतिष्ठित किया गया, जिससे लोक में नयी चेतना आई, त
उसे आदिकाव्य कहा गया। यह 'नर राम' देवताओं से जीत चुका था। तो यह नव
चेतना का ही उदाहरण है। महाभारत ग्रंथ यद्यपि पुराना है, और वर्तमान वाल्मी
रामायण का रूप परवर्ती है, किन्तु रामकथा का युग महाभारत-युग से प्राचीन है।
सकता है कि अपने मूल रूप में वाल्मीकि रामायण का छोटा-सा कलेवर महाभारत का
के रूपों से पुराना ही हो। उस दृष्टि से यह प्रथम नर-काव्य था। अतः इसे आदिका
कहने का यह भी कारण हो सकता है। तो नवचेतना काव्य में प्रतिष्ठित सत्य, शिव और
सुन्दर को नया रूप देने का ही नाम है। परिवर्तन का नाम 'नया' है, न कि पुराने से
हेय या निंदनीय समझना। एक समय आता है जब पुराने की उपादेयता इसलिए ने
जाती है कि उसके मानदण्डों से नये युग की समस्याओं का हल नहीं हो पाता। युग के
के साधन बदलते रहते हैं। पूर्वजों की देहलीज को लांघकर उत्तराधिकारी नये भवन
निर्माण करता है। इसलिए नयेपन की मांग यह तो स्वीकार करती है कि पुराने
लकीर पीटते रहने से उसका काम नहीं चलता, परन्तु वह यह नहीं कहती कि पुराने
सब व्यर्थ है, उसे तिरस्कृत करना चाहिए। यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि
'नया' 'पुराने' की तब निंदा भी करता है, जब 'पुराना' उसे 'नया' बनने में रोकता था।
उसके रास्ते में बाधाएं उपस्थित करता है। वह बाधाओं को नहीं चाहता, क्योंकि
परिवर्तित परिस्थिति में नये मूल्यांकन स्थापित करने की चेष्टा करता है। कालिद
इसीलिए कहा है कि पुराना होने से ही सब कुछ अच्छा नहीं हो जाता, न नया ही
ही ऐसा या इसके विपरीत होता है। मूर्ख तो परम्परा पकड़े चलता है; जबकि बुद्धि
दोनों में से सोच-समझकर रास्ता निकालता है और सारतत्त्व को ग्रहण करता है।

परंपरा से उसका तादात्म्य

एक बार एक चीनी और एक भारतीय में विवाद हो गया। भारतीय ने कहा, "तुम्हारे देश में एक-दो महान उपदेशक हुए हैं—कन्फ्यूशियस और हमारे यहां कृष्ण, बुद्ध, महावीर, नानक, कबीर आदि असंख्य हुए हैं।" यह सुनकर ने कहा, "भाई, यह गर्व करने की बात नहीं, इसपर तो तुम्हें लज्जित होना चा भारतीय ने पूछा, "ऐसा क्यों?" उसने कहा, "देखो! बार-बार गुरुओं के आवश्यकता उन्हें पड़ती है, जिनका पतन शीघ्र ही फिर-फिर हो जाता है। हमारे अच्छा रास्ता एक बार बता दिया गया तो लोग उसपर चलते रहे। अन्धी भेड़ तरह भटके नहीं। तुम्हारे यहां इतनी भटकन है कि परमात्मा को तुम्हें बुद्धि दे बार-बार गुरुओं को भेजना पड़ता है।" यह सुनकर भारतीय का गर्व खण्डित हो

तो मैंने इस कथा को इसलिए सुनाया है कि समाज में बार-बार जब पतन ही है तब परिवर्तन आता है। चीन में कम सुधारक होने का अर्थ है, वहां विद्रोह

ति के
लिए
संबंध
स्थान
है—
ति-
समेट
में जो
थ ही
प्रयत्न
ाथ
हारा में

हुआ और भारत में अधिक होने का तात्पर्य है कि यहां विद्रोह अधिक हुआ। परिवर्तन की अधिक मांग रही। नया समाज बार-बार बनाने की चेष्टा हुई। मानवीय मूल्यों को बार-बार पुनरांकित करने का यत्न हुआ। यह किसलिए ? इसलिए कि यहां मानववादी विचारधारा अधिक फैली, क्योंकि यहां समाज की व्यवस्था व्यवहार में बड़ी ही असमता पर स्थापित रही। परन्तु प्रत्येक युग में हम परिवर्तन देखते हुए भी, उसका अपने से पुराने युग से एक क्रमशः विकास देखते हैं। राजनीतिक स्वतंत्रता या दासता से चेतना की स्वतंत्रता या दासता नहीं मिलती। जब तुलसी-सूर का युग था, तब भारत मुगल साम्राज्य के नीचे बुरी तरह कुचला पड़ा था, किन्तु कवि-चेतना उतनी ही उद्दाम-खर थी। जब बिहारी-देव के युग में मुगलों का वैभव भारतीय जनता पर इतना भयाह नहीं रहा था, तब कवि-चेतना उतनी प्रखर नहीं थी। जितना दुःख होता है, चेतना ाना ही निखार लाती है। दासता के मध्यकालीन आठ सौ वर्षों में भक्ति के रूप में स मानववाद को भारत में प्रतिध्वनित कर दिया गया, वह पहले के युगों में इतना ण्ड नहीं था, क्योंकि समाज तब इतना जकड़बद्ध कुरीतिपूर्ण नहीं था जितना बाद ो गया। इस तरह हम देखते हैं कि 'नये' का 'पुराने' से जो संबंध होता है वह 'भावना' ही अधिक होता है।

उसका स्थायित्व और सार्वजनीन सत्य

तब प्रश्न यह उठता है कि युग तो बदलते ही रहते हैं, फिर साहित्य का स्थायित्व सार्वजनीन सत्य क्या है ? मानव-समाज के बाह्य परिवर्तनों की भांति मनुष्य ाव-जगत् में उतना परिवर्तन नहीं होता, क्योंकि वह मूलतः अपनी प्रवृत्तियों की नींव ी खड़ा होता है। अतः 'भाव' का स्थायित्व अन्य वस्तुओं की अपेक्षा कहीं अधिक ो साहित्य 'भाव' से सम्बन्ध रखता है, वह किसी भी वस्तु-विषय या रूप को लेकर थायी तत्त्व अपने भीतर अधिक रखता है। मैंने इसी दृष्टि से नये काव्य को देखा रा उद्देश्य केवल उसका परिचय देना ही नहीं था, वरन् उसकी उपलब्धियों को भी के योग्य जानकर सामने लाना था, उसकी सुन्दरता को प्रकट करना था।

युग के प्रश्न बदल जाते हैं, मानव अपनी पीढ़ी दर पीढ़ी चलती सांस्कृतिक पर-में उस एकसूत्र चेतना को देखता है, जिसमें मानव का उदात्त रूप, उसका सौन्दर्य ा चला जाता हुआ दिखाई देता है। यह मानव का भावपक्ष ही है। उसका यथातथ करण अपने में कोई विशेषता नहीं रखता। वह तो उसको चाहता है जो उसे आगे य दिखाए, उसके सामने पथ को चौड़ा करता चला जाए। नये युग में इस कार्य की जो प्रयत्न हुआ है, वही हमने यहां अपने विवेचन का विषय बनाया है। इसमें कितना ानीन और सार्वकालिक है, वह पाठकों के समक्ष स्पष्ट रखा गया है, और वे पढ़कर न सकते हैं कि वे इसमें से कितना इस योग्य पाते हैं। इस दृष्टि से मैं समझता हूं कि

नया काव्य हमें अधीर होने की कोई दुश्चिंता प्रदान नहीं करता। 'प्रतीक' पात्र आए हैं नयी समस्याओं के कारण जबकि 'लघुत्व' छोड़कर हम 'व्यापकत्व' की ओर बढ़े हैं। परंतु अभी मैं समझता हूं कि वह युग आने को है जब 'मनु और श्रद्धा' जैसे मानवीय प्रतीकों के बाद वे पात्र आएंगे जो कि प्रतीकों को अपने भीतर समेट लेने की क्षमता रखेंगे। सरस्वती के ये वरद पुत्र उसीकी चेष्टा में रत रहेंगे तो अवश्य ही 'युगवाणी' का सच्चा प्रतिध्वनित्व करके 'युग युग की वाणी' बन जाएंगे।

यही सार्वभौम सत्य आज का कवि सृष्टि और मानव के उस तादात्म्य में खोज रहा है, जिसमें उसे एक नये सत्य का स्वरूप प्राप्त हो सके। स्थायी साहित्य के लिए जि जीवन-दर्शन और व्याख्या की आवश्यकता है, वह उसकी खोज में निरत हो गया है। मैं नये काव्य के बहुमुखी व्यक्तित्व को एकरूप में देखा है, और एकरूप को बहुव्यक्तित्व माध्यम से देखने की चेष्टा की है।

वस्तु और मनुष्य

वस्तु और मनुष्य-संबंध आज का नहीं, तब का है जब मनुष्य में सभ्यता का भी उ नहीं हुआ था। प्रकृति में ही मनुष्य ने अपनी आंखें खोली थीं। वह प्रारम्भ में जब क राओं में भी रहना नहीं जानता था, तब भी प्रकृति ही ने उसे चारों ओर से घेर रखा वस्तुतः प्रकृति ही उसकी शिक्षक बनकर रही है। प्रारम्भ से लेकर अब तक मनुष्य प्र को ही समझने का प्रयत्न करता रहा है।

प्रारम्भ का जीवन अत्यन्त कठिन था। इसीलिए मनुष्य ने देखा कि उसकी प्रकृति का ही एक कार्य-व्यापार थी। अतः पशुओं और जन्तुओं से लड़ने के लिए समाज का निर्माण किया। मनुष्य का समूह में रहना इसका प्रमाण है कि उसने यूथ- का आदर्श अपने से पूर्ववर्ती पशुओं से प्राप्त किया। जीवित रहने की इच्छा प्रकृ महान क्रोड में पलती है और इसलिए उसके संहारक रूप से मनुष्य ने संघर्ष करने वे अपने यूथ-जीवन को निरन्तर विकसित किया।

सृजन, पालन और संहार—प्रकृति के ये तीन रूप हैं, जिनसे मनुष्य का है। मनुष्य ने उसके इन तीनों रूपों को परखा है और उन्हें अपने जीवन में उचित दिया है। यही कारण है कि उसने जिन तीन देवताओं के रूप में त्रिमूर्ति स्थापित की ब्रह्मा, विष्णु और महेश कहकर जिन्हें पुकारा है, उनके अन्य ऐतिहासिक कारणों के रिक्त एक यह भी मुख्य कारण है कि उन्होंने प्रकृति के समस्त रूप को अपने भीतर लिया है। प्रारम्भ की टॉटम अवस्था से प्रकृति की शक्तियों को इन्द्र आदि के रूप मनुष्य ने अवगाहना की है वह भी अपने जीवन से ही उसका तादात्म्य बैठाने का किया है। हमारे साहित्य के आदिम स्वरों में हमें प्रकृति के प्रति एक भय और स एक आस्था के भी दर्शन होते हैं। इन दोनों ने ही क्रमशः हमारे साहित्य की परम्

विभिन्न रूपों में विकास किया है।

प्रकृति मनुष्य के इतने पास है कि उसने उसके मन के पक्ष को छुआ है, तभी उसे निरन्तर उसके काव्य में स्थान मिलता रहा है।

प्रकृति के काव्य में रूप और साधर्म्य का विकास

प्रकृति के काव्य में अनेक रूप हैं।

प्रकृति को पहले पक्ष में उपासना के आधार के स्वरूप में लिया गया। इसलिए हमें भक्ति के स्वरों में उसका दर्शन मिलता है। इसी पक्ष का दूसरा स्वर है भय, जिसके स्तरों में हमें प्रकृति का आतंक प्रदर्शित होता है। किन्तु कालावधि व्यतीत होने पर हम ज्यों-ज्यों प्रकृति को समझते गए और सभ्यता की ओर अग्रसर होते गए, हमारे दृष्टिकोण में परिवर्तन होता गया।

प्रकृति एक उद्दीपन करनेवाली वस्तु बनी। और उसके माध्यम से मनुष्य अपने राग-द्वेष को घटता-बढ़ता देखने लगा। इसमें स्मृति का हाथ काफी प्रबल हो उठा। वासनाजन्य विकारों ने इसमें अपना बहुत अधिक सान्निध्य देखा।

आलम्बन रूप में प्रकृति को देखना दूसरा दृष्टिकोण बना।

इन दो रूपों के अतिरिक्त भी प्रकृति के काव्य में स्वरूप प्रस्तुत हुए।

प्रकृति का स्वयं में भी सौन्दर्य होता है। महाभारत के प्रकृति-चित्रण में हमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनमें प्रकृति अपने-आपके ही लिए अत्यन्त प्रभावोत्पादक ढंग से चित्रित की गई है।

प्रकृति में अपने उपास्य को खोजना और ब्रह्मस्वरूप समझकर एकमात्र रहस्य के अन्तर्गत उसे रखकर देखना भी प्रकृति के चित्रण का एक रूप है। प्राचीन और मध्य-कालीन रहस्यवादियों का ऐसा ही दृष्टिकोण था। किन्तु अर्वाचीन काल में ब्रह्मरूप में तो कोई एकेश्वर नहीं माना गया, तथापि प्रकृति की महानता में अपनेको आत्मसात् करने की छायावादी कवियों ने चेष्टा की।

प्रकृति पलायन का भी केन्द्र-स्थल बनी। समाज की विषमता से ऊबे हुए मनुष्य ने प्रकृति की कमनीयता को ही अपने सामने रखा।

मध्यकाल में प्रकृति को उपदेशक के रूप में काव्य में चित्रित किया गया। यदि प्रत्यक्ष ऐसा नहीं किया गया तो प्रकृति के गुणों को तुलनात्मक रूप में मनुष्य के चरित्र से मिलाकर प्रस्तुत किया गया। यह प्रवृत्ति संतों और भक्त कवियों में हमें मिलती है।

किन्तु प्रकृति का एक और रूप रहा है, अप्रस्तुत का मूर्तीकरण। इस रूप में प्रकृति अपने-आपमें इतना प्रभाव नहीं रखती, जितना अपने आधार की उपमा या छवि-विधान बनने में सार्थकता दिखलाती है।

समाज की रूढ़ियों में बन्द हो जाने पर भी साहित्य ने परम्परा और परिपाटी की

लीक पीटते समय भी प्रकृति की नितांत उपेक्षा नहीं की। उस समय भी हमें प्रकृति के उतने ही भाग के चित्र अवश्य मिल जाते हैं, जोकि राजमहलों में उजागर हो सकते थे।

आनन्द, शोक, रहस्य, विस्मय आदि अनेक प्रकार के भावों ने प्रकृति को प्रस्तुत किया है। किन्तु यह एक ऐसा विषय है, जो कभी भी पुराना नहीं पड़ा। जिस प्रकार मूलतः मनुष्य का भाव-पक्ष अभी तक न बदलने के बराबर ही बदल पाया है, उसी प्रकार प्रकृति का भी प्रभाव अभी तक प्रायः वही है।

अस्तित्व और सादृश्य

इसका कारण है कि हम यद्यपि अपनी-अपनी इकाई में व्यक्ति हैं, किंतु रहते समाज में हैं, और हमारी इकाई की सार्थकता तभी है, जब उसे समाज का आधार प्राप्त होता है। उसी प्रकार यह समाज भी प्रकृति से अपना सम्बन्ध रखता है।

वस्तुतः हमारे समाज के विभिन्न युगों में प्रकृति के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण रहे हैं।

वैदिककाल में प्रकृति को मानवीय शक्तियों के रूप में अवतरित कर लिया गया था। उपनिषद्-काल में उस व्यापकता को देखा गया जिसमें मनुष्य से परे की सार्वकालिक सर्वक्षमता प्रकृति की मूलात्मा बन गई। उसके उपरान्त बौद्ध-जैनकाल में प्रकृति का उद्दीपन-पक्ष संयम के दमन में दबा देने की चेष्टा की गई। उसके परवर्ती युगों में प्रकृति ने अनेक घात-प्रतिघात सहे हैं। ब्राह्मण और वैष्णव चिंतन ने प्रकृति को लावण्यमय ही अधिक माना है।

यदि बाहरी भेदों पर ध्यान न देकर देखा जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि मूलतः प्रकृति का जो दृष्टिकोण भारत में रहा है, यूरोप भी उससे बहुत दूर नहीं रहा है। यह और बात है कि विभिन्न युगों की विभिन्न विचारधाराओं का अलग-अलग प्रभाव पड़ता रहा है।

प्रकृति वास्तव में समाज का एक दृढ़ आधार है, और उसके बिना वह मानो अपने को अनस्तित्व में पड़ा हुआ अनुभव करता है। यही कारण है कि प्रकृति को मनुष्य-समाज ने अपने से अभिन्न ही स्वीकार किया है।

मनुष्य की बाह्य परिधियां

मनुष्य प्रकृति का अंग है। जिस प्रकार पशु, पक्षी, आकाश और पृथ्वी इत्यादि प्रकृति के अंग हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी है। मनुष्य विकास-क्रम में वैज्ञानिकों के मतानुसार पृथ्वी पर बहुत बाद में आया है। उसने इसी प्रकृति में अपना आवास बनाया है, और यद्यपि उसका अहं सदैव यही कहता रहा है, कि वह अन्यों की अपेक्षा उच्चस्तर का प्राणी है, तथापि वह प्रकृति के बहुगुणात्मक परिवर्तनों में से ही एक है। प्रकृति इतनी गुणवती है कि मूलतः मनुष्य का उच्चस्तरीय प्राणी होना भी उसीके एक गुण का पर्याय है।

इसके अतिरिक्त सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि अंततः मनुष्य की भी एक प्रकृति है। क्षुधा, पिपासा, काम, प्रजनन और मृत्यु उसके वे काम हैं जिनके प्रति वह अपने को विवश पाता। है किंतु यह तो प्राणिमात्र के धर्म हैं अतः उनको ही अंत नहीं समझना चाहिए। मनुष्य में एक और भी पक्ष है। वह उसका आन्तरिक पक्ष है। जो उसका प्रवृत्ति-पक्ष है, वह तो सर्वसाधारण है, किंतु वह पक्ष जिसमें उसकी सुख-दुःख की अनुभूति है, प्राणि-जगत् में उसकी तुलना नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से जबकि अन्य प्राणी प्रकृति के अंगमात्र हैं, मनुष्य ऐसा अंग है, जो अपने अंगत्व को पहचानता भी है और निरंतर यह भी सोचता है कि ऐसा क्यों है? वैसा क्यों है? यह एक विचित्र बात है कि पूर्ण का अंग अपने को पूर्ण समझकर, वस्तु के भीतर होते हुए भी, उससे अलगाव अनुभव करके, फिर उससे सामीप्य का अनुभव करता है।

यही मनुष्य का भाव-पक्ष है। इस भाव-पक्ष का आधार उसकी प्रवृत्तियों पर निर्भर है। योगी लोग अपनी प्रवृत्ति पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे लोगों को लोक में असाधारण माना गया है। इसलिए भरत मुनि ने योग-पक्ष को काव्य के अंतर्गत नहीं माना है, क्योंकि उसमें सुख-दुःख की सहज और सर्वसाधारण की सी अनुभूति नहीं होती। लोक में द्वेष और राग दोनों ही मनुष्य का संचालन करते हैं। यद्यपि प्रवृत्ति-रूप में यह सब मानव में विद्यमान है, किंतु उसके दमन की जगह, उसका उदात्तीकरण ही काव्य का मुख्य कार्य माना गया है। एक दृष्टि से काव्य का उद्देश्य और योग का उद्देश्य समान है, परंतु एक में भावात्मक दृष्टिकोण को अपनाया गया है, जबकि दूसरे में अभावात्मक ढंग को अपनाकर प्रकृति के कुछ अंश को अस्वीकार कर दिया गया है। योगी होने पर भी मनुष्य क्षुधा और पिपासा का तो निराकरण करता ही है।

मानव-धर्म और जिजीविषा

प्रकृति को जीतना ही मनुष्य का कार्य रहा है।

आदिम मानव ने जब गुहा ढूंढ़ ली थी और वर्षा में वहां बैठ गया था, तब यद्यपि वह मेघ देवता से डरता रहा, तथापि उसने एक प्रकार से अपने को बचाकर, प्रकृति पर जीत प्राप्त कर ली थी। अग्नि का प्रयोग सीखकर उसने अपनी सभ्यता को आगे बढ़ाया। अग्नि की कथा अनेक प्राचीन साहित्यों में भी इसीलिए प्राप्त होती है। यह एक द्वन्द्व है कि मनुष्य ने अंग होकर अंगी को अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा की है। प्राचीन और मध्यकाल में मनुष्य की सभ्य जातियों का प्रायः विश्वास यह था कि पृथ्वी ही सृष्टि का केन्द्र थी और मनुष्य के लिए ही यह सारी रचना हुई थी। किंतु विज्ञान के विकास ने उसकी इस धारणा को तोड़ दिया। इससे यद्यपि मनुष्य ने अपनी निरर्थकता और लघुता के नये दृष्टिकोण अपनाए, परन्तु उसमें जीवित रहने की इच्छा ने नये प्रकार की प्रतिस्पर्धा भर दी। इसका दूसरा फल यह भी हुआ कि

उसकी बहुत-सी कोमल कल्पनाएं टूट गईं और उनका स्थान एक कटुता ने ले लिया। इस कटुता के फलस्वरूप प्रकृति के प्रति जो आस्था पहले मनुष्य में थी वह संदेह और भय के रूप में बढ़ती गई।

आधुनिक मानव ने विज्ञान की सहायता से यद्यपि प्रकृति की अनेक रूपों में व्याख्या की है, फिर भी वह सब मनुष्य का ही दृष्टिकोण है, और यह नहीं मान लेना चाहिए कि वही सब अंतिम सत्य है। प्रकृति का कार्य-व्यापार महत् है और मनुष्य के साधन अभी इतने अपरिपक्व हैं कि वह उन्हें सहज समझ भी नहीं सकता। परन्तु इस संघर्ष ने उसके सामने यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रकृति की शक्तियां एक नियमन से सब कार्य करती हैं और मनुष्य जो परिवर्तन लाकर अपने को जीवित रखता है, वह वस्तुतः अभी तक बहुत ही सतही है। पृथ्वी की लघुता का ज्ञान वास्तव में मनुष्य के महत्तर दृष्टिकोण का जागरण है और इसीलिए आज का कवि अभी तक उस विराट से वैसा तादात्म्य नहीं कर पाया है, जैसाकि पुराने कवि ने अपनी लघुता से कर लिया था। फिर एक बात यह भी है कि लघुता के कारण उस समय मनुष्य ही सबका केन्द्र बन गया था। यही बात है कि वह लघुता भी हमें अपनी प्रतीत होती है, जबकि यह विराट तत्त्व हमें अपने में विस्मय-बोध के अतिरिक्त और कुछ प्रतीत नहीं होता, क्योंकि प्रवृत्ति-पक्ष अभी तक उससे मेल नहीं खा सका है।

सहज और भाव-पक्ष

विकास के दो पक्ष हैं।

बाह्य पक्ष में मनुष्य की सभ्यता है, जबकि आंतरिक पक्ष में उसकी संस्कृति है। सभ्यता मनुष्य-निर्मित वस्तुओं का लेखा-जोखा है, और संस्कृति उसके हृदय-पक्ष का विवेक-पक्ष से वह सामंजस्य है, जिसमें नैतिकता बहुजनहिताय होकर विराजती है और उसकी सुंदरता को अधिक से अधिक उभारकर बाहर लाने की चेष्टा करती है। इसी दूसरी बात ने प्राचीन काल में उन वार्ताओं और कथाओं को जन्म दिया था, जिसमें उसको पशु, पक्षी और वृक्ष भी बात करते हुए मिलते थे। सभ्यता ने नीरस व्याख्या की है, संस्कृति ने उस बहुरूप का एकात्म ढूंढ़ने का सदैव ही प्रयत्न किया है, और इसीलिए व्यक्ति के विकास को भारत में आवश्यक माना गया है।

आत्मिक पक्ष यद्यपि त्याग-पक्ष में भारतीय जीवन में अधिक स्तुत्य माना गया है, परंतु उसे नकारात्मक नहीं स्वीकार किया गया। उसे सकर्मक रूप से तभी श्लाघ्य माना गया है जब उसमें मनुष्य-मात्र को आन्दोलित करनेवाले भावों के साथ पाया गया है।

प्रवृत्ति और विवेक, दोनों ही भाव-पक्ष में सन्निहित होते हैं। मनुष्य अनेक कार्य करता है, किन्तु उसे उनके साथ ही सुख और संतोष की भी आवश्यकता होती है। इसीको भाव-पक्ष से प्रकृति का तादात्म्य कहना चाहिए, क्योंकि उसीमें मनुष्य तृप्ति का

अनुभव करता है।

और आज भी जब हम विज्ञान की बात करते हैं तब वहां प्रकृति से केवल प्रतिस्पर्धा दिखाई देती है। जबकि मनुष्य चाहता है सुंदरता।

सुंदरता अपने-आपमें कुछ भी नहीं है, वह तो प्रकृति के कार्य-व्यापारों का ही स्वरूप-भेद है। उसीको हमने बाहर से भीतर तक उतार लाने की चेष्टा की है, अपनी लघुता में उस विराट तत्त्व को समेटकर। प्राणी में सुंदरता की परख समान रूप से नहीं होती। मयूर मेघ को देखकर नाचता है, जिसे देखकर लगता है कि उसको उमंग आती है जब वह मेघ को देखता है। परंतु यह स्वभावजन्य भी माना जा सकता है। मनुष्य में सुंदरता की अनुभूति बहुत अधिक होती है, यद्यपि सब मनुष्यों में यह भावना समान रूप से नहीं पाई जाती। बहुत-से लोगों की सुंदरता बहुत ही स्थूल होती है, जबकि उसकी अतिसूक्ष्मता की ओर संस्कृति निरंतर प्रेरित करती रही है।

रहस्य-भावना और व्याख्या-केन्द्र

आदिम रहस्य-भावना में प्रकृति में भय था। आज भी विज्ञान ने भय को जागरित किया है। तब अज्ञात का भय था, अब अविश्वास का भय है। तब मनुष्य समझता था कि उसके पाप-पुण्य का प्रकृति की शक्तियों से सीधा सम्पर्क है और अब वह यह समझता है कि प्रकृति उसे निरीह समझती है। विवेक ने उसे बार-बार जागरित किया है कि वह अपने को इतना अधिक महत्त्व न दे कि वह अपने को ही सबका केन्द्र समझे। असल में मनुष्य का अहं यही चाहता है कि सबपर छा जाए। वह यह स्वीकार नहीं करना चाहता कि वह अपनी सत्ता का अर्थ नहीं समझता।

विवेक के विकास द्वारा मनुष्य का सौहार्द एक ओर जहां प्रकृति के प्रति घटा है, वहां दूसरी ओर उसमें तर्क-प्रवृत्ति अधिक बढ़ गई है। वह अंधविश्वास से केवल आंखों-देखा, या परम्परा से आया सत्य स्वीकार नहीं करना चाहता। वह सहज को भी अपने सम्बन्ध में सदैव असाधारण करके देखने का आदी हो गया है। ज्यों-ज्यों वह प्रकृति की व्याख्या करता जा रहा है, त्यों-त्यों उसका अहं भी बढ़ता जा रहा है। किन्तु अहंकार प्राणि-विकास का ही एक गुण है। वह प्राणि-मात्र में है। अहं, अर्थात् अपने अलगपन की अनुभूति होना, कीट-पतंगों में भी है, तभी मृत्यु से वे भी डरते हैं। यह प्रवृत्त्यात्मक सत्य है। प्राणी ज्यों-ज्यों विकसित होता जाता है, त्यों-त्यों उसमें अपने को जीवित रखने की, आनंद मनाने की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है।

और अब विज्ञान द्वारा हमने देखा है कि अहं का यह विकास जिस रूप में हुआ है वह एक सहज प्रक्रिया है। मनुष्य ने अब उसकी कुछ झलक-भर पाई है। अभी भी मनुष्य में स्वप्न-पक्ष की एक प्रकृति है, जो वह स्वयं समझ नहीं पाया है।

पुराने लोगों ने इसी 'अपनेपन' को अधिक से अधिक समझने की चेष्टा की थी।

किन्तु प्रकृति की खोज का पक्ष उसके विवेक का पक्ष-मात्र रह सका है। उसने उसके हृदय को नहीं हिलाया। किन्तु जब तक हृदय-पक्ष जागरित नहीं होता, तब तक मनुष्य को तृप्ति नहीं होती, यह हम पहले ही व्याख्या कर चुके हैं। आज का मनुष्य दुबिधा में है, क्योंकि उसके मानदण्ड तो बदल गए हैं, किन्तु उसकी एप्रोच अभी तक नहीं बदल पाई है। इस द्वन्द्व में ही उसने काव्य में अपने लिए नये प्रतीक ढूंढ़ लेने की चेष्टा की है।

नये प्रतीक

नये युग ने प्रकृति को नये प्रतीकों में लिया है। आज भटकन का अंत नहीं है। मनुष्य क्या किसी बड़ी योजना का माध्यममात्र है? पहले ही भारत के कितने ही दार्शनिकों ने इसकी कल्पना कर ली थी। इस प्रकृति को चला कौन रहा है, और यह सब है किसके लिए, इन्हीं प्रश्नों को लेकर अनेकानेक कल्पनाएं प्रत्येक धर्म में होती आई हैं, लेकिन वे मनुष्य की कल्पना-मात्र हैं। जिसे मनुष्य आज तक अपनी चरम सफलता, कर्मजाल से मुक्ति, स्वरूप-स्थिति, कैवल्य तथा निर्वाण आदि समझता रहा है, वह प्रकृति में सुख की इच्छामात्र है। मनुष्य अंततः प्रकृति के अंतर्गत है। सांसारिक अपने अभावों के कारण कुछ अधिक क्लेश उठाता है, लेकिन वह मात्रा का भेद है, गुण का नहीं। आत्मा की आवागमन से मुक्ति, कर्म से मुक्ति, लय और मोक्ष, मनुष्य की प्रकृति-विजय के पुराने प्रमाण थे। ब्रह्माण्ड की सीमा, उसके रहस्य अभी भी अज्ञात पड़े हैं। मनुष्य क्या 'निमित्त-मात्र' है? यह प्रकृति से मनुष्य का नया सम्बन्ध है।

लघु मानवी संसार में विराट संसार प्रतिबिम्बित होता है। पुराना मनुष्य इसे दूसरे ही ढंग से सोचता था। आज भी मनुष्य यही जानना चाहता है कि इस जीवन का तात्पर्य क्या है? क्या उसके जीवन में वह स्थिति आ सकती है, जब वह किसी योजना का माध्यम होते हुए भी, इस योजना में अपने रोल को जान ले और अकर्मक रहता हुआ भी सकर्मक हो जाए? प्राचीन जादू से आज तक के विज्ञान की यही दौड़ रही है और देखा जाए तो मनुष्य का अब तक का ज्ञान महान सृष्टि के चक्र में अपना विशेष स्थान अभी तक नहीं बना पाया है। अभी तो वह पथ में ही है।

और विराट की दृष्टि ने पूछा है—ब्रह्म, प्रकृति उसका नियम आदि वाक्कौतूहल क्या समाप्त होने पर भी नये रूपों में नहीं आ गया? इस भटकन का अंत कहां है? उससे पहले तो मनुष्य अन्य पशु और कीड़े-मकोड़े आदि जीवित प्राणियों की तरह, किस भांति इस धरती पर सुखी रहा जाए, इसीके साधन ढूंढ़ता रहता है और उसे ही चरम लक्ष्य मानकर अपने को एक भ्रम में डाले रखता है। किन्तु इन प्रतीकों के भीतर एक अंतःसलिला है। वह है समन्वय की। वह अब पहले से भी अधिक तादात्म्य चाहता है प्रकृति से। उसे आज भी वही सब सुन्दर लगता है जो उसके पूर्वजों को लगता था। उसके उपमान बदल गए हैं, वह नयी-नयी चित्र-छवियां (images) पैदा करता है, परन्तु क्यों?

इसीलिए कि उसी अच्छे लगनेवाले प्रकृति के रूप को अपने भीतर भर-भर लेना चाहता है। अंततोगत्वा उसने प्रकृति को उसके पुराने सम्बन्ध में ही ग्रहण करने की चेष्टा की है।

नया दृष्टिकोण

यही आज का दृष्टिकोण है, जिसे हम नया कह सकते हैं।

वैदिक कवि प्रकृति की शक्तियों को मानव-रूप में अपना काम करने को बुलाता था और अपने पूर्व पुरुषों की आत्माओं को प्रकृति की शक्ति के पास कर देता था।

उपनिषद्-कालीन कवि ने प्रकृति के रम्य और भयानक रूप को 'साम' रूप के हिंकार में देखा और चाहा था कि वह एकस्वरता को प्रतिष्ठापित कर सके।

महाकाव्य-युग ने उसके स्थूल सौन्दर्य को जगा दिया और मानवी सौन्दर्य को समान महत्त्व दिया।

संस्कृत क्लासिकल युग ने इस सौन्दर्य-विवेचना को स्थूल के साथ रूपक जोड़कर सूक्ष्मतम सौन्दर्य में परिवर्तित कर देने का प्रयत्न किया और मानवीय नैतिक मानदण्ड भी मिलाकर उससे उदात्त का रूप दिया।

संस्कृत का परवर्ती युग दरबारी काव्य में डूबने लगा। तब प्रकृति की वासना ने ही अधिक बल पकड़ा क्योंकि स्थूल ही उस समय दृष्टि को पकड़ सका।

सामन्तीय काव्य ने हिन्दी में अपनी उसी परम्परा को विकसित किया। सूफी कवियों ने प्रकृति में अपने रहस्य को प्रतिष्ठापित करके नये मानवीय मूल्य लाने का यत्न किया।

सन्त और भक्त कवि प्रकृति को मानव के सत् और असत् के संघर्ष में ही देखते रहे। उनके सामने विशुद्धतावाद भी था और यौन जीवन ने भी उन्हें शृंगार के क्षेत्र में प्रेरणा दी किन्तु वे नया कुछ नहीं कह सके।

रीति और रीतिमुक्त उत्तर मध्यकालीन कवि-समाज ने प्रकृति को विशेष महत्त्व ही नहीं दिया। सेनापति ने भाषा के सौन्दर्य में संस्कृत के भावों का पिष्टपेषण किया, किंतु बच यों गए कि हिन्दी में वह सब नया था।

उपादेयतावादी कवियों ने भी प्रकृति के रूप को केवल अपनी बात को पहुंचाने और परिपाटी के रूप में लिया। प्रकृति के प्रति आंखें खुलीं जब छायावादी कवियों ने नया जागरण लाकर प्रस्तुत किया। छायावादी कविगण ने प्रकृति के प्रति यूरोप से अवश्य प्रेरणा पाई किन्तु उनका दृष्टिकोण नया था, यद्यपि उसमें व्यक्तीकरण ने दुरूहता अवश्य उत्पन्न कर दी थी।

आज का कवि अपनी सारी परम्परा को जानता है और इसीलिए उसमें हम विविधता पाते हैं। यह विविधता संसार के किसी भी साहित्य के लिए श्रेयस्पूर्ण हो सकती है, क्योंकि इसमें प्रकृति अपने विभिन्न स्वरूपों में आकर अपने नये मूल्यों को प्रतिष्ठापित करती है।

—रांगेय राघव

सत्य, शिव और सुन्दर

आधुनिक काल का प्रारम्भ भारतेंदु हरिश्चंद्र से माना जाता है। द्विवेदी-युग और उसके उपरांत छायावादी युग तक को आलोचकों ने अधिकांश अध्ययन से अपने मनन का विषय बनाया है। जयशंकर 'प्रसाद', सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', महादेवी वर्मा छायावादी युग के प्रमुख और माने हुए कवि हैं। इनके उपरांत भी हिंदी में बहुत कविता लिखी गई है, किंतु उस कविता का कोई सहानुभूतिपूर्ण विवेचन नहीं हो सका है।

[१] हिंदी में आलोचक-वर्ग बहुधा अध्यापकों के वर्ग में से आया है, और इसलिए उन्हीं विषयों पर अधिकतर लिखा जाता रहा है, जोकि परीक्षा से संबंधित हों। काव्य तो दूर की बात है, हिंदी में उपन्यास अधिक जनप्रिय हैं और उन उपन्यासों की प्रवृत्तियों तक पर निरपेक्ष दृष्टि से नहीं लिखा गया है।

[२] आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद पुराने आलोचकों ने अधिकांश केवल पिष्टपेषण किया है। उन्होंने दोष अधिक निकाले हैं, आलोचक का मूल कर्तव्य नहीं निभाया है। और वह मूल कर्तव्य यह है कि आलोचक पाठक और लेखक के बीच की कड़ी है। दुर्भाग्य से हमारी शिक्षण-व्यवस्था में अध्यापकों के प्रभुत्व के कारण आलोचक होना लेखक को गिरा देने के पर्याय के रूप में ही साहित्य में प्रचलित हो गया है। आलोचक का असली कार्य लेखक के नवीन प्रयोगों, उसके अर्थों की महिमाओं को प्रकट करते हुए, उसकी कमियों को इस ढंग से दिखाना है कि लेखक और भी अच्छा लिख सके।

[३] उठते हुए आलोचक शीघ्र प्रसिद्ध हो जाने के लिए शाब्दिक चमत्कार दिखाकर विध्वंस में जुट जाते हैं और नये कवि को फिर भी कोई आशाप्रद साथी नहीं मिलता जो व्यक्ति या संस्था के परे, समस्त साहित्य को दृष्टि में रखकर, साहित्य की अभिवृद्धि के दृष्टिकोण से सहयोगी बन सके।

[४] वैज्ञानिक भौतिकवादी दर्शन और यूरोप के विभिन्न वादों ने हिंदी के आलोचकों का ज्ञान नई दिशा में बढ़ाया। पुराने आलोचक रस, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति और अलंकार में आलोचना समाप्त कर देते थे, उनके बाद आचार्य शुक्ल ने भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही दृष्टिकोणों को अपने सामने रखा। नये आलोचकों ने उसके

बाद यूरोप के विभिन्न वादों को ही जीवन का समस्त तथ्य बना लिया और आज प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, अस्तित्ववाद इत्यादि असंख्य वाद दिखाई देने लगे। यह सत्य है कि पश्चिम का कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा है, परन्तु यह सत्य नहीं है कि जिस दृष्टिकोण को लेकर वाद-मार्गीय आलोचना हो रही है, वह वस्तु-सत्य का भी ठीक ही विश्लेषण करती है। मार्क्सवाद, जिसका पर्याय वैज्ञानिक भौतिकवाद है, चिंतन और विश्लेषण के रूप में अवश्य नया है, किन्तु वह भारत में पहले भी मौजूद था, अर्थात् मार्क्सवाद जिन सामाजिक परिस्थितियों का विश्लेषण करता है, वे परिस्थितियां भारत में मार्क्स से भी पहले मौजूद थीं और यद्यपि वे ठीक यूरोप की भांति नहीं थीं, फिर भी वर्ग-संघर्ष मौजूद था और हमारा समाज मुक्ति के लिए संग्राम कर रहा था। पढ़े-लिखों के शाब्दिक चमत्कारों से मार्क्सवादी वस्तुस्थिति भारत में नहीं आई, वह तो यहां की जनता के संघर्षों में पहले से विद्यमान थी। उनका ठीक से विवेचन होना चाहिए था। परन्तु टुटपूंजिया वर्ग के चिंतकों ने उस मार्क्सवाद को अपना मानसिक ओज समझा और कुत्सित समाजशास्त्र का जन्म हुआ जिसने दायरे बांधे और साहित्य को ऐसा रूढ़ कर देने का प्रयत्न किया कि वह सम्पूर्ण जीवन का प्रतिनिधित्व कभी नहीं कर सके। एक ओर जब यह हो रहा था, दूसरी ओर पुराने 'कला कला के लिए' सिद्धांत से प्रभावित लोग भी थे। इन लोगों ने वर्ग-संघर्ष के ही सत्य को झुठा देना चाहा। एक ओर जहां कुत्सित समाजशास्त्री विवेचन ने कहा कि साहित्य जनता के लिए है, और उसका मूलाधार समाज-पक्ष है, तो वह यह भूल गया कि साहित्य का स्रष्टा सामाजिक प्राणी होते हुए भी व्यक्ति है और उसका अपना एक व्यक्तित्व है, और यह व्यक्ति-मेधा ही सर्जन करती है, तो दूसरी ओर 'कला कला के लिए' वालों ने कहा कि समाज कुछ है ही नहीं, व्यक्ति ही सब कुछ है, और व्यक्ति के खंडशः रूपों का अध्ययन प्रस्तुत करनेवाले वाद जो यूरोप से फ्रायडवाद, प्रकृतवाद, अस्तित्ववाद बन कर आए, उनमें वे अपने को ढांक लेने का प्रयत्न करने लगे। यह सब केवल आंशिक सत्य है कि उन वादों का हिन्दी पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है।

साहित्य में विभिन्न धाराएं काम करती हैं। हिन्दी में ही बहुत-सी धाराएं थीं। कबीर और जायसी का रहस्यवाद ही मूल रूप से छायावाद की भावभूमि का आधार था, और उसका हमारी संस्कृति में अपना स्थान बना लेने का मुख्य यही कारण था। यह सच है कि जब युग और परिस्थिति बदल जाती है तब उसके अनुसार ही अभिव्यक्ति का रूप, बाह्य और अंतस्थ, दोनों ही, बदल जाते हैं। आधुनिक 'कला कला के लिए' की पुकार करनेवाले मूलतः सौन्दर्य की व्याख्या न करते हुए, उसे ही पूर्ण निरपेक्ष और अनिर्वचनीय कहकर दरबारी युगीन संस्कृति को ही फिर से दुहराने की चेष्टा करते हैं।

रस[1]-सम्प्रदाय का जन्म सामंत-काल के विकासशील युग में हुआ था, अतः दास-प्रथा के आगे होने के कारण उसमें समाज का कल्याण करने की शक्ति थी। परन्तु सामन्त-काल के गतिरोधों और उच्चवर्गीय प्रभुत्व ने काव्य को, रस के विरोध में ध्वनि, रीति आदि के जाल में, अभिजात्य बंधनों में बांधने की चेष्टा की, और यद्यपि वे समाज को उतना पीछे तो नहीं हटा सके कि 'रस' की प्रगति को झुठा दें, परन्तु उन्होंने काव्य के बाह्य परिवेष्टन अवश्य दुरूह बना दिए।

आधुनिक काल के यूरोपीयवाद मध्यवर्गीय टुटपूंजियों की वर्ग-व्यवस्था में से जन्म ले सके हैं। उनमें आधुनिकता का फैशन है, और वे मूलतः सामंतीय काव्यशास्त्र के आगे नहीं ले जाते, बल्कि यों कहना उचित होगा कि सामंतीय काव्यशास्त्र जहां अपने दायरों के भीतर पूर्ण है, वहां ये आधुनिकवाद उतने भी पूर्ण नहीं हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इन्हें 'व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' में रखा था, किन्तु ये तो उतने में ही समाप्त नहीं हो जाते। छद्म वेश में ये 'रस' का पल्ला पकड़ते हैं। और यह इनका सबसे बड़ा खोखलापन है, क्योंकि सौन्दर्य के अनिर्वचनीय निरपेक्ष आनन्द की उच्च भावभूमि को तभी रस-सम्प्रदाय में उच्चतर समझा गया है, जब उसमें साधारणीकरण का माध्यम स्वीकार कर लिया गया है।

यौन प्रवृत्तियां जो 'हाल' से चली आती हैं और पूरे रीतिकाल में सामंतीय बन्धनों में रहीं, वे ही इन नये वादों में नये रूप लेकर उठ खड़ी हुई हैं।

इन समस्त अपरिपक्वताओं ने साहित्य पर घातक प्रहार किया है। यहां कवित्व को न देखकर, उसकी कविता को न देखकर, कविमात्र को ही देखा जाता रहा है। रहस्यवादियों द्वारा समादृत कविकुलगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर ही अनजाने में 'अचलायतन' लिख गए थे, जहां उन्होंने जीवन के कठोर सत्यों का वर्णन करते हुए सशस्त्र विद्रोह न्यायोचित बताया था। शेक्सपियर दरबारी-युगीन कवि था, किन्तु उसकी रचनाओं में मध्यवर्ग की उठती चेतना का प्रतीक दिखाई देता है। ताल्सताय ईसाई अहिंसावादी था, परन्तु लेनिन ने उसे क्रांति का दर्पण कहा है। प्रेमचन्द अहिंसावादी था, वर्गवाद उसमें समन्वयवाद का स्थान लेता है, किन्तु उसने किसानों की चेतना को उठाया और राष्ट्रीय आंदोलन को आगे बढ़ाया।

आज भी कवियों की वाणी को देखने की सबसे बड़ी आवश्यकता है, न कि उनके बाह्यबन्धनों, गुटों, पार्टियों, आदि को ही देखकर उन्हें छोड़ दिया जाए। आगे आपको इसके अनेक उदाहरण मिलेंगे, कि 'अरे, यह इसी व्यक्ति ने लिखा है!' ऐसे वाक्य तक आपके मुख से निकल जाएंगे।

[५] हमें एक ओर काव्य को वाद, व्यक्ति, देश, काल और वर्गभूमि के ऊपर उठ-

१. देखिए, 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड', ले० रांगेय राघव

कर देखना आवश्यक है तो दूसरी ओर यही हमारे काव्य-विश्लेषण के मूलाधार हैं। इस वाक्य को पढ़कर विभिन्न मतवाले प्रसन्न और रुष्ट हो उठेंगे जबकि यह एक सत्य है। देखने को यह नितान्त विरोधी भावों का संघट्ट जान पड़ता है, परन्तु यह कठोर और यथार्थ वस्तुस्थिति का ही परिचय है।

एक रसवादी, इसको पढ़कर पहले भाग से असंतुष्ट होगा, जो साधारणीकरण के सिद्धांत को रसवाद का मूलाधार मानता है। जो रसवाद की परवर्ती व्याख्याओं को मानता है, वह सौन्दर्य के निरपेक्षितावाद के सिद्धांत की पुष्टि जानकर पहले भाग से प्रसन्न होगा, और वाक्य के दूसरे भाग से इसी क्रम से उल्टा असर होगा। ध्वनि, वक्रोक्ति, अलंकार, रीति आदि का अनुयायी केवल पहले भाग को ही स्वीकार करेगा। प्रकृत-वादी जो प्रकृत जीवन का ही वर्णन चाहता है और नग्नता ही जिसकी शक्ति का स्रोत है वह पहला भाग स्वीकार करेगा। प्रयोगवादी, अस्तित्ववादी का भी यही हाल होगा, जबकि यथार्थवादी, और प्रगतिवादी इस वाक्य के दूसरे भाग को ही ठीक समझेगा। इस बात को अब मैं स्पष्ट कर दूं। कवि किसी काल-विशेष में, देश-विशेष में जन्म लेता है। वह किसी वर्ग-विशेष में पैदा होता है। और किसी 'मत', 'सिद्धांत' अथवा 'वाद'-विशेष का प्रभुत्व स्वीकार करके लिखता है ; यह हो सकता है कि वह 'वाद' का प्रत्यक्ष रूप से अनुसरण करे, या कोई 'वाद' अप्रत्यक्ष रूप में उसके काव्य से परिलक्षित हो। कवि व्यक्ति होता है और उसका व्यक्ति भी उसके काव्य में प्रकट होता है। अर्थात् देश, काल, वर्ग, वाद, और व्यक्ति—ये सब बातें प्रत्येक कवि में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में प्रकट होती हैं। किन्तु कवि इतने में ही सीमित नहीं हो जाता। देश, काल, वर्ग, वाद, और व्यक्ति—ये बातें कवि में आवश्यक रूप से सम्मति ही नहीं पातीं, असम्मति भी पाती हैं, अर्थात् वह आवश्यक रूप से अपने देश, काल, वर्ग, वाद और व्यक्ति के स्वार्थों को ही पोषित नहीं करता, वह विरोध में भी लिख सकता है। कोई देश आक्रांत हो, कोई वर्ग आक्रांत हो तो यह आवश्यक नहीं है कि उस आक्रांता देश का कवि आक्रांत देश की ओर से नहीं लिख सके। रूस में कुत्सित समाजशास्त्रियों ने ताल्सताय को अभिजात और कुलीन कहकर उसके साहित्य को भी अभिजात और कुलीन कह दिया था। यह उचित नहीं हुआ, क्योंकि जाने या अनजाने ताल्सताय ने अभिजात कुलों के समाज की जघन्यता का पर्दाफाश किया। राजभक्त मोलियर अपने नाटकों में उठते हुए व्यापारी मध्यवर्ग का मज़ाक उड़ाते-उड़ाते, अपने ही उपास्य सामंतीय समाज की जड़ें काट गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि जो मूलाधार हैं, वे कवि को पूर्ण रूप से बांध नहीं लेते। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि आधुनिक काव्य में जनता का पक्ष इतनी ज़ोरों से प्रकट करनेवाले कवि उस टुटपूंजिया वर्ग में से आते हैं जिसे 'ढुलमुल' वर्ग की संज्ञा दी गई है।

साहित्य का स्रष्टा व्यक्ति होता है और व्यक्ति के महत्त्व को साहित्य में राजनीति की भांति झुठाया नहीं जा सकता। व्यक्ति राजा होने पर भी दरिद्र के दुःख से दुःखी होता है। और कला के क्षेत्र में, अर्थात् सत्य के क्षेत्र में, कलाकार लिखते समय, चाह कर भी, अपने को रोक नहीं सकता, उसकी कला बोलती है, और कला क्योंकि अन्य पुरुष-ग्राह्य है अतः उत्तम पुरुष का समस्त बन्धन भी भाव-माध्यम को संकोच में बांध नहीं पाता। व्यक्ति मूल होता है, परन्तु काव्य का वृक्ष खड़ा होने पर, अपनी सत्य को परखने की तीक्ष्ण दृष्टि के सहारे से, अपनी डालें अपने-आप फैलाता है और जो फल उस वृक्ष में आते हैं, महान कलाकार निःसन्देह, उनके विषय में नहीं जानता। ऊपर दिए गए शेक्सपियर, और तालसताय के उदाहरण इसे स्पष्ट करने के लिए काफी हैं।

जिस प्रकार राजनीति में पार्टी के सदस्य अपने व्यक्तित्व को एक ध्येय में समर्पित करके सामूहिक नियोजन में कार्य करते हैं, उसी प्रकार लेखक नहीं कर सकता, क्योंकि लेखक की शैली, कल्पना, प्रतिभा, व्यक्तिगत वस्तु हैं, और वे सामूहिक नहीं हो सकतीं।

कवि-व्यक्तित्व जहां इन बातों में बंध नहीं सकता, वहां वह उच्छृंखल होने का अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि व्यक्ति की यह समस्त स्वतंत्रता सामूहिक जीवन के लिए है, और समूह के लिए ही कला एक माध्यम है जो जीवन को सुन्दर से सुन्दरतर बनाती है। यों दोनों एक-दूसरे पर आश्रित तथ्य हैं।

लेनिन ने साहित्य के लिए पुकार उठाई थी कि साहित्य को पार्टीज़न साहित्य होना चाहिए। लेनिन को विकृत करनेवाले लोग इसका यह अर्थ लगाते हैं कि वह पार्टी-नियमावली को ही साहित्य मानता था। यह बहुत बड़ा झूठ है। लेनिन स्वयं गोर्की से कहता था कि तालसताय से लिखना सीखो, और वह मायकोवस्की से पुश्किन को ऊंचा स्थान देता था। लेनिन का अर्थ था कि 'कला कला के लिए' वाले काव्य को दुरूह बनाते हैं, उसे जनता के लिए खींचकर लाओ और स्वतन्त्र करो। रूस की तत्कालीन परिस्थिति में सशस्त्र क्रांति की भूमि तैयार थी और वह नारा भी ठीक था। किन्तु फिर रूस में बदलती परिस्थितियों में भी उस नारे को किनारे की नाव की तरह इस्तेमाल किया गया और इलिया एहरेनबर्ग ने अब लेखकों की समस्या उठाई है जिसमें उसने स्वीकार किया है कि क्रांति के बाद के रूस में अभी महान साहित्य का सृजन नहीं हो सका है।[1]

असलियत यह है कि रूस के काव्यशास्त्र में साधारणीकरण के सिद्धांत का ज्ञान नहीं था। लेनिन ने अपने युग के अनुरूप उसीको स्थापित करने की चेष्टा की थी। उसकी गत्यात्मकता को न समझ सकने के कारण बाद के लेखकों ने विषय के साथ पूर्ण न्याय नहीं किया। भारत एक प्राचीन देश है और इसमें अधिक मत पैदा हुए, जिन्होंने काफी अव-

१. 'राइटर एण्ड हिज क्राफ्ट', इलिया एहरेनबर्ग।

काश प्राप्त करने के कारण धीरे-धीरे खूब विकास किया। इसीलिए हमें एक बड़ी विरासत प्राप्त हुई है और हम उसपर सहूलियत से विचार कर सकने की परम्परा पा सके हैं। हमें रूस की गलतियों से शिक्षा लेनी चाहिए, तभी हम अपने देश को रूस की भांति समृद्ध बना सकते हैं।

अतः हमारा वाक्य स्पष्ट हो जाता है कि कवि अपने देश, काल, वर्ग, व्यक्ति तथा वाद में रहकर भी उनसे पूर्णतया बंधा नहीं है, तथापि वह उन्हींमें है और उच्छृंखल भी नहीं हो सकता। यह तथ्य कोई समन्वयवादी नहीं है जो समाज को आगे बढ़ने से रोके या वर्गहीन समाज की स्थापना के सिद्धांत को काटता हो। इससे एक ऐतिहासिक न्याय का पालन होता है कि कवि को उसकी कविता के माध्यम से जांचना चाहिए। बहुत-से लोग जो अपने को प्रयोगवादी कहते हैं, वे वस्तुतः पुरानी बातों ही को और भी सड़े-गले ढंग से प्रस्तुत करते हैं। कुछ कवियों को शिकायत है कि उनको प्रगति के पथ पर नहीं माना जाता, और उनके शाश्वत सत्य के वर्णन को काव्य नहीं समझा जाता। ईमानदारी की बात तो यह है कि शाश्वत सत्य को वे नहीं जानते, न कोई जानता है। उनका कहना सत्य है कि केवल मज़दूर-किसान पर घिसी-घिसाई परिपाटी पर लिखना प्रगति नहीं है। परंतु उनका यह कहना सत्य नहीं है कि उन्हें वेदान्त के रहस्यवाद की छूट देने में ही प्रगति है। वेदान्त का वह रहस्यवाद जिसने समाज को शक्ति दी है, समाज की रूढ़ियों का विरोध किया है, जैसे विवेकानन्द ने किया था, वह तो सब ही प्रगति मानते हैं ; परन्तु जो रहस्य की अनुभूति, अप्रत्यक्ष के मूर्त विधान के बिना, व्यक्ति-वैचित्र्य के गर्तों में ले जाती है, और किसी भी प्रकार की सुन्दरता का बोध नहीं कराती, वह किस प्रकार प्रगति कहला सकती है यह समझ में आना दुष्कर ही है। कबीर जब 'हंसा' को 'मलकूत' और 'जबरूत' के परे ले जाता है तब उस वर्णन के दुरूह होने पर भी, जहां एक ओर उसमें विस्मय और कल्पना का आनन्द है, वहां दूसरी ओर उसमें एक उस दर्शन का सामाजिक सत्य भी है, जो हिन्दू और मुसलमानों के शाश्वत समझे जानेवाले देवी-देवताओं को छोटा करके प्रमाणित करता है कि सत्य इतने में ही सीमित नहीं हो जाता है। साधारण कोटि की कल्पना के पंख लगाकर नपे-तुले आकाश में जिनका पक्षी उड़ता है, और चक्कर लगाकर फटफटाता है, उनमें पिष्टपेषण के अतिरिक्त कुछ रह नहीं जाता। काव्य जहां समाज-सत्य को घोषित करता है, वहां वह अभिव्यक्ति में मनुष्य के माधुर्य भाव की श्री की अभिवृद्धि भी करता है। इसी अभिवृद्धि को प्रकारांतर से ऐंगिल्स कला की सांकेतिकता (Suggestiveness) कहता था, जो निश्चय ही 'ध्वनि' की ही सापेक्ष स्वीकृति है। विचारों का तादात्म्य नहीं होने पर भी जो कभी-कभी काव्य में आनन्द आता है वह इसी सांकेतिकता का आंशिक आनन्द है, जो कला का एक अंशमात्र है, संपूर्णता नहीं है। यदि नये कवि ने वहां कलम चलाई है जिसपर महाकवि बड़े ही अच्छे ढंग से लिख चुके हैं तो नया कवि

प्रायः उनके सामने दीनहीन लगता है। विचारों से भेद का प्रश्न नहीं उठता, उनका तो लेखन ही ऐसे विचारों में स्वयं दरिद्र है। लेकिन जहां नये कवियों ने अपनी मौलिकता दिखाई है, वहां उन्होंने श्रेष्ठ काव्य लिखा है।

[६] हम 'वाद' का विरोध इसलिए करते हैं कि हमें आधुनिक काल का कोई भी कवि ऐसा नहीं मिला जिसने एक वाद में बंधी हुई कविता लिखी हो। वाद हैं, परन्तु कोई कवि एक ही वाद में बद्ध कविता नहीं लिख सका है। अतः वाद-भूमि पर विवेचन करने से बहुत-से कवि परिधि के भीतर ही नहीं आते और हम वास्तविक मूल्यांकन करने से वंचित रह जाते हैं। हमें वाद की कसौटी बनाकर उनपर कवियों को फिट नहीं करना है, वरन् पहले कवियों को देखना चाहिए, तब उनका वर्गीकरण करना चाहिए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ही यह अवैज्ञानिक परिपाटी डाली थी। वे ऐसा वर्गीकरण कर गए हैं कि घनानन्द और रसखान जैसे कवि भी फुटकर कवियों में डाल दिए गए हैं। और किसी भी कवि को फुटकर कहते ही उसकी महत्ता अपने-आप कम हो जाती है।

इसीलिए आवश्यकता है एक व्यापक भूमि की। काव्य में 'वाद' की उतनी प्रमुखता नहीं होनी चाहिए, जितनी जीवन और उसके विभिन्न रूपों की।

यह संक्रांति-काल है। इसमें सब कुछ बदल रहा है और नये-नये दृष्टिकोण उपस्थित हो रहे हैं। बहुत-से कवि जो पलायनवादी समझे जाते है उन्होंने जीवन के बहुत सुंदर यथार्थ चित्रण किए हैं। अभी तक नये कवियों की निष्पक्ष आलोचना नहीं हुई है। जाने-माने रूप से कुछ दल-से बन गए हैं और उन्हीं-उन्हीं लोगों के दो-दो उद्धरण देकर नाम गिना दिए जाते हैं। और वस्तु-विषय या विचारधारा का साम्य ही उनके मूल्यांकन का आधार होता है, जबकि काव्य केवल विषय-वस्तु पर निर्भर नहीं होता। उसके लिए अन्य अनेक संबलों की आवश्यकता होती है, जो किसी भी वर्ण्य विषय को काव्य की संज्ञा दे सकें। आलोचकों की यह प्रवृत्ति हिन्दी के लिए दुर्भाग्यपूर्ण है। खेद है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रभृति सभी ऐसे आलोचक हैं, जो प्रायः असफल कवि हैं और इसीलिए ये लोग यदि एक सहज आक्रोश मन ही मन रखें तो कोई ऐसा आश्चर्य भी नहीं है। मैं यह बात व्यक्ति-मूलक संधान पर आश्रित नहीं करता, वरन् यह तथ्य यह प्रकट करता है कि इनमें वर्तमान के प्रति जो आस्था है, उसमें अध्यापकी लहजा है और वह इनके गौरव के लिए स्तुत्य नहीं है।

मैं यहां विस्तार से इस विषय पर नहीं लिखूंगा कि कविता क्या है ?[1] यहां इतना कह देना काफी है कि काव्य जीवन की सर्वांगीण स्थिति का चित्रण करनेवाली अनुभूतियों और भावों का वर्णन है। वह अपने युगानुरूप समाज की परिस्थितियों में जन्म लेता है, पलता है और अगले युग का निर्माण करता है। व्यक्ति की वे अनुभूतियां जो केवल उसी

१. विस्तार के लिए देखिए, 'काव्य-कला और शास्त्र', लेखक रांगेय राघव

तक सीमित रह जाती हैं और दूसरों के भावों को समान रूप से नहीं जगा पातीं, वे अपनी संकुचित सीमाओं के कारण सत्काव्य नहीं बन पातीं। काव्य व्यक्ति के लिए नहीं, समाज के लिए है। काव्य जितना सहज है, उतना ही श्रेष्ठ है। काव्य में केवल सुंदरता के पीछे जाना, और युग-सत्य का आधार न लेना, कभी सत्काव्य उत्पन्न नहीं करता, वह पुराने युग की कविता का चर्वित-चवण-मात्र प्रस्तुत करता है। काव्य की श्रेष्ठता लोक-मंगल पर आधारित है। लोक-मंगल एक भावना-मात्र नहीं, वह समाज के वास्तविक वर्ग-संघर्ष में जन-समाज और शोषित का पक्ष है। कविता किसी वर्ग-विशेष का ही चित्रण नहीं है। वर्गों की वर्णना में जीवन के रूपों को देखना काव्य है, और केवल उपदेशात्मकता या नीरस प्रचारमात्र काव्य नहीं है। काव्य में कोई तथ्य शाश्वत सत्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि भाव, जो काव्य के प्रभाव को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक ले जाने का माध्यम है, वह भी बदलता रहता है।[1] काव्य में जीवन प्रस्तुत होना चाहिए, न कि जीवन से दूर रहनेवाला पलायन, या उपदेशात्मकता। काव्य 'कला कला के लिए' नहीं है। काव्य केवल प्रचार नहीं है। ध्वनि, रीति, अलंकार, वक्रोक्ति आदि काव्य के अंग हैं। काव्य का प्राण रस है। किन्तु रसवाद के पुराने आचार्य अपनी सीमाओं में 'रस' को देश, काल और वस्तु से अलग करके देखते हैं और अपनी समस्त अपूर्णताओं और अयोग्यताओं को 'सहृदय' की आड़ में छिपाना चाहते हैं, और 'लोक-मंगल तथा साधारणीकरण' का 'कला कला के लिए और सौंदर्य के निरपेक्षितावाद' के साथ द्वन्द्व पैदा करके भी नहीं समझते। हम इन सीमाओं को नहीं मानते। हम यह मानते हैं कि रस का भाव से संबंध है। भाव का मनुष्य की प्रवृत्ति से। प्रवृत्ति मनुष्य में सहज है। अतः वही मूल है। उससे जो तादात्म्य रखती है वही कविता है। परन्तु काव्य केवल प्रवृत्तियों का विश्लेषण करके समाप्त नहीं हो जाता। वह युग, देश और समाज-सत्य के अनुरूप ही अपने बाह्यरूपों को बदलता है, अतः वह जीवन का सर्वांगीण चित्रण है। और 'सहृदय' वास्तव में देश और वर्ग के भेदों के अनुसार निर्भर होता है। इसलिए हमारे विवेचन के अनुसार लोक-पक्ष और कला-पक्ष में द्वंद्व पैदा नहीं होता। ये दोनों ही काव्य के आवश्यक अंग हो जाते हैं।

[७] प्रयोगवाद काव्य को सहज बनाने के पक्ष में नहीं है। इलियट इत्यादि की परम्परा में काव्य को व्यक्ति की अभिव्यक्ति का ही रूप माना जाता है और स्व में पर की अनुभूति की आकांक्षा की जाती है। आधुनिक काव्य में ऐसे लेखक हैं जो इस तथ्य को स्वीकार तो करते हैं किन्तु उनके काव्य में भी पूर्णतया ऐसा दर्शन प्राप्त नहीं होता। जिस प्रकार बौद्ध दर्शन में अनात्म को माना जाता है, परन्तु उसमें आत्मा के ही प्रच्छन्न प्रकटीकरण हो जाते हैं, उसी प्रकार इस प्रकार के स्वनिहित काव्य में पर-भाव सदैव

---

१. 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड', ले० रांगेय राघव

अपरोक्ष रूप से जीवित बना रहता है।

प्रयोगवाद प्रकृति को उस रूप में लेने की चेष्टा करता है, जिसमें चित्र सरलता से ग्राह्य नहीं हों। पुराने काव्य में भी प्रकृति के कई रूप लिए गए हैं और विभिन्न युगों की छाप उनपर भिन्न-भिन्न रूप से स्पष्ट दिखाई भी देती है। परन्तु प्रयोगवाद उन रूपों से एक नये रूप का सृजन करना चाहता है और इसमें वह नये उपमान ढूंढ़ता है। चित्र को रेखा, रंग और भाव ही स्पष्ट करते हैं। काव्य में शब्द, कल्पना और तथ्य (भाव) उसका बाह्य और आत्मपक्ष प्रस्तुत करते हैं। प्रयोगवाद में शब्दों को इस रूप में रखने की प्रवृत्ति पाई जाती है कि काव्य गद्य की ओर अधिक उन्मुख हो। गेयता को काव्य का विशेषण-मात्र समझा जाता है, उसके लिए उसमें लय-ताल भी आवश्यक नहीं माना जाता, क्योंकि कवि अपनी अभिव्यक्ति के लिए नितांत ही स्वतन्त्र माना गया है। गद्य में पद्य लिखने की यह प्रवृत्ति कोई नयी नहीं है। संस्कृत-साहित्य में छन्द काव्य के लिए आवश्यक नहीं माना गया है। कादम्बरी और दशकुमारचरित इसके ज्वलंत प्रमाण हैं। किन्तु मुक्तछंद का सा प्रवाह संस्कृत के गद्य में सदैव ही वर्तमान रहता है। प्रयोगवादी प्रवाह को आवश्यक रूप से नहीं स्वीकार करते। उनके अनुसार अनगढ़ होना भी भाव के ही उतार-चढ़ाव के अनुसार होता है। काव्य में संगीतात्मकता उनके दृष्टिकोण से निरर्थक है। और इसीलिए अधिकांश न वे गद्य लिखते हैं, न पद्य ही।

प्रयोगवाद का तो नामकरण ही गलत है। प्रत्येक नये छंद का निर्माण स्वयं एक प्रयोग है। बाह्य रूप के अनुसार सुमित्रानन्दन पंत का काव्य स्वयं प्रयोग है, क्योंकि पंत ने छंदों के बंधन को तोड़ा था।

यूरोप में पहले महायुद्ध के बाद जीवन में एक निराशा फैली थी, और मध्यवर्गीय संस्कृति के ही क्रोड में उसका निराकरण खोजनेवाले केवल व्यक्तिवाद की असीम दीनता के ही किनारे पर पहुंच सके थे। उसी समय मार्क्सवाद के बढ़ते प्रभाव ने अत्यंत उग्रता के साथ जनता के लिए कला की मांग की थी। शाश्वत सत्यों के मोह ने जो व्यक्ति की आड़ में अपनी 'कला कला के लिए' वाली अभिव्यंजना को बचाने का प्रयत्न किया था, प्रयोगवाद उसीका परिणाम था, जिसने धीरे-धीरे मध्यवर्गीय संस्कृति के मानदण्डों के हिलने पर अपना प्रभाव भारतीय परिस्थितियों पर भी डाला।

दुर्भाग्य से भारत में प्रगतिशील साहित्य का आंदोलन अपने साथ एक रूढ़िवादी संकीर्णता को लिए था, जिसने अपनी शक्ति दिखाई। परिणामस्वरूप प्रयोगवाद को निम्न मध्यवर्ग की सहानुभूति लूट पाने की अधिक सुविधा मिली, किन्तु वह काव्य अपने संकुचित दायरों के कारण जनता तक उतर नहीं सका। उसकी अपनी आत्मा में अधिक बल नहीं था, क्योंकि व्यक्ति की यह सीमाएं सौन्दर्य का सृजन भी उतने बल से प्रतिष्ठापित नहीं कर सकीं, जितनी कि इसके 'कला कला के लिए' वाले सिद्धांत द्वारा

अभीष्ट थी।

[८] प्रयोगवाद के पीछे अनेक वादों के सिद्धांत अपने-आपको छिपाये हुए हैं। उनमें से एक-एक को यहां देखना आवश्यक है। प्रयोगवाद मूलतः वर्ग-संघर्ष को नकारात्मक स्थान देता है और व्यक्ति की चेतना को अपनी वस्तुस्थिति से अलग करके देखने का प्रयत्न करता है। हिन्दी में इसे छायावाद की परम्परा का अनुसरण कहना कोई अत्युक्ति नहीं है। देखने में और अपने कहने-सुनने के ढंग में छायावाद अपने माधुर्य के कारण प्रयोगवाद से दूर लगता है किन्तु गौर से देखने पर वह उसके बहुत पास है। छायावाद का नामकरण साहित्य में गलत ढंग से हुआ। केवल शैली के अति व्यंजनात्मक होने अथवा अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि के कारण छायावाद एक स्कूल के रूप में भले ही स्वीकार कर लिया जाए, किन्तु वैसे प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी चारों चार भिन्न प्रकार के कवि हैं। उन्होंने शैली में अवश्य अधिकांश रूप से वस्तु-विषय और वर्ण्यविषय के प्रति एक-से पग उठाए हैं। छायावादी कवियों की भाषा कठिन नहीं है। यदि ध्यान से देखा जाए तो भाषा के क्षेत्र में, ऊंची उड़ानों के स्थान पर गोस्वामी तुलसीदास तक कठिन शब्दों का प्रयोग कर चुके हैं, परन्तु साधारण पाठक को भी तुलसीदास को समझने में कठिनाई नहीं उत्पन्न होती। छायावादी कवि अपनी उसी व्यंजनात्मकता के कारण दुरूह रहे हैं। प्रयोगवाद उसी शैली को प्रकारान्तर से प्रस्तुत करने की चेष्टा करता है। छायावाद की सौन्दर्य-भावना अपने साथ उठते हुए मध्यवर्ग का स्वातंत्र्य भावना लिए हुए थी और छायावाद का व्यक्ति-विद्रोह रीतिकालीन सामंतीय बाह्य वस्तु-वर्णन-पक्ष के विरुद्ध था, इसीलिए उसमें प्राणशक्ति थी ; प्रयोगवाद के पीछे ऐतिहासिक प्रगति नहीं है। वह नये की नामधारिता में पुराने को ही बार-बार प्रस्तुत करना चाहता है।

छायावाद का ह्रास इसलिए हुआ कि उसमें जीवन की वह व्यापकता नहीं आ सकी, जिसकी कि युग अपेक्षा कर रहा था। उसमें जो पलायन का स्वर था वह अब लोगों को ग्राह्य नहीं हो सका। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद में लोक-मंगल की भावना का अभाव स्पष्ट किया था, क्योंकि वह 'पुराने लोक-मंगल' के सामने उठते हुए मध्यवर्ग के नये रूप को देख नहीं सके थे। उन्होंने इसी भ्रम में रोमांसवाद को भी स्वच्छन्दवाद कहा था। स्वच्छन्दवाद का अर्थ बहुत भ्रामक है। वह किसी भी विषय की स्वच्छंदता हो सकती है, शब्द, शैली, छंद, विषय तथा वर्ण्यवस्तु। रोमांसवाद, वस्तुतः जो छायावाद का प्राण था, यूरोप में मशीनों के उदय के समय प्रारम्भ हुआ था, जिसने एक ओर सामंतीय बन्धनों का विरोध किया था, दूसरी ओर मशीनों के शोषण से विद्रोह करने की अशक्ति में कल्पना-जगत् का सृजन किया था। छायावाद में ये दोनों बातें आई थीं। किन्तु छायावाद ऐसे देश में जन्मा था, जहां इंगलैंड की सी स्वतंत्रता

नहीं थी, वरन् भारत परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ था। यह परतंत्रता केवल राजनीतिक ही नहीं थी, इसके साथ एक सामंतीय जर्जर व्यवस्था भी थी जो संपूर्णरूप से भारत की असंख्य-असंख्य जनता में फैली हुई थी, क्योंकि अंग्रेज़ों ने मध्यवर्गीय उत्थान तथा मशीनों के साथ-साथ भारत में पदार्पण करने पर भी यहां का सामंतीय जीवन सुरक्षित छोड़ दिया था। परिस्थिति के इस भेद ने वही दुरूहता पैदा की जो छायावाद में प्रकट हुई। रोमांसवाद इंगलैंड में जनप्रिय हुआ क्योंकि उसमें तथ्यों में नवीनता का विकास अधिक था, शेली, कीट्स, बायरन आदि जनता में पहुंचे हुए कवि बने, जबकि प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी आदि अपनी अभिजात व्यंजना के कारण पढ़े-लिखे लोगों तक ही सीमित रह सके। इनमें शेली, बायरन जैसा समाज-पक्ष नहीं रह सका तथा न पुश्किन जैसी जनप्रियता ही इन्हें मिल सकी, जो स्वयं स्वतन्त्रता का हामी था और जिसने रूसी क्रांति की नींव डालनेवालों में अपना स्थान बनाया था।

हिन्दी का रोमान्सवाद अपनी भिन्न परिस्थितियों में बदला हुआ था। छायावाद के रूप में प्रतिफलित यह धारा अपने उद्दाम वेग से बही। इसने जो अपनी व्यंजना से लोगों को चमत्कृत किया, पुराने लोगों ने इसका घोर विरोध किया, परन्तु नये मध्यवर्गीय तरुणों ने इसका मुक्त कण्ठ से स्वागत भी किया। धीरे-धीरे हिंदी में व्यंजनात्मकता-भरी इस शैली को इतना प्राधान्य मिल गया कि इसीकी छाया आज भी पीछा नहीं छोड़ सकी है। प्रयोगवाद इसीको पकड़ने की चेष्टा में है, किन्तु क्योंकि प्रयोगवाद में छायावाद का समाज-पक्ष नहीं है, वह केवल व्यक्ति-पक्ष को लेकर खड़ा होना चाहता है। प्रयोगवाद की दुरूहता शैली में ही समाप्त नहीं हो जाती, वह भाव की भी अभिव्यक्ति को पकड़ती है और रोमांसवाद का अल्हड़पन उसमें अपने नवीनतम रूप में आता है, जो मूलतः यौनवाद है। यौनवाद, मांसलवाद, आदि हिंदी में बहुत गिने-माने जाते रहे हैं। यौनवाद और प्रकृतवाद में भेद है। अतियथार्थवाद उसका थोड़ा-सा भिन्न रूप है और इन सबने अपना सन्निवेश प्रयोग में पाया है। फ्रायड का चिन्तन जिसने यौनवाद की पृष्ठभूमि खड़ी की है, वह भी काफी हद तक व्यक्ति-स्वातन्त्र्य या व्यक्ति-भिन्नत्व के रूप में अपने-आपको इसमें बचाए रखने की चेष्टा करता रहा है। यहां हम इनका विवेचन आवश्यक समझते हैं।

[९] यूरोप में फ्रायड के सिद्धांतों का गहरा प्रभाव पड़ा। फ्रायड के विषय में हिन्दी में लिखा जा चुका है और फ्रायड का बहुत बड़ा प्रभाव बताया गया है। फ्रायड के अनुसार मनुष्य के जो उपचेतन मस्तिष्क होता है उसमें यौन-सम्बन्धी भावनाएं समाज के वर्जनशील नियमों के कारण समा जाती हैं और वह यौन विकृतियां अपने को विभिन्न रूपों में प्रकट करती रहती हैं। फ्रायड की बहुत-सी बातों को यद्यपि एडलर और जुंग ने ठीक करने की चेष्टा की, किन्तु उस सबका मूलाधार यौन विकृति ही रहा और वे सब

व्यक्ति की वासना को ही जड़ में मानते हैं। हमारे भारतीय साहित्य में यौन भावनाएं प्राकृत काव्य से ही चली आती हैं। वह समस्त परम्परा हिन्दी में फ्रायडवाद के रूप में प्रकट हुई। रीतिकालीन परम्परा की स्थूल वासना मांसलवाद बनी और यथातथ अति यथार्थवाद के नाम पर प्रकृतवाद चल निकला, जिसमें नग्नता को ही आवश्यकता से अधिक प्रश्रय दिया गया, जो मनुष्य की पशु-बुभुक्षाओं के व्यापक वर्णनों के रूप में प्रकट हुआ। यह समस्त वाद स्पष्ट ही व्यक्तिपरक रहे और जब एक ओर यह सब विदेशों से आए बताए गए, इनका आधार पहले से हमारे संस्कृत और हिन्दी साहित्यों में मौजूद था। सामंतीय व्यवस्था में नारी उपभोग-मात्र की दस्तु थी, इन वादों ने नये युग में नारी को मुक्त करने के नाम पर यौन स्वातन्त्र्य की ओर खींचा और इस प्रकार वर्गसंघर्ष की व्यापक चोटों से आहत निम्नमध्यवर्गीय समाज ने इन वादों में मुक्ति की सांस लेने का प्रयत्न किया, जबकि यह एक असंभव काम था, क्योंकि इन सबका मूल 'काम' था। और 'काम' जीवन के संश्लिष्ट व्यापारों में एक अंग-भर है, वह सब कुछ नहीं है। हमारे कुछ राष्ट्रीय कवि जो पहले राष्ट्रविषयक कविता लिखते थे, युग की परिस्थितियां बदलने पर इस विषय में अत्यन्त खिन्न हुए कि उनकी बहुतांश कविता युग से पिछड़ गई, तो उन्होंने दूसरी ओर प्रेम की कविता लिखी। उनका ऐसा विचार रहा कि प्रेमकाव्य ही शाश्वत होता है, क्योंकि प्रेम और वासना ही मनुष्य में मूलभूत हैं। यह ठीक नहीं है, क्योंकि यह मनुष्य जीवन के अंग-मात्र हैं। संस्कृत काव्य में जो रसों का राजा शृंगार माना गया है, उसके भी मूल में प्रेम को ही शाश्वत समझने की भावना है। यह भावना असल में रस-सम्प्रदाय के 'रति' शब्द से प्रादुर्भूत हुई है। 'रति' अपने व्यापक अर्थ में वास्तव में दांपत्य से ऊंची उठनेवाली भावना है, जो हमारी शब्दावली में व्यक्तिपरक मूलाधार पर निहित है। लोक-पक्ष के आधार पर 'रति' के लिए अधिक उपयुक्त शब्द 'मानवीयता' है जो अधिक व्यापक है।

बदलते हुए समाज की गति बहुत तेज़ थी और कवियों को लगने लगा कि उनका काव्य बहुत जल्दी-जल्दी पिछड़ता चला जा रहा था। इसलिए उन्होंने सोचा कि 'प्रेम' पर ही लिखा जाए, और उसें भी वे प्राचीन परिपाटी में स्वीकार नहीं करना चाहते थे, अतः उन्होंने वैज्ञानिक परिभाषाओं के लिए पाश्चात्य शब्दावली का प्रयोग किया और रीतिकालीन वस्तु-विषय को नये अवान्तर से प्रस्तुत करने की चेष्टा की। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि छायावादी शैली के अपभ्रंश और रीतिकालीन वर्ण्य-विषय के खंडहर, तथा टुटपूंजिया वर्ग के शाश्वत सत्य की कामना, तीनों ही प्रयोग के प्राण हैं, जो व्यक्तिवाद की जड़ों पर पल रहे हैं और इनका कोई भविष्य नहीं है क्योंकि इनमें संवेदना की कमी है।

हम यहां फिर से कह देना चाहते हैं कि हिन्दी में इन वाद-विशेषों का कोई भी

कवि ऐसा नहीं है, जो इन्हीं वादों में अन्तर्निहित हो जाए। अतः हिन्दी में प्रचलित इन मान्यताओं का विश्लेषण करते समय हम यदि कुछ कवियों के यहां उद्धरण देते हैं, तो उन्हींके उद्धरण हम आगे किसी दूसरे वाद के अन्तर्गत भी दे सकते हैं।

[१०] प्रयोगवाद का एक अलंकार 'प्रतीकवाद' है, जो कुछ समय पहले बहुतायत से प्रयुक्त किया जाता था। हिन्दी में प्रतीकवाद छायावाद की शैली में ही समाविष्ट है, जहां प्रतीकों के प्रयोग से अर्थ समझाने की चेष्टा हुई है। अतः उसे बिलकुल स्वतन्त्ररूप से अलग मानना कदापि उचित नहीं है। रूस में मायकोवस्की के प्रारम्भिक काव्य-काल में साम्राज्यवादी संस्कृति के विरुद्ध जो 'भविष्यवाद' नाम से व्यक्तिपरक विद्रोह उठा था, वह प्रतीकों का अधिकांश प्रयोग किया करता था। हिन्दी में भविष्यवाद का कोई स्पष्ट प्रभाव दिखाई नहीं देता, किंतु प्रतीकों का काफी असर पड़ा है और नये-नये प्रतीक बनाए गए हैं और बनते जा रहे हैं। प्रतीक अपने अलंकार के रूप में काव्य का गुण है, किन्तु वह स्वयं काव्य नहीं है, क्योंकि वह एक मूर्त की छाया बनकर सांकेतिक योजना बनकर ही रह जाता है, उसमें भाव को जागरित करने की शक्ति नहीं होती। वह भावानुभूति की तीव्रता को स्पष्ट करने में अवश्य लाभकारी सिद्ध हो सकता है। प्रतीक काव्य में इसीलिए सदैव ही ननते रहेंगे। वास्तव में प्रतीक बाह्याचार है जो युगानुरूप परिस्थितियों से प्रभावित होकर देश-काल के अनुरूप सदैव बदलता रहेगा। उसे काव्य का जीवन-स्रोत नहीं समझा जा सकता। प्रयोगवाद प्रतीक पर सबसे अधिक निर्भर है, क्योंकि प्रतीक की नवीनता ही प्रयोग की व्यंजना की एकमात्र आत्मा है, उसीमें चमत्कार उत्पन्न करने की बहुला शक्ति हो सकती है।

[११] सार्त्र का अस्तित्ववाद हिन्दी में अपना सीधा प्रभाव नहीं डाल सका है। व्यक्ति जीवित रहना चाहता है और किसी प्रकार अपना अस्तित्व-मात्र बनाए रहना चाहता है—यही इस समस्त वाद का मूल है। इस दृष्टिकोण से व्यक्ति अपने को समाज की घोर बीभत्सा में पिसा हुआ सोचता है। उसे न केवल अपने चारों ओर दैन्य और निराशा दिखाई देती है, वरन् वह स्वयं उसके विरुद्ध होने की कल्पना कर लेता है। इस दृष्टि से व्यक्ति अपने को निस्सहाय समझता है और समाज में अर्थ के घात-प्रतिघात को भाग्यवाद की दुर्दमनीय प्रणाली-मात्र समझने लगता है। उसकी सत्ता अपने चारों ओर परिधि खींच लेती है और एक का अस्तित्व दूसरे के अस्तित्व से सामरस्य नहीं ढूंढ़ता, वरन् वह दायरों में बंध जाता है और उसे यह प्रतीत होता है कि यह संसार वास्तव में उसको मिटा देने में लगा हुआ है।

अस्तित्ववाद की स्थापना यूरोपीय प्रथम महायुद्ध के बाद की निराशा में हुई जब पूंजीवादी संस्कृति की विभीषिका में व्यक्ति को लगने लगा कि वह हर ओर से असुरक्षित है। साम्यवाद अस्तित्ववाद के दृष्टिकोण से सर्वहारा का बर्बर और निरंकुश अधिनाय-

कत्व है, जो व्यक्ति को समाप्त करके, ऊपर से एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था लागू करना चाहता है, जिसमें कहने-सुनने की कोई गुंजायश नहीं है, केवल नियन्त्रणों का बोझ है जिसमें व्यक्ति अपने को अवरुद्ध पाता है।

छायावाद के भीतर पलनेवाली निराशा में भी यह स्वर कहीं-कहीं मिलता है। छायावाद के बाद जब मूर्त को अमूर्त के रूप में अधिक प्रस्तुत किया जाने लगा, तब इस प्रकार की निराशा ने स्वर बदला और पहले जो दयनीयता थी वह अपने को कुचला हुआ पाकर प्रतिस्पर्धा से भर उठी और अपरोक्ष रूप से अस्तित्ववाद के प्रभाव दृष्टि-गोचर होने लगे। किन्तु यह पूर्णरूप से सार्त्र का प्रभाव नहीं माना जा सकता। अस्तित्व-वाद में सौन्दर्य की कल्पना का कोई व्यापक स्थान नहीं है, क्योंकि वहां सौन्दर्यवाद भी वैयक्तिक है और उसका प्रभाव अपनी ही सीमाओं को बनाने में लग जाता है।

अस्तित्ववादी व्यंजनाओं का अन्तिम प्रश्रय प्रयोगवाद है, जिसमें अनेक ऊहापोह से व्यक्ति ने अपने सामाजिक उत्तरदायित्व से मुंह मोड़ लेने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रयोगवाद मूलतः प्रयोग का रूप नहीं है, उसके पीछे विभिन्न प्रकार के चिन्तन हैं, जिन्होंने अपने विकास के लिए, अपने जीवित रहने के लिए पथ खोजने का प्रयत्न किया है।

यह काव्य की धाराओं अथवा विचारों का एक रूप है, जिसने अपना प्रभाव डाला है। यूरोप में ये वाद उठते और गिरते हैं, परन्तु हिन्दी में इनका प्रभाव कभी भी केवल विदेशी चिंतन बनकर नहीं पड़ सका, सदैव यह विचार पहले काव्य पर मंडराए हैं और फिर धीरे से अनजाने ही इन्होंने अपने ही साहित्य में ऐसे स्थल ढूंढ निकाले हैं जिनके आधार लेकर ये खप सके हैं। इसलिए आवश्यक है कि हिन्दी के आधुनिक काव्य के विकास को थोड़ा देख लिया जाए।

[१२] रीतिकाल के समय में कविता के तीन क्षेत्र थे। एक वह कविता थी जो मंजी हुई दरबारी चीज थी और वह यद्यपि राधाकृष्ण के बारे में थी, पर शृंगार-मात्र से ओत-प्रोत थी। दूसरी वह कविता थी जो वीररस से ओत-प्रोत थी यद्यपि यह भी रीति के बन्धनों में जकड़ी हुई थी। इसका रीति के बन्धनों में जकड़ा रहना इसलिए आवश्यक था कि यह सामंतों के व्यापक प्रभाव में दरबारी वस्तु ही थी। परन्तु फिर भी यह अपने विषय में, अपने युगानुरूप सामंतीय बन्धनों में, तत्कालीन हिन्दू भावना के दृष्टिकोण से, राष्ट्रीय कविता थी। यह परम्परा पुराने वीर काव्य से ही उतरती आ रही थी। तीसरी कविता सिद्ध, नाथ, संत, भक्त आदि की परम्परा में थी और यद्यपि इस काल में वह कोई उत्कृष्ट कोटि का साहित्य प्रस्तुत नहीं कर सकी, पर चौबोलों, आल्हा, रसिया, होरी, नौटंकी तथा इसी प्रकार की जन-अभिव्यक्तियों के रूप में पलती रही। यह अधिकांश शृंगार, नीति तथा वीरगाथाओं का वर्णन करती थी और इसका जनता में काफी प्रचलन

था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल काव्य की इस धारा को नहीं देख सके थे।

[१३] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय जब समाज में परिवर्तन हुए तो वे काव्य को इन अभिव्यक्तियों के समीप लाने में लगे। उनकी राय में काव्य का सहज होना अत्यन्त आवश्यक था। परन्तु द्विवेदी-काल में कविता को तनिक उठाया गया और आभिधा-प्रधान होते हुए भी यह काव्य उतना सरल नहीं था जितना भारतेन्दु-कालीन काव्य था। रीतिकाल की शृंगारपरकता कम की गई और उपादेयतावाद ने स्थान लिया। इसका कारण दयानन्द के आन्दोलन का प्रभाव था, और राष्ट्रीय संग्राम की भी उसपर छाया पड़ी थी।

किन्तु मध्यवर्ग उतने ही से संतुष्ट नहीं था। छायावाद अर्थात् अभिजात शैली का उदय हुआ, जिसने काव्य को यद्यपि मुक्त तो किया किन्तु इसकी उड़ान साधारण जनता से काफी दूर हो गई। व्यञ्जना-प्रधान इस शैली ने भारतेन्दु तथा द्विवेदी-कालीन कविता को उतनी ऊंची कोटि का नहीं माना, जितनी अपनी कविता को। आज भी बहुत-से आलोचक यही मानते हैं कि छायावाद ने भाषा को जो मंजाहट दी है, उसको छोड़ने से कविता का मेयार गिर जाता है। आधुनिक कविता को जनप्रिय होने से रोकने-वाला यह सबसे बड़ा कारण है। प्रयोगवादी काव्य ऐसा ही एक प्रयत्न है जो काव्य को उसी ऊंची अभिजात शैली का ध्वंसावशेष बनाकर रखना चाहता है।

मैकॉले ने कहा था कि ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता है, कविता का ह्रास होता है। मैकॉले अपनी जगह ठीक था क्योंकि सभ्यता से उसका तात्पर्य पूंजीवादी संस्कृति के विकास से था। पूंजीवादी संस्कृति धन को मनुष्य के ऊपर स्थापित करती जा रही थी, व्यक्ति समाज के द्वन्द्व में आ गया था, और मशीनों का महत्त्व तथा प्रभुत्व धीरे-धीरे प्रकृति के साहचर्य को दूर कर रहा था, और हृदय-पक्ष पर हृदयहीन शोषण सवार होता जा रहा था। सामंतीय जीवन में प्रजा और राजा का सीधा सम्बन्ध था और भाग्य-वाद उस समाज की रीढ़ था। पूंजीवाद ने भाग्यवाद के दुःख भोगनेवाले भाग को तो जीवित रखा, किन्तु अब शोषण के रूप बदल गए और शोषक और शोषित का व्यक्ति-पक्ष में भी कोई सम्बन्ध नहीं रहा। यह याद रखने की बात है कि काव्य का जन्म सामू-हिक जीवन के उत्पादन-वितरण के सामूहिक रूप में हुआ था, और व्यक्ति के समाज में एकांतिक होते जाने के साथ, काव्य का भी ह्रास होता गया। अतएव काव्य की जीवंत शक्ति, भावानुभूति का सामरस्य ही जब नष्ट होने लगा तब काव्य का दुरूह हो जाना नितांत ही स्वाभाविक हो गया। इसके विरुद्ध दूसरी ओर सोवियत काव्य का जन्म हुआ, परन्तु वह अधिकांश नीतिपरक रहा और उसने अधिकांश जीवन की वीरता, करुणा आदि को ही छुआ, जिसके कारण जीवन का सांगोपांग रूप समाज को नहीं मिला। इन दो दूरियों ने एक खाई पैदा की। सोवियत रूस ने क्रांति की और वहां छलांग लगाई गई

जिसने हठात् एक व्यवस्था से दूसरी व्यवस्था को जन्म दिया। अन्य देशों में क्रांति नहीं हुई, धीरे-धीरे काव्य के रूप बदले। एक पुरानी परम्परा थी, जिसमें उच्चवर्गों की सौंदर्य-साधना थी, दूसरी ओर बौद्धिकता नये काव्य की मांग कर रही थी और काव्य इस व्यामोह में दो खण्डों में बंट गया। पुरानी परम्परा हिन्दी में आज प्रयोगवाद है, और नयी परम्परा को प्रगतिवाद कहा जाता है, इन दोनों ही में यद्यपि दूर-दूर का भेद होना चाहिए, परन्तु अभिव्यक्ति और शैली में दोनों एक-दूसरे से बहुत दूर नहीं हैं, क्योंकि दोनों ही छायावाद की शैली के अवशेषों को लेकर चले हैं। नये कवि जो आज कवि-सम्मेलनों में जाते हैं उन्होंने इस सत्य को अधिक पहचाना है। वे तो जनता के सामने जाते हैं। वहां हर एक बात, हर एक पंक्ति ऐसी होनी चाहिए जो श्रोता को प्रभावित कर सके, अन्यथा वहां प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिए उर्दू शैली के चमत्कार का आधार लिया जा रहा है जिसमें तुरन्त 'वाह-वाह' करा देने की शक्ति है। किन्तु अभी भी कवि-सम्मेलनों की जनता निम्न मध्यवर्गीय जनता है, और वह इन चमत्कारों से ही प्रसन्न हो जाती है। क्या कारण है कि कबीर, तुलसी, सूर, विद्यापति, महाकवि हैं पर बड़े सहज हैं ? जनता तक उतरे हुए हैं ? इसका कारण उनकी भाषा की सहजता नहीं, जितनी उनकी अभिव्यक्ति का रूप है। रीतिकालीन कविता जनता के पास नहीं है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यों है, उर्दू कविता को समझनेवाले उर्दूदां बहुतायत-से हैं। जो उर्दू जानता है वह 'शायर' शब्द से अवश्य परिचित है। परन्तु हमारे ग्रामीणों में 'कवि' शब्द प्रचलित नहीं है। यह बड़ा कठोर सत्य है। वे भजनीक, पद-गायक, रसिया-रचयिता को जानते हैं, पर 'कवि' शब्द उनमें सहज नहीं है। अधिकांश में बताना पड़ता है कि कवित्त कहनेवाले को कवि कहते हैं। इसका कारण ही यह है कि लगभग दो सौ वर्ष तक कवि माने जानेवाला व्यक्ति दरबारों में फंसा रहा और जनता से दूर रहा, जबकि उर्दू शैली की परम्परा जाननेवाली जमात अथवा लोग तत्कालीन शासन से किसी न किसी रूप में संबद्ध रहे और मुहम्मदशाह रंगीले के समय से ही उनमें परम्परा से काव्य का सान्निध्य बने रहने की सुविधा बनी रही। यह स्पष्ट करता है कि कविता और जनता का गहरा सम्बन्ध है और काव्य तभी ह्रास की ओर उन्मुख होता है जब वह जन-जीवन से दूर होकर व्यक्ति की सकुंचित सीमाओं में केन्द्रित हो जाता है। सोवियत काव्य का एकांगी होना भी ऐतिहासिक कारणों का फल था। यूरोप की ध्वंसावशिष्ट पूंजीवादी संस्कृति 'कला कला के लिए' के नाम पर व्यक्तिवाद को यौनवाद के क्रोड में छिपा रही थी और प्रेम और शृंगार की वासना में समाज सत्य को डुबाया जा रहा था। सोवियत में इसीकी प्रतिक्रिया हुई थी, क्योंकि 'प्रेम' की आड़ में 'शाश्वत सत्यों' के नाम पर विकृत और जीर्णशीर्ण पूंजीवादी व्यक्तिवाद को वर्ग-संघर्ष, शोषण आदि के सत्यों को झुठाने के लिए, वहां का टुटपूंजिया वर्ग प्रयुक्त कर रहा था।

छापेखाने के प्रयोग ने कवि को जनता से अलग किया। और लिखने, छपवाने की प्रवृत्ति ने काव्य को जनता के प्रति नये युग में सीधा उत्तरदायित्व नहीं दिया। रीतिकाल की समस्त मुक्तक कविता वास्तव में राधाकृष्ण की प्रचलित कथा पर आधारित है, इसलिए उसे भी समझने में जनता को, जो भी उसके निकट आ सकी, उतना कष्ट नहीं हुआ, जितना नई कविता को समझने में होता है, क्योंकि अबकी बार के मुक्तक काव्य ने जनता में प्रचलित किसी आधार को नहीं लिया है। नये मुक्तक के उपमान, तथ्य आदि सब ही नये हैं, और उनकी पृष्ठभूमि अभी तक बन नहीं सकी है। प्रयोगवाद में तो यह शैली तथा भावगत दुरूहता है और प्रगतिवादी काव्य की अड़चन दूसरी है। वह अभी नये समाज की नई नीति की स्थापना कर रहा है। अभी उस नये समाज की कल्पना पूरी तरह से जनता में उतर नहीं पाई है, क्योंकि व्यक्तिवादी ढंग से प्रचलित आधुनिक प्रगतिवादी कविता ने मध्यवर्गीय शैली से विकास किया है, उसने जनता में प्रचलित काव्य-माध्यमों से अपना नाता नहीं जोड़ा है और जनता तभी काव्य को मानती है, जब उसका अपना जीवन उसमें प्रतिबिम्बित होता है।

प्रयोग के विषय में जो हमने बताया था कि उसने अपनी ही परम्परा में मौजूद स्थलों में आश्रय बनाया था उसमें एक यह ही है जिसने काव्य को बढ़ने से रोका है।

[१४] इनके अतिरिक्त प्रयोगवाद के आश्रयस्थल रहस्यवाद और पलायनवाद हैं, जो अभी तक हिन्दी काव्य में बचे हुए हैं। इनका प्रभाव भारत में दो कारणों से है, एक तो दर्शन की परम्परा और दूसरी योग-मार्गों की परम्परा। दर्शन का प्रश्न भारत में बहुत पुराना है और शताब्दियों में उसका प्रभाव जनता तक गहरा उतर गया है, जिसका कारण है यहां के जीवन की प्रायः एकरसता। खेतिहर प्रणाली इसका मूलाधार है। वह भाग्यवाद को जन्म देती है क्योंकि परिस्थितियां आकाश के बादलों पर निर्भर होती हैं। जल नहीं बरसा, अकाल पड़ गया। बरस गया, खेती हो गई। सृष्टि की प्राकृतिक क्रियाओं के ऊपर निर्भरता, मनुष्य को लघुता की ओर प्रेरित करती है और फिर वह सृष्टि के रहस्यों को जान लेने की चेष्टा करता है और यही रहस्यवाद का मूल उद्यम है, क्योंकि जानने में लगा हुआ व्यक्ति जब असली तथ्य की व्याख्या नहीं कर पाता, तब अज्ञात को अव्यक्त-रूप में अनुभव करने का प्रयत्न करता है। यही रहस्यवादी भावना जब समाज में पुरोहित-वर्ग के रूढ़िवाद के विरुद्ध उठ खड़ी हुई थी, तब उसने लघुता से महानता की ओर प्रेरित किया था; किन्तु उसके बावजूद अपनी वस्तुस्थिति में वह अभावात्मक ही रहा। योग-मार्ग की परम्परा जब रहस्यात्मक जीवन को साधनापरक पद्धति से खोजने का यत्न करती है तब वह व्यक्तिमूलक हो जाती है। मध्यकालीन साहित्य तक हम कह सकते हैं कि अंततोगत्वा इसीके रूप काव्य में प्रतिबिम्बित हुए थे, किन्तु आधुनिक काल में छायावाद ने जिस रहस्य की छाया देखी, वह यद्यपि पुरानी धारा का ही प्रतिफलन था, किंत

उसमें साधनापरकता का पूर्ण अभाव था। और उसपर दुःखवाद का अधिक प्रभाव था, या वह विस्मयमूलक था। पुरानी व्यक्तिमूलक चिन्तना जब ईश्वर के तादात्म्य के परिवेष्टन ढूंढ़ने में संलग्न रही, नयी छायावादी व्यक्ति-प्रधान चिन्तना ने अपने को पहले से भी अधिक निःसहाय पाया, क्योंकि ईश्वर के प्राचीन रूप को भी स्वीकार नहीं किया गया। सामन्तीय जीवन में व्यक्ति ने त्याग की भावना को इतना अधिक महत्त्व दे दिया था कि समस्त योगवाद के चरमोत्कर्ष के रूप में उसीको स्वीकार कर लिया गया था। परन्तु नये पूंजीवादी जीवन की विषमशील परिस्थिति उस त्याग की भावना को भी अपना नहीं सकी, क्योंकि कवि के पास अब भोग के भी साधन नहीं थे और वहीं पलायनवादी चिंतन ने विकास किया। छायावादी युग के कवियों में पलायन व्यक्ति के कुछ ही पक्षों में था। प्रयोगवाद पलायन को पलायन कहकर स्वीकार नहीं करता, अपने व्यक्तित्व को संकुचित कर लेने में उसकी पूर्णता का अनुभव कर लेता है और अपने को अलग करते समय जहां पहले के रहस्यवाद में आत्मा को निराकार का आश्रय था और छायावाद में 'सुन्दर' की शरण थी, 'महान' की छाया थी वहां प्रयोगवाद को यह सब कुछ नहीं है और अवरुद्ध-सा व्यक्ति यहां छटपटाता है और बार-बार अधीर होकर पुकारता है कि मुझे मार्ग नहीं मिल रहा है, मुझे अन्धकार ने ग्रस रखा है। उसका प्रभु उसे सहायता नहीं देता, क्योंकि वह मूलतः अविश्वास के कगारों पर खड़ा होकर, जीवन की प्रचण्डधारा को दूर से देखता है।

[१५] जहां एक ओर यह संघर्ष है दूसरी ओर यथार्थ की परम्परा भी हिन्दी में अपना विकास करती रही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसे ही अधिक पसन्द करते थे।

साहित्य में राष्ट्रीयता का उदय हुआ। पहले साहित्य में हिन्दू संस्कृति की रक्षा ही राष्ट्रीयता का प्रतीक थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र में भी इसीका विकास मिलता है। हमारे पुनरुत्थानकाल में दयानन्द इत्यादि में यही थी। उर्दू शैली में हाली ने अपना 'मुसद्दस' लिखा जिसमें इस्लामी संस्कृति के प्रति मोह था। मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत भारती' लिखी, और उसमें हिन्दू-जागरण ही राष्ट्रीयता का प्रतीक था। किन्तु शीघ्र ही व्यापक भूमि बनी और आगे के कवियों ने समस्त जातीयता के बन्धन को तोड़ा और देश की सभी जातियों को देश का ही स्वीकार किया, इसलिए कि सबही विदेशी साम्राज्य के नीचे पिस रहे थे। यह राष्ट्रीयता धीरे-धीरे अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण में परिणत हुई और गांधीवाद ने अहिंसा के नाम पर जिस 'मानववाद' को प्रतिष्ठापित किया, उसने पुराने मानववाद से मेल खाया, जो सन्तों द्वारा समस्त मध्ययुगों में प्रचलित किया गया था। किंतु यह 'मानववाद' वर्ग-समन्वय पर जीवित था और खेतिहर प्रणाली से प्रभावित त्यागमय अभावात्मक दर्शन का पोषक था, जिसमें व्यक्ति के ऊपर ही सब कुछ डाल दिया गया, उन सामाजिक कारणों को नहीं छुआ गया, जो व्यक्ति को अच्छे-बुरे की ओर प्रेरित करते

छापेखाने के प्रयोग ने कवि को जनता से अलग किया। और लिखने, छपवाने की प्रवृत्ति ने काव्य को जनता के प्रति नये युग में सीधा उत्तरदायित्व नहीं दिया। रीतिकाल की समस्त मुक्तक कविता वास्तव में राधाकृष्ण की प्रचलित कथा पर आधारित है, इसलिए उसे भी समझने में जनता को, जो भी उसके निकट आ सकी, उतना कष्ट नहीं हुआ, जितना नई कविता को समझने में होता है, क्योंकि अबकी बार के मुक्तक काव्य ने जनता में प्रचलित किसी आधार को नहीं लिया है। नये मुक्तक के उपमान, तथ्य आदि सब ही नये हैं, और उनकी पृष्ठभूमि अभी तक बन नहीं सकी है। प्रयोगवाद में तो यह शैली तथा भावगत दुरूहता है और प्रगतिवादी काव्य की अड़चन दूसरी है। वह अभी नये समाज की नई नीति की स्थापना कर रहा है। अभी उस नये समाज की कल्पना पूरी तरह से जनता में उतर नहीं पाई है, क्योंकि व्यक्तिवादी ढंग से प्रचलित आधुनिक प्रगतिवादी कविता ने मध्यवर्गीय शैली से विकास किया है, उसने जनता में प्रचलित काव्य-माध्यमों से अपना नाता नहीं जोड़ा है और जनता तभी काव्य को मानती है, जब उसका अपना जीवन उसमें प्रतिबिम्बित होता है।

प्रयोग के विषय में जो हमने बताया था कि उसने अपनी ही परम्परा में मौजूद स्थलों में आश्रय बनाया था उसमें एक यह ही है जिसने काव्य को बढ़ने से रोका है।

[१४] इनके अतिरिक्त प्रयोगवाद के आश्रयस्थल रहस्यवाद और पलायनवाद हैं, जो अभी तक हिन्दी काव्य में बचे हुए हैं। इनका प्रभाव भारत में दो कारणों से है, एक तो दर्शन की परम्परा और दूसरी योग-मार्गों की परम्परा। दर्शन का प्रश्न भारत में बहुत पुराना है और शताब्दियों में उसका प्रभाव जनता तक गहरा उतर गया है, जिसका कारण है यहां के जीवन की प्रायः एकरसता। खेतिहर प्रणाली इसका मूलाधार है। वह भाग्यवाद को जन्म देती है क्योंकि परिस्थितियां आकाश के बादलों पर निर्भर होती हैं। जल नहीं बरसा, अकाल पड़ गया। बरस गया, खेती हो गई। सृष्टि की प्राकृतिक क्रियाओं के ऊपर निर्भरता, मनुष्य को लघुता की ओर प्रेरित करती है और फिर वह सृष्टि के रहस्यों को जान लेने की चेष्टा करता है और यही रहस्यवाद का मूल उद्यम है, क्योंकि जानने में लगा हुआ व्यक्ति जब असली तथ्य की व्याख्या नहीं कर पाता, तब अज्ञात को अव्यक्त-रूप में अनुभव करने का प्रयत्न करता है। यही रहस्यवादी भावना जब समाज में पुरोहित-वर्ग के रूढ़िवाद के विरुद्ध उठ खड़ी हुई थी, तब उसने लघुता से महानता की ओर प्रेरित किया था; किन्तु उसके बावजूद अपनी वस्तुस्थिति में वह अभावात्मक ही रहा। योग-मार्ग की परम्परा जब रहस्यात्मक जीवन को साधनापरक पद्धति से खोजने का यत्न करती है तब वह व्यक्तिमूलक हो जाती है। मध्यकालीन साहित्य तक हम कह सकते हैं कि अंततोगत्वा इसीके रूप काव्य में प्रतिबिम्बित हुए थे, किन्तु आधुनिक काल में छायावाद ने जिस रहस्य की छाया देखी, वह यद्यपि पुरानी धारा का ही प्रतिफलन था, किंत

हैं। मार्क्सवाद ने इस दृष्टिकोण को तोड़ा और 'नया 'मानववाद' प्रस्तुत किया जिसमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की सच्ची व्याख्या थी। किन्तु दुर्भाग्य से वह प्रतिष्ठापना ऐसी नहीं हो सकी कि जनसंघर्षों में से अपना विकास करती, वह बौद्धिक रही, और उसने समस्त पुरानी परम्परा को आत्मसात् करके छोड़ने के स्थान पर, उसपर एकदम प्रहार किया और सबको चौंका दिया और वह अपना अलग रास्ता बनाने लगी। इसका कारण था संकीर्णतावाद जिसने सामाजिक विवेचन करते समय रूढ़िवाद का पल्ला पकड़ा। मार्क्स ने जिन परिणामों को यूरोप के इतिहास का अध्ययन करके निकाला था उन्हें भारतीय परिस्थिति पर लागू किया गया, जबकि मार्क्स के परिणामों को नहीं उसके सिद्धांतों को भारतीय परिस्थिति पर लागू करने की आवश्यकता थी, उसके लिए इस देश के इतिहास, संस्कृति और परिस्थिति को अपने अध्ययन का विषय बनाने की आवश्यकता थी। इस प्रकार यथार्थ के नाम पर संकुचित राजनीतिक दृष्टि-भर रखी गई और जीवन के अन्य क्षेत्रों को छोड़ दिया गया, जबकि मार्क्सवाद केवल राजनीति नहीं है, वह जीवन के मूल्यों का नया निर्धारण है जो व्यक्ति, समाज और संस्कृति के मूल प्रश्नों को उठाता है और उनमें द्वन्द्व नहीं समन्वय स्थापित करना चाहता है, जो मानव-मानव के पारस्परिक द्वन्द्व को मिटाकर द्वन्द्व को मानव और प्रकृति के बीच में पैदा करने की योजना बनाता है, और प्रकृति और मानव का द्वन्द्व वह ऐसे पैदा करता है कि मानव 'अप्राकृतिक' नहीं हो जाए, वरन् प्रकृति को अधिक से अधिक अपने लाभ के लिए प्रयुक्त कर सके, क्योंकि मानव अंततोगत्वा प्रकृति का एक भाग ही है, और वह प्रकृति का प्रयोग कर सकता है, उसको बदल नहीं सकता। 'रहस्य' और 'शाश्वत' का वह कोई परम्परागत समाधान नहीं करता।

[१६] द्विवेदीयुगीन काव्य की उपादेयतावादी चिंतना के विरुद्ध छायावाद ने अपना सफल स्थान बनाया, किन्तु शीघ्र ही लोग उससे ऊब उठे क्योंकि युग की मांग आगे बढ़ने की चेष्टा कर रही थी। इस आगे बढ़ने की चेष्टा को मध्यवर्गीय कला ने ईमानदारी से देखा और बौद्धिक दृष्टिकोण ने 'ग्राम्या', 'युगवाणी' का सिरजन किया, जिसमें 'होना चाहिए' की पद्धति अपनाई गई और इसीलिए कवि ने उस काव्य को 'गद्य-गीत' कहा। प्रगतिशील काव्य की यह बुनियाद बुद्धिवादी रही। बजाय जन-जीवन में उतरने के, दूर से उसपर विवेचन किया गया और प्रगतिशील कवियों में यही परम्परा चल पड़ी।

दूसरी ओर छायावादी परम्परा तरुण कवियों द्वारा तोड़ी गई। हालावाद व्यक्ति की मस्ती का प्रतीक बनकर आया, जिसने समाज की रूढ़ियों पर प्रहार किया। अराजकतावाद, संघर्षवाद, अतिक्रांतिवाद और विद्रोहवाद फूट निकला, जो पुराने को पसन्द नहीं करता था, जिसकी भुजाएं फड़कती थीं, जो प्रचलित पलायनवाद और निराशावाद को उखाड़ फेंकना चाहता था, परन्तु व्यक्ति का आक्रोश उसकी शक्ति थी, उसका कोई सामाजिक आधार नहीं था। यह आवाज़ साम्राज्यवाद के भी विरुद्ध थी। इसने पुरानी

मर्यादाओं को लड़खड़ा दिया, किन्तु इसने काव्य के दो पक्ष अपने-आप मान लिए। एक ओर 'सौंदर्य', 'यौवन', 'प्रेम', 'रहस्य' आदि की कविता शाश्वत है, तो दूसरी ओर 'यथार्थ', 'समाज-पक्ष' यद्यपि आवश्यक हैं, परन्तु वे बदल जानेवाले तथ्य हैं। अतः कवि ने व्यक्ति-पक्ष और समाज-पक्ष दोनों को अलग-अलग कर दिया। विद्रोह की भावना के अतिरिक्त उस विक्षोभ में और कोई शक्ति नहीं थी। अतः वह सब वैयक्तिक दायरों में जाकर अन्ततोगत्वा डूब गया। पंत ने रीतिकाव्य के बाद हिन्दी को नई चीज दी थी। अतः उसने अपना स्थान बना लिया। नरेन्द्र, बच्चन, अंचल, नवीन इसीलिए पंत का-सा स्थान नहीं बना सके कि वे ऐसा काम नहीं कर सके। उन्होंने काव्य की शब्दावली को अवश्य बहुत सरल करने का यत्न किया और किया भी, किन्तु वे उस शैली के आगे नहीं निकल सके, जिसे निम्नमध्यवर्ग से नीचे उतारकर जनता तक पहुंचाना आवश्यक था।

प्रगति जीवन को नया दर्शन देती है, नया ही आधार रखकर नया ही भवन बनाती है, परन्तु अपनी आधारशिला के रूप में अपने लहू से पुरानी संस्कृति की मज़बूत ईंटों को चुन-चुनकर चिनती है और तब ऊपर नई संस्कृति का भवन बनता है।

इन कवियों ने पुराने 'ईश्वरवाद' को तोड़कर 'मानववाद' को प्रतिष्ठापित करने का प्रारम्भ किया। भक्तिवादी परम्परा की आस्था इनमें 'प्रेम' की अभिव्यक्ति के रूप में प्रकट हुई। प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रण में, छायावाद की परम्परा में प्राप्त हुई रहस्यात्मक भावना की विरासत का, इनके द्वारा अप्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से निर्वाह हो गया। वैयक्तिकता की उलझन ने, भारतीय दर्शन की अभावात्मकता को अस्वीकृत करते हुए भी, उसका खंडन नहीं किया, क्योंकि मूलतः इनका चिन्तन नये सत्य का आभास-मात्र था, उसका विकसित रूप नहीं था। 'सौंदर्य' की पुरानी परिपाटी को इन्होंने स्वीकार नहीं किया, किन्तु इनका दृष्टिकोण 'स्थूल' को 'भोगवाद' और 'सूक्ष्म' को 'त्यागवाद' के ही रूप में स्वीकार कर सका और इसलिए ये लोग 'सौंदर्य की सुलगन' तो पैदा कर सके, उसका 'व्यापक आनन्द' पैदा नहीं कर सके। 'व्यापक अनुभूति' प्रत्येक 'विशेष' को 'सामान्य' की ओर ले जाती है और उसका 'सामान्य' सहज ही 'विशेष' की संज्ञा प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। छायावाद की 'निराशा' ने जहां 'पलायन' को जन्म दिया था, इनकी व्यक्तिगत 'निराशा' ने 'घुटन' को बढ़ाया। वह 'घुटन' यद्यपि निम्नमध्यवर्ग की अपनी चीज़ थी जिसने इन्हें अपनाया, परन्तु वह निम्नमध्यवर्ग की भी समस्याओं का एकांतिक प्रदर्शन-मात्र था, उसने उस दुःख में कोई सुख नहीं दिया, अतः वह उसमें भी गहरी नहीं उतर सकी।

[१७] इनका उत्तराधिकारी बनकर आनेवाला प्रगतिशील चिंतन, संकीर्णतावादियों के कारण, इनकी समानान्तर धारा के रूप में बदल गया और उसने काव्य में प्रयोगवाद को जन्म दिया।

प्रगतिशील चिंतन पर विवेचन करना अब आवश्यक है। 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' में हम इसपर विवेचन कर चुके हैं, परन्तु वहां जो बातें रह गई थीं, उनको यहां स्पष्ट कर देना आवश्यक है। काव्य क्या है यह हम स्पष्ट कर चुके हैं। यहां हिन्दी की समस्याओं पर ही विचार करेंगे।

पहली बात यह है कि व्यक्ति की किसी भी अवस्था में ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती, जिसमें व्यक्ति के विवेक अथवा न्यायबुद्धि को समाज के सम्बन्धों से निरपेक्ष भाव से मुक्त करके देखा जा सके। दूसरी बात यह है कि व्यक्ति जब समाज के तादात्म्य में अपने व्यक्तित्व की स्वतन्त्र समझी जानेवाली उन वृत्तियों का परिमार्जन करता है, जो उसके दैनिक-सामाजिक सम्बन्धों में बाह्य वस्तुओं का नियंत्रण करती हैं, अथवा यों कहें कि एक-दूसरे को हानि-लाभ पहुंचानेवाली आदान-प्रदान, वितरण, क्रय-विक्रय करने-वाली वे स्थिति का माध्यम बनती हैं, तब वह अपने व्यक्तित्व का हनन नहीं कर देता वह समाज में मशीन का अंग बनकर नहीं रह जाता। जिस प्रकार समाज-रूपी शरीर में आंख-रूपी व्यक्ति अपने स्थान पर नियत है, पर अपनी शक्ति से दूर-दूर तक को देखने के लिए स्वतन्त्र है, उसी प्रकार व्यक्ति की मेधा भी समाज में कुण्ठित नहीं हो जाती। मार्क्स ने यूरोप की तत्कालीन परिस्थिति में इसी सत्य को देखा था। गड्ढा देखकर भी यदि आंख गड्ढे में शरीर को ले जाना चाहे, अथवा शरीर के मरने पर आंख जीवित रहना चाहे, तो जिस प्रकार आंख के माध्यम से मस्तिष्क परिचालित होकर भी अपना भला-बुरा नियंत्रित करता है, तथा शरीर के मरने पर आंख को भोजन मिलना बन्द होकर आंख का काम समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार व्यक्ति सारे समाज में ऐसी अन्य भी शक्तियां प्राप्त करता है, जो उसपर नियंत्रण करती हैं और समाज के न होने पर व्यक्ति भी जीवित नहीं रहता। व्यक्ति अपनी भाषा, अपना चिन्तन, सब सामूहिक रूप से ही सीखता-समझता है। ये दो बातें समस्त संघर्ष को स्पष्ट करती हैं। 'ऊर्ध्वचेतन' की ओर विकास-क्रम में आगे ले जाने की जो बात योगी श्री अरविन्द ने कही है वह व्यक्ति की चेतना को समाजगत करके नहीं देखती, जबकि अरविन्द ने एमीबा से अपने विकास को प्रारम्भ किया है।

यह सत्य है कि मनुष्य का विकास करोड़ों वर्षों में हो जाएगा, परन्तु उसका कोई विकास व्यक्तिवादी ढंग से समाजगत रूप को छोड़कर नहीं हो सकता। यहां कोइस्लर की बात आ जाती है, जिसने कहा है कि योगी और कमिसार दोनों का समन्वय ही विकास की अगली मंज़िल है। अर्थात् व्यक्ति और समाज का यह आत्मोन्नति और समाजोन्नति की ओर उन्मुख रूप ही भौतिक और आध्यात्मिक रूप का चरम मिलन है। परन्तु यहां दोनों रूपों को द्वन्द्व के रूप में प्रस्तुत किया गया है। योग का अर्थ शरीर और मन की शक्तियों का नियोजन-मात्र है। 'योग' का विकास भारतीय इतिहास में समाज-

गत अर्थ-व्यवस्था से प्रभावित होता रहा है। सामंतकाल ने 'योग' को अभावात्मकता, वैयक्तिकता और सेश्वरवाद से संबद्ध कर दिया है, जबकि योग मनुष्य के उपचेतन की शक्तियों को नियंत्रित करने का नाम है और विवेकवर्द्धन, ऊर्ध्वचेतन आदि यदि इसी उपचेतन के अन्वेषण के नाम है, जो समाज में व्यक्ति का विकास अधिकाधिक करते हैं, तो प्रगतिशील चिंतन उनका विरोध कभी नहीं करता।

[१८] आधुनिक काल में उपन्यासों ने जीवन के यथार्थ का सबसे अधिक चित्रण किया है और कहानी भी पीछे नहीं रही है। इसका मूल कारण रहा है कि उपन्यास और कहानी जीवन के चित्रों को लेकर चलते हैं। मनोविश्लेषण पात्रों के माध्यम से आता है और लेखक का व्यक्तित्व प्रत्यक्ष नहीं होता, उसके वर्ण्यविषय का सामाजिक आधार पहले से ही बन जाता है। नाटकों का जो हिन्दी में अभाव है उसका कारण यह है कि वहां पाठकों का अनुरंजन तुरन्त वहीं का वहीं होना चाहिए और हिन्दी के लेखक अपने व्यक्तित्व का अभी इतना समाजीकरण नहीं कर सके हैं कि श्रेष्ठ-कला को इतनी सरलता से प्रस्तुत कर सकें कि कला और जीवन का सामरस्य स्थापित हो सके। यद्यपि काव्य आज श्रव्य और पाठ्य दोनों है, किन्तु उसकी प्रभावित करने की शक्ति दृश्य काव्य से कम नहीं होनी चाहिए, क्योंकि दृश्यकाव्य में जो चित्र पात्र सजीव खड़े होकर उपस्थित करते हैं, श्रव्य काव्य में उन चित्रों की सजीवता भी शब्दों से ही उपस्थित करनी होती है जो सहज काम नहीं है।

[१९] काव्य किसी नियंत्रण से पैदा नहीं किया जा सकता। वह आज्ञा पर लिखा नहीं जा सकता। समाज की परिस्थिति उसे अपने-आप प्रभावित करती है। व्यक्ति और समाज का संतुलन ही एक ऐसे काव्य को जन्म देता है जो व्यक्ति को ही नहीं, समाज को भी आनन्द देता है। प्रगतिशील चिंतन के लिए यह समस्या बहुत बड़ी है क्योंकि अभी तक यह जिन परिस्थितियों में घूमता रहा है वह 'वाद'-भूमिगत थीं, जबकि उन्हें 'जीवन'-भूमिगत ही होना चाहिए था।

हिन्दी में कुछ प्रबन्धकाव्य भी लिखे गए हैं और शास्त्रीय पद्धति से उनमें आवश्यक पूर्णताएं होते हुए भी, उनका व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा है। कामायनी का कथानक पुराना होते हुए भी, उसकी भाषा कठिन होते हुए भी, शिक्षित वर्ग में वह प्रिय हो सकी, क्योंकि उसमें युग की समस्या का प्रश्न था जिसे 'प्रसाद' ने पुराने ढंग से सुलझाने का प्रयत्न किया था। रवीन्द्रनाथ कहा करते थे कि आधुनिक काल में युगानुरूप ऐसा विषय प्राप्य नहीं है, जिसपर प्रबन्धकाव्य लिखा जा सके, जो युगव्यापी हो सके। अभी तक के प्रसिद्ध प्रबन्धकाव्य वही हुए हैं जिनके कथानक का आधार पहले से जनता में उपस्थित था। यूरोप के प्रसिद्ध काव्यों का भी इस ही प्रकार जनाधार विद्यमान था। डिवाइना कामीडिया, पैराडाइज़ लॉस्ट तथा फास्ट के कथानक प्रचलित थे। दांते, मिल्टन और गेटे ने उन्हींको लेकर अपनी

प्रतिभा का स्पर्श दिया और अमर काव्यों की सृष्टि की। पुश्किन ने अवश्य 'यूजीन ओनिगिन' ऐसा पद्योपन्यास लिखा जिसकी कथा उसने अपने-आप बनाई थी। यह प्रकट करता है कि शास्त्रीय पद्धति से, अथवा किसी भी प्रकार के चित्रण-सौन्दर्य-मात्र से, कोई भी कथानक, युग पर प्रभाव नहीं डालता, जब तक कि उसके भीतर युगव्यापी कोई विषय नहीं हो। युगानुरूप होने का यह तथ्य यह भी प्रमाणित करता है कि कवि अपनी कथा भी गढ़ सकता है, उसमें यदि शक्ति होगी तो वह युग को प्रभावित कर सकेगा।

प्रबन्धकाव्य को यद्यपि निभाना अत्यन्त कठिन है, फिर भी उसमें वर्णन-चित्रण के लिए हाथ-पांव खुले रहते हैं। दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' एक खण्डकाव्य है और ओज के दृष्टिकोण से यह सफल है। परन्तु इतना पुराना विषय भी युगानुरूप होने के कारण ही लोकप्रियता प्राप्त कर सका है, जबकि पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र का 'कृष्णायन' उतना स्थान प्राप्त नहीं कर सका, हालांकि चित्रण की दृष्टि से मिश्रजी का काव्य कहीं अधिक उत्कृष्ट है। यद्यपि लोकप्रियता ही काव्य के उकृष्ट और श्रेष्ठ होने का परिचायक नहीं है, तथापि यह निस्संदेह सत्य है कि कलाकृति अपने सृजन के युग में अपने युग की अपेक्षा करती है और कालांतर में वह उन्हीं मानवीय मूल्यों और अनुभूतियों तथा चित्रण के बल पर जीवित रहती है, जिनसे वह अपने युग का सत्य प्रतिपादित करके भविष्य का मार्गप्रदर्शन करती है।

किन्तु गीतिकाव्य में यह सरलता नहीं होती। पुराने मानदण्डों के अनुसार इसको यों रखा जा सकता है। भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी, व्यभिचारी आदि की वर्णन-स्वतंत्रता तथा गुंजायश से प्रबन्धकाव्य में तो रस की निष्पत्ति हो जाती है, परन्तु गीतिकाव्य में एक गीत में एक ही भाव का वर्णन होता है, अतः यहां उतने फैल फूटने का अवसर ही नहीं मिलता। पुराने आचार्यों ने गीत में 'ध्वनि' को प्रमुख माना था। वह भी ऐकान्तिक है। गीत भाव पर ही आश्रित होता है, जिसका प्रवृत्ति से संबंध है, जो मनुष्य-मात्र में सहज और साधारण है, सामान्य है। वही गीत का हृदय से तादात्म्य कराती है, वही सुलभ बनाती है। पुराने और नये गीतिकाव्य में बहुत बड़ा अन्तर है। पुराने मुक्तक राधाकृष्ण-संबंधी, या प्रार्थनापरक रहे। जयदेव का गीतगोविंद, विद्यापति की पदावली, रीतिकाल के सवैये और कवित्त तथा सूर के पद, सब ही राधाकृष्ण के जीवन पर अवलंबित थे। इसलिए एक भी पद या छन्द वास्तव में स्वतंत्र नहीं था। उसकी भावभूमि आश्रय में राधाकृष्ण की कथा के रूप में पहले से विद्यमान थी। वह मुक्तक उस विद्यमान प्रबंधवत् भूमि में एक विशेष फूल बनकर खिल जाता था। अतः वह आज के मुक्तक से भिन्न था। दूसरी ओर सिद्धों, नाथों और कबीर के गीत हैं, जिनकी रसात्मकता का पूरा प्रचलित दार्शनिक चिंतन ही आधार था। अतः वे प्रचलित हो गए। आज के गीत व्यक्ति-विवेचन-भूमि पर बने हैं और यदि वे सहज ग्राह्य नहीं होते, तो उनमें लोगों को रस नहीं मिलता, विशेषतया तब जब उनके लिए नयी दृष्टि से काम नहीं लिया जाता। मैं प्रयोगवादियों की बात नहीं कर रहा

हूं। अभी तो हिन्दी की जनता पंत और प्रसाद को भी कठिन मानती है। प्रबन्धकाव्य की ही भांति गीत की अनुभूति-भूमि पाठक में अवश्य होनी चाहिए अन्यथा वे गीत जो केवल वैचित्र्यपरक होंगे, सबके हृदय को नहीं छू सकेंगे। उर्दू शैली के मुक्तकों में रीतिकाव्य के मुक्तकों की भांति चमत्कार उत्पन्न करने की परम्परा प्राप्त होती है, किन्तु उसका दायरा इतना संकुचित है कि वह जीवन के प्रेम और विरह, तथा इनके माध्यम से ही ईश्वर और आत्मा के सान्निध्य के अतिरिक्त बाहर का जगत् देखने की सामर्थ्य नहीं रखती।

[२०] संक्षेप में यही वर्तमानकाल का विवेचन है, जिसे आज तक आलोचकों ने बहुना देखा है, किन्तु यही पूर्ण नहीं है। इसमें हम जीवन के सांगोपांग चित्रण को नहीं देखते, काव्य के सच्चे महत्त्व को नही समझ पाते। हमें बदलती शैलियों के लिए सदैव तत्पर रहना पड़ेगा। समस्त वाद जो आलोचक के क्षेत्र में उल्लिखित है, वे जीवन के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण है। हमें उनकी दृष्टि से न देखकर काव्य को जीवन के प्रति देखना आवश्यक है।

[२१] हमारी शास्त्रीय परिपाटी, जो रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि के माध्यम से काव्य को आंकती थी, जिसमें भाव, विभाव, प्रकृति के नपे-तुले आलंबन, उद्दीपन आदि थे, वह भी आधुनिक 'वाद' विवाद की भांति अपूर्ण है। कविता को खंड-खंड करना ठीक नहीं।

नयी कविता नयी है, उसे नये मानदण्ड चाहिएं। प्रयोग और प्रगति, दोनों को ही नयी दृष्टि चाहिए। बल्कि यह कहना कठिन है कि कौन-सा कवि प्रयोग में है, कौन प्रगति में है। परन्तु नयी कविता क्रम-विकास में पुरानी कविता के बाद उदित हुई है। अतः उसको जांचनेवाले मानदण्ड भी एकदम ऐसे नहीं हो सकते जो पुराने मानदण्डों को बिलकुल ही अस्वीकार कर दे। पितामह और पिता के मूल्यांकन के समय हम उन-उनके युगानुकूल मानदण्डों को देखते हैं। उसी प्रकार अब भी देखना होगा। परन्तु तीनों पीढ़ियां मनुष्य की हैं, जिनमें भाव समान है। वही काव्य पर भी लागू होता है। 'समान' को 'शाश्वत' नहीं कहना चाहिए। जिस प्रकार 'सिने संगीत' शास्त्रीय संगीत के व्याकरणवत् नियमों से नहीं जांचा जा सकता, परन्तु 'स्वर' दोनों में प्रधान रहता है, उसी प्रकार प्रत्येक काव्य में 'भाव' मुख्य है, उसकी अभिव्यक्ति किसी भी प्रकार क्यों न हुई हो। मनुष्य की मूल आवश्यकता भोजन और यौन-तृप्ति है, काव्य की भाव-जागृति और सौंदर्य-सृजन। परन्तु जिस प्रकार मनुष्य का चित्रण भक्षण और मैथुन में समाप्त नहीं हो जाता, उसी प्रकार काव्य केवल भाव-मात्र के निरपेक्ष वर्णन में नहीं है, और उसके द्वारा सृजन किया हुआ सौन्दर्य भी निरपेक्ष नहीं है। मनुष्य समाजगत प्राणी है और मनुष्य के मनुष्यत्व की परख उसके व्यक्ति में समाप्त नहीं हो जाती, उसी प्रकार काव्य भी समाजगत वस्तु है और काव्य के काव्यत्व की परख उसके साधारणीकरण पर होती है। जिस प्रकार समाजगत मनुष्य की

इकाई उसका व्यक्ति है, उसी प्रकार समाजवस्तु-काव्य की अनुभूति व्यक्ति में होती है। जिस प्रकार मनुष्य के लिए समाज और व्यक्ति अन्योन्याश्रित हैं, उसी प्रकार काव्य के लिए लोकपक्ष और व्यक्तिपक्ष अन्योन्याश्रित हैं। जिस प्रकार मनुष्य का मंगल व्यक्ति-परक नहीं है, उसी प्रकार काव्य का मंगल व्यक्तिपरक नहीं है। दोनों की अवस्था और आस्था सामूहिक जीवन के मूलाधार तथा आदान-प्रदानरूपी शब्द-व्यवस्था पर आधारित है। अतः काव्य के अंगों के रूप में ध्वनि, रीति, अलंकार और वक्रोक्ति मान्य हैं; परन्तु वे ही सब कुछ नहीं हैं। पुरानी परम्परा का सर्वश्रेष्ठ स्वीकार लेने पर प्रगति संकुचित नहीं रहती। वह जीवन की सर्वांगीण चेतना का विकास है। वह समाज-पक्ष में लोक-वैषम्य में प्रेम-भावना का पक्ष लेकर चलती है और अभिव्यक्ति में मनुष्य की कल्पना को समृद्ध बनाती है। सौन्दर्य सापेक्ष है अतः वह नयी अभिव्यंजनाओं को स्वीकार करता है। प्रेम, वासना आदि जीवन के प्रति अधिक सजीव अनुरक्ति पैदा करनेवाली अनुभूतियां काव्य का आवश्यक अंग हैं। वैराग्य की वह सीमा जो चेतना को व्यापक बनाकर, परानुभूति के प्रति उन्मुख बनाकर, केवल ऐंद्रियपरकता रोकती है, श्रेष्ठ है। यूरोप से आए हुए विभिन्न वाद निम्नमध्यवर्गीय गतिरोधों में पैदा हुए पलायन हैं। उनके प्रयोग शैली-अभिव्यक्ति तक मान्य हैं। प्रतीकों का सृजन काव्य के लिए आवश्यक है। केवल मजदूर-किसानों पर लिखी कविता, घिसी-पिटी नारेबाजी, राजनीतिक कार्यक्रमों की तुकबन्दी, और व्यक्ति-वैचित्र्य की अतिकुण्ठा कविता नहीं है। न उपादेयता के नाम पर उपदेशात्मकता श्रेय है, न आत्माभिव्यक्ति के लिए द्रविड प्राणायामी कल्पना। काव्य में तो 'कांता उपदेशवत् सरसता' होनी चाहिए।

भरतमुनि का रस-सिद्धांत दास-प्रथावाले समाज के ह्रासकाल में जन्मा था। तब सामन्तवाद दासों को मुक्त करके भूमिबद्ध किसानों को पहले की तुलना में अधिक स्वतंत्रता दे रहा था। तब यह स्वीकार किया गया कि काव्य केवल पुरोहितों के लिए नहीं, न देवताओं के लिए है। वह तो मनुष्य के लिए समान रूप से ग्राह्य है। तब साधारणीकरण के माध्यम से भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी आदि के योग से होनेवाली रस-निष्पत्ति का सिद्धांत बना जो समाज-पक्ष को स्वीकार करता था। ज्यों-ज्यों सामन्तीय समाज का प्रगति-तत्त्व घटा, वह शोषणकर्ता बना, उच्च वर्गों ने रस-सम्प्रदाय पर हमला किया और आज के प्रयोगवाद, तथा अन्य पलायनवादी वादों की भांति, वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि, अलंकार आदि ने दरबारों में सिर उठाकर रसवाद को घटाना चाहा। परन्तु आगे बढ़ा हुआ इतिहास नहीं लौट सका। भरत के सिद्धांत-निर्माण के समय शोषण मिटा नहीं था, उसने रूप बदला था। अतः युगानुरूप बन्धन सिद्धांत पर आए। व्यक्ति-मात्र विवेचन का आधार बना और दरबारी नायक—धीरोदात्त की कल्पना हुई। समाज के ह्रास ने काव्य को दरबारों तक सीमित कर दिया। काव्य में वह जो कि मनुष्य-मात्र के लिए थी—'रति'

कही गई, क्योंकि समान हर्ष-शोक का भाव दरिद्र-धनी सभी में था। साधु, संन्यासी संसार से दूर होने के कारण, 'सहृदय' नहीं कहला सके। फिर भी एक अभाव रह गया कि एक ही काव्य, समान धर्म के रहते हुए भी, सहृदयता के होते हुए भी, प्रत्येक जाति या वर्ग को रुचे, यह आवश्यक नहीं है। रसवादी मानता है कि एक भाव किसी भी देश-काल में वही भाव जगा सकता है। परन्तु यह आंशिक सत्य है। अत्याचारी जिसे वीरता कहता है, शोषित उसे बीभत्सा। युगों की बदलती मान्यताएं बदलता प्रभाव डालती हैं। रसवादी 'पूर्वानुराग' और 'आश्रय में तत्पर भावभूमि' चाहता है। परन्तु जब 'भाव-जागरण' 'साधारणीकरण' पर निर्भर है तब 'रति' व्यक्तिपक्षीय है, 'मानवीयता' ही देश-काल से निरपेक्ष नहीं होने देती, और काव्य को 'लोक' के पास ले जाती है। भारतेन्दु ने जिसे सामन्तीय परिवेशों से लोकानुगत करना चाहा, 'प्रसाद' के शब्दों में जो यथार्थ की परम्परा थी, वह नयी भूमि और पुराने आधारों का अनुकूल मिलन ही था।

यूरोप में सामन्तवाद को हराकर पूंजीवाद का उदय हुआ, भारत में उपनिवेशवाद के कारण विरोध भी हुआ और सह-अस्तित्व भी। पूंजीवाद के इस द्वन्द्व ने जनसाहित्य का सृजन नहीं किया। छायावाद के रूप में केवल उच्च वर्गीय स्तर पर विरोध हुआ। प्रयोगवाद ने कुत्सित समाजशास्त्र का विरोध किया, परन्तु वह भी 'जन' तक नहीं उतर सका।

जिस प्रकार भरत के समय में रस-सिद्धांत ने पुरोहित-वर्ग का विरोध किया था, छायावाद ने अपने मध्यवर्गीय दृष्टिकोण से काव्य को सामन्तीय ढांचों से मुक्त किया। भाव का आधार लेने पर भी, शैली में व्यंजना की प्रधानता उसकी सीमा बन नई।

हमारे नये मानदण्ड 'मत' या 'वाद' पर नहीं जनम सकते। उनका मूल तो मानव का कल्याण है, जिसमें सौन्दर्य-तत्त्व की विविध समृद्धि हमें मान्य है। पुराना मानववाद वर्ग-संघर्ष से अपरिचित था। आज वर्ग मिट रहे हैं और मानव पुराने विचारों को छोड़ रहा है। पुराना मानववाद 'समानभाव' के नाते व्यक्तिपरक था। नया मानववाद 'समान समाज और समान व्यक्ति', दोनों को मानता है। जीवन-धर्म की नैतिकता का सत्य आज कल से कहीं अधिक स्पष्ट हो गया है।

[२२] सन् १९३२ ई० से सन् १९५८ ई० तक के समय को ऐतिहासिक और राजनीतिक रूपों में इस प्रकार रखा जा सका है :

(अ) सन् १९३२ ई० में गांधीजी का नमक-आन्दोलन समाप्त होने पर राजनीतिक हलचल कम पड़ गई थी। वामपक्षीय चिंतन की वृद्धि, सामन्तीय जीवन के विरोधी छायावाद की समृद्धि, तथा जनवाद की ओर झुकाव बढ़ रहा था।

(आ) सन् १९३५ ई० से व्यक्तिवादी चिंतन का विद्रोही तत्त्व काव्य में अपना प्रभाव डालने लगा। उसमें सौन्दर्य और पलायन बाह्यरूपेण होते हुए भी समाज पर प्रहार

करने में अधिक समर्थ थे। कांग्रेस-मंत्रिमंडल बने और विदेशी साम्राज्य निर्बल हुआ। रूसी समाजवाद का प्रभाव अधिक बढ़ने लगा।

(इ) सन् १९३९ ई० में महायुद्ध प्रारम्भ हुआ। देश में विक्षोभ की लहर फूट चली। व्यक्तिवादी चिंतन अधिक संयत हो चला। देश में फिर से निराशा का क्रोध व्याप्त हुआ। कांग्रेस-मंत्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दिया।

(ई) सन् १९४१ ई० से रूस-जर्मनी युद्ध ने वामपक्षीय चिन्तन को अधिक शक्ति दी। युद्ध की विभीषिका बढ़ी। मार्क्सीय चिंतन का प्रभाव बढ़ा। १९४२ ई० में देशव्यापी विप्लव ने राष्ट्रीय जागरण फैलाया।

(उ) सन् १९४५ ई० में कांग्रेसी नेता जेलों से छूटे। जन-आन्दोलन तीव्र हुए। देश में प्रतिक्रिया—साम्प्रदायिकता भी बढ़ी।

(ऊ) सन् १९४७ ई० में देश स्वतन्त्र हुआ। व्यक्तिवाद और कुत्सित समाज-शास्त्र का द्वन्द्व खड़ा हुआ, किन्तु मानववाद की परम्परा ही विकास कर सकी।

(ए) सन् १९५२ ई० से राष्ट्र में निर्माण की गति बढ़ी। भारत अंतर्राष्ट्रीय पद पर पहुंच गया। रूस की व्यवस्था में व्यक्ति-स्वातंत्र्य का हरण प्रकट हुआ, जिससे 'मानववाद' के प्रति आसक्ति बढ़ी। युद्ध का खतरा अवश्य बना रहा।

—इसी आधार पर काव्य के रूप यों बनते हैं :

(अ) द्विवेदीकालीन काव्य का अन्तिम रूप। छायावाद को मान्यता की प्राप्ति।

(आ) व्यक्तिवादी चिन्तन-प्रधानता। अरूप के विरुद्ध विद्रोह। काव्य को सरल करने में नये रूपों का विकास। विध्वंस और विद्रोह की प्रधानता।

(इ) वेदनावादी साहित्य का जनवादी तत्त्वों से भरना। राष्ट्रीय काव्य का व्यापक प्रभाव। चित्रण-भूमि का विस्तार। प्राचीन के प्रति मोह। गांधीवादी सादगी और त्याग का प्रभाव। व्यक्तिवादी क्षेत्र में वेदांत का प्रभाव।

(ई) अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण। युद्ध की निर्ममता का विरोध। जनवादी आधार-भूमि का निर्माण।

(उ) राष्ट्रीय चिन्तन और परम्परा का जनवादी तत्त्व में मिलकर 'विश्वमैत्री' की भूमि में उतरना।

(ऊ) समग्र मानववादी परम्परा का विकास।

(ए) व्यक्ति की अभिव्यंजना के नये स्रोतों में नई आस्था द्वारा मानववाद को स्थापित करना।

[२३] संक्षेप में इतिहास के इस छोटे-से काल-खण्ड का कार्य है—व्यक्ति से लोक की ओर आगमन और व्यक्ति का लोक में अधिकाधिक विकास साधन। केवल राजनीति ही मनुष्य की समग्रता नहीं। मनुष्य का सांगोपांग चित्रण।

[२४] हमने व्यक्ति और समाज दोनों का विकास देखा है। स्थायी तत्त्व ढूंढ़े हैं। मैं आलोचना की भूमि में संस्कृति के नये भवन की नींव डालता हूं। व्यक्तियों को ही नहीं, मैं समग्र काव्य को देखता हूं, व्यक्ति और समाज का सन्तुलन निर्धारित करता हूं। समग्र मानव ही मेरे विकास का माध्यम है।

[२५] मानव ही शताब्दियों से काव्य का मूल रहा है। सृष्टि तथा परमात्मा मानव के द्वारा ही उसके अपने कार्य-व्यापार के प्रसार के लिए साहित्य में आए हैं। इसी-लिए मैंने वादों को प्रमुखता नहीं दी है। किसी युग-विशेष में एक ही विचारधारा नहीं होती। केवल प्रमुख धारा को पकड़ लेना परीक्षा की दृष्टि से अध्यापकीय गाइड लिखने के लिए भले ही सरल हो, किन्तु जब संस्कृति को देखा जाता है तब युग और स्थान-विशेष में उस सम्पूर्ण अभिव्यंजना को देखना चाहिए जोकि उस देश-काल में अवस्थित हो। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक युग में एक ही विचार प्रचण्ड होता है किंतु उसी समय अन्य विचारधारा का, या अन्य किसी शैली को अपनानेवाला भी श्रेष्ठ कविता लिख जाता है। उसे फुटकर में डालना नितांत अवैज्ञानिक है। होना तो यह चाहिए कि प्रत्येक विचार तथा शैली का अध्ययन किया जाए। भारतीय चिंतन में तो यह विशेषता है कि एक समय में अनेक विचारधाराएं विद्यमान होती हैं और किसी विशेष परिस्थिति में एक अपना सिर उठा देती है, तो दूसरी में कोई और ही आगे आ जाती है। मैंने साम्प्रदायिकता के बन्धनों को नहीं देखा, केवल काव्य की उपलब्धियां देखी हैं, चाहे वे कहीं भी क्यों न मिल जाएं, और इसमें मेरी दृष्टि मानववादी है, तभी वह इतनी सहिष्णु हो सकी है। मैं तो प्रत्येक वाद को गौण रखकर कृति का अध्ययन करना अपना कर्तव्य मानता हूं। कवि स्वयं अपनी व्याख्या क्या करता है, वह मेरे लिए अधिक मूल्य नहीं रखती, वरन कविता क्या कहती है, मैं तो इसीको अपने सामने रखता हूं और इसीको अपनी व्याख्या का आधार बनाता हूं।

लोक में भाव का उत्स मानव को पारस्परिक संपर्क से प्राप्त होता है। किसी युग-विशेष में प्रायः ही हम स्वरों की या शैली की एकता प्राप्त करते हैं। जब समस्या और परिस्थितियां बदल जाती हैं, तब नयी अभिव्यक्तियां अपना विकास करने लगती हैं। छायावाद भी ऐसा ही एक परिवर्तन था। यहां मैं स्पष्ट कर दूं कि छायावाद को मैं कोई वाद नहीं मानता। छायावादी कवियों—प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी में मुझे कोई विशेष एकस्वरता नहीं मिलती, जिसके कारण यह नाम दिया जाए, किन्तु अध्याप-कीय आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस नाम का प्रचलन कर दिया। वे इसे पूरी तरह समझ नहीं सके थे। वे अन्त तक प्रसाद और निराला में अलंकार ढूंढ़ते रहे। फिर भी वे विद्यार्थियों के दृष्टिकोण से लिखते थे। उन्होंने इन विभिन्न प्रकार के कवियों की कविताओं को एक धारा का नाम देने की चेष्टा को स्वीकार कर लिया। अवश्य श्रीमती

महादेवी वर्मा ने अपने छायावाद की व्याख्या करने की चेष्टा की है। परन्तु वह कोई महत्त्व की बात नहीं है। वस्तुतः आधुनिक काव्य का नया ही काल-विभाजन आवश्यक है।

सामन्तीय ह्रासकाल में, १७४० ई० से १८५७ ई० तक हिन्दी म सब तरह काव्य का ह्रास हो रहा था। इस समय को अभी तक उत्तर रीतिकाल कहा जाता है, जबकि यह गलत है। इस समय जहां एक ओर दरबारी कविता लिखी जा रही थी, वहां पलटूदास, दयाबाई, सहजोबाई, दूलमदास, तुरसी साहेब इत्यादि अनेक कवि संतकाव्य की परम्परा को आगे बढ़ा रहे थे। आचार्य शुक्ल इसे नहीं देख सके थे। वे शेख निसार और नूरमुहम्मद जैसे सूफी कवियों के भीतर इस युग-विशेष में आए परिवर्तन को भी नहीं पकड़ सके, क्योंकि उन्होंने तो धाराएं पकड़ीं, यह नहीं देखा कि एक ही विचार का विभिन्न परिस्थितियों में कैसा विकास होता है। यही वह काल था जब हिन्दी का फारसी-गर्भित (उर्दू) काव्य दरबारों में फल-फूल रहा था। इस काल के बाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का युग आया। वहीं से सब आधुनिक काल मानते हैं। किन्तु भारतेन्दु का युग केवल उन्मेष-काल था। उर्दू में दाग पुरातन परम्परा को लिए हुए थे, और हाली में पुनरुत्थान की भावना थी। वही हमें प्रकारान्तर से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, नाथूराम शंकर और श्रीधर पाठक में मिलती है। इसके बाद आया सुधार-युग। इस युग में हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त प्रमुख नेता थे। यों तो गुप्तजी अभी तक लिख रहे हैं और अच्छा भी लिखते हैं। परन्तु उनकी विषय-वस्तु अपना रूप नहीं बदल सकी है।

इस काल के बाद हिन्दी में नया मोड़ आया। चूकि इसे अब छायावाद कहा जाने लगा है, सुविधा के लिए मैंने भी वही नाम प्रस्तुत किया है, किन्तु वस्तुतः छायावाद-काल की जगह नाम होना चाहिए अभ्युदय-काल। इसी युग के ज्योतिस्तम्भ प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी हैं। महादेवी और प्रसाद ने तो आगे नहीं लिखा है। परन्तु पन्त और निराला अभी तक लिख रहे हैं। अभ्युदय-काल जिस अभिव्यजना को लेकर चला था, उसकी चरमसीमा प्रसाद की 'कामायनी' में जाकर हुई। उस सीमा तक निराला, पन्त और महादेवी नहीं पहुंच सके। अवश्य ही पन्त और निराला ही हमारे आलोच्यकाल के युगप्रवर्तक कवि हैं। उन्होंने ग्राम्या और कुकुरमुत्ता आदि रचनाएं देकर आगे के मोड़ की ओर इंगित किया किन्तु उनका ही नाम गिनाना साहित्य के इतिहास के साथ अन्याय करना है। वे अपने को नये युग के लिए उपयुक्त नहीं बना सके। नयी बागडोर तो नये कवियों ने संभाली। आज की हिन्दी कविता निराला, पन्त में सीमित नहीं है। अवश्य ही यह सत्य है कि जिस क्षेत्र में एक विशेष ऊंचाई ये लोग पा चुके हैं, उतनी ऊंचाई नये कवि अपने क्षेत्र में नहीं पा सके हैं, परन्तु यह भी सत्य है कि आज की कविता इन दोनों के अतिरिक्त भी अपना एक स्वरूप रखती है।

मेरा यह कहने का तात्पर्य नहीं कि अब पन्त और निराला का लिखना व्यर्थ है। जिस प्रकार आज भी गुप्तजी मानवता को सन्देश देते हैं, और वह श्रेष्ठ भी होता है, कला की दृष्टि से भी अच्छा होता है, परन्तु वह फिर भी अपनी शैली और अभिव्यंजना तथा विषय की दृष्टि से आगे नहीं जाता, पुराने की ही परिष्कृत छवि लगता है, उसी प्रकार जिन उपलब्धियों को पन्त और निराला प्राप्त कर चुके हैं, वे उनसे आगे नहीं निकलते, वे अपनी जगह सुन्दर और पूर्ण हैं। उनका सन्देश नित्य प्राणवान है, किन्तु नई कविता उनके बाद की उपलब्धि है।

पन्तजी ने अपनी 'नम्र अवज्ञा' में उन लोगों को उत्तर दिया है जो समझते हैं कि अब उनका लिखना व्यर्थ है। वे लोग यह भी नहीं देखते कि पन्त की उपलब्धि का निखार अपने क्षेत्र में दिन-दिन बढ़ रहा है।

पन्तजी कहते हैं :

वे कहते :
मैं भाव नहीं, केवल प्रभाव हूँ,
सूझ नहीं, केवल सुझाव हूँ !
सच यह :
मैं केवल स्वभाव हूँ !
वे कहते :
मैंने प्रकाश को ग्रहण किया
इससे···उससे···
जिससे···तिससे ··
किससे···किससे···।
सच यह :
स्वयं नहीं छू पाये वे प्रकाश को,
उसे समझते वे
इससे···उससे···
जिससे···तिससे···
औ' जाने, किससे···किससे।
अधिक क्या कहूँ ?—सत्य गूढ़।
पर, सबसे भले विमूढ़ !

बहुत नाराज़ होकर लिखी गई कविता है। पर पंतजी का गुस्सा भी ठीक ही है।

नया हो जाने से ही सब कुछ अच्छा माना जाए, ऐसा करना मूर्खता है। गुप्त और पंत की अपनी विशेष अभिव्यक्तियां हैं। यह उनके काव्य-व्यक्तित्व का विकास है।

उसे देखना बहुत आवश्यक है।

अभिव्यक्ति के माध्यम के कोण का बदल जाना यह प्रकट नहीं करता कि उससे 'श्रेय' बदल जाता है, परन्तु काव्य के इतिहास के बदलते रूपों में उसका अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है। गुप्तजी और पंत, निराला आदि पर हिन्दी में तो भी कुछ लिखा जा चुका है। उनके बाद के युगों का अध्ययन तो बहुत ही अनर्थपूर्ण हुआ है, क्योंकि आलोचकों ने आचार्य शुक्ल की सरल अध्यापकीय प्रवृत्ति अपनाकर वाद-भूमि पर काव्य का खंडित अध्ययन किया है और नये स्वरों को पूर्णतया नहीं देखा है।

यहां हम उसीका अध्ययन करेंगे।

[२६] आगे बढ़ने से पहले मैं यहां एक बात और स्पष्ट कर देना चाहता हूं। किसी भी युग का कवि अपने सामने एक ध्येय रखता है। इससे उसके भीतर एक अपना सत्य जन्म लेता है। यह युग और व्यक्ति का परस्पराश्रित सत्य होता है। इसमें व्यक्ति की लघुता और महत्ता, दोनों ही रहती है। इसीके साथ एक सत्य युग-युग का होता है। वह युग-युग का सत्य क्या है? वह 'कला कला के लिए' नहीं है। वह किसी समाज-निरपेक्षिता में नहीं है, वह है मानव के कल्याण का सत्य। एक समय था जब राजाओं के वैभव का यशोगान, उनकी वीरता की स्तुति कवि का युग-सत्य था। एक और समय आया जब देवता की स्तुति उसका ध्येय बनी। एक बार और उसने परमात्म की धुन छेड़ी। एक बार और ही रूप बदला और वह स्त्री के सौन्दर्य में डूब गया। युग और देश के विशेष बंधनों में मनुष्य ने विभिन्न सत्यों का साक्षात्कार किया। किन्तु हम अब प्रत्येक रचना का मूल्यांकन उस युग की सीमा और उस युग की परिधि के भीतर नहीं करते। हम काव्य की विरासत को सौन्दर्य के विकास के रूप में लेते हैं। आचार्य शुक्ल ने वीरकाव्य को तो इसी दृष्टि से देखा। किन्तु रीतिकाव्य की सुन्दरता को वे मानववाद की व्यापक भूमि पर कसने की बजाय, रीतिकाव्य की सीमाओं के भीतर ही खोजते रहे। यह उनकी अध्यापकीय मनोवृत्ति थी।

युग के परिवर्तन ने हिन्दी-काव्य को नये रूप दिए। भारतेन्दु में पुरातन और नवीन का मिलन हुआ और फिर हम नवीनता की ओर अधिक खिंच चले। हिन्दी के आलोचकों ने इन समस्त युगों को प्रायः ही मानववाद की भावभूमि पर देखने की चेष्टा की। परन्तु वे पूर्ण न्याय नहीं कर सके, क्योंकि उन्होंने 'छायावाद' शब्द को पकड़ा, उसके 'अभ्युदय' को नहीं लिया। प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी भारतीय संस्कृति में एक नये अभ्युदय हैं। यह सत्य किसी आलोचक ने स्वीकार नहीं किया। जिसे अंग्रेजी में रिनेसां कहते हैं, वह इन्हींका लाया हुआ है। इन्हीं लोगों ने कवि के सत्य को युग के सत्य से एकाकार करने के भीम प्रयत्न में सफलता पाई और इसीलिए इन्होंने महाकवि होने का भी गौरव पाया। फिर भी इनमें एक कमी रह गई कि ये कवि जनता तक नहीं

उतर सके। आज हिन्दी के कवि जनता तक उतर जाना चाहते हैं। इनके बाद सर्वश्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', उदयशंकर भट्ट, रामधारीसिंह 'दिनकर', हरिवंशराय 'बच्चन', नरेन्द्र शर्मा, 'अंचल', सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय', गिरिजाकुमार माथुर, नरेश मेहता, नीरज, जानकीवल्लभ शास्त्री, वीरेन्द्रकुमार जैन इत्यादि अनेक कवि हैं, जो नये-नये प्रयोग कर रहे हैं।

तो कवि का सत्य एक ही युग में सदैव एक ही नहीं रहता। वह अपनी अभिव्यक्ति के अनेक मार्ग निकालता है। प्रगतिवाद, व्यक्तिवाद, प्रयोगवाद आदि विभेद एक ही सत्य के विभिन्न दृष्टिकोण हैं। किसीमें दल-विशेष, किसीमें व्यक्ति-विशेष, किसीमें व्यंग्य-विशेष को महत्त्व दिया जाता है। अंततः सारे कवि मार्ग पाना चाहते हैं, मानवता को सुख देना चाहते हैं। वर्ग-संघर्ष या वैयक्तिक विद्रोह या समाज की विकृति पर आघात, यह सब दृष्टिकोण के प्रकारांतर हैं। किसी भी एक में पूर्णता नहीं है, यह मैं आगे स्पष्ट करूंगा। परन्तु मैंने प्रत्येक को देखने की चेष्टा की है और किसीके प्रति भी पूर्वाग्रह से काम नहीं लिया है, क्योंकि मैने 'सत्य' को अपना दृष्टिकोण नहीं मान लिया है। आलोचक होते ही व्यक्ति का 'सत्य' झुक जाना चाहिए। आलोचक का काम है कवि के 'सत्य' को मानवता के 'सत्य' से मिलाकर देखना, न कि अपने 'सत्य' को दोनों पर हावी कर देना। इसीके अभाव में आलोचक निष्पक्ष नहीं रह पाते, क्योंकि फिर आलोचक कवियों से ऊपर अपने को समझने लगता है, और वह युग की उपलब्धि और उसके आयाम प्रस्तुत न करके अपनी उपलब्धि और प्रतिभा को प्रस्तुत कर बैठता है। साहित्य के किसी भी युग में एक ही स्वर और अभिव्यक्ति की प्रधानता होना उस युग में मौलिक प्रतिभाओं का अभाव प्रकट करता है। हिन्दी में एक ही स्वर को देखने की प्रवृत्ति आचार्य शुक्ल की देन है। हमारे यहां इतिहास में भी यही गलत मनोवृत्ति अपनाई जाती है। हम केवल यही दिखाते हैं कि अलाउद्दीन या मुहम्मदशाह तुगलक का शासन कैसा था, इन्होंने अपने साम्राज्यों को दृढ़ करने के लिए किस-किसको कुचला, जबकि हमें दिखाना यह चाहिए कि उनके समयों में किस प्रकार के विद्रोह हुए और उनका क्या प्रभाव पड़ा। दृष्टिकोण का यह भेद ही सारी गड़बड़ का मूल है।

हमारा आलोच्य काल २५ या २६ वर्ष का एक छोटा-सा कालखण्ड है! यह कोई खेद की बात नहीं कि हिन्दी ने जिन ऊंचाइयों के कवि देख रखे हैं, उस ऊंचाई के कवि इस युग में हमें नहीं मिलते, यदि हम व्यक्तिरूप में उनकी खोज करें। प्रत्येक उपलब्धि एक ऊंचाई पर पहुंचाती है। नयी उपलब्धियों में कोई भी ऊंचाई का कवि नहीं हो पाया है। किन्तु इतने छोटे-से कालखंड में ही कोई महाकवि मिल ही जाना चाहिए, यह दृष्टिकोण भी ठीक नहीं है। इन्हींमें कौन आखिरी कलाम में कमाल कर जाएगा, अभी यह कौन बता सकता है? कवि निरंतर आगे बढ़ रहे हैं। दिनकर का 'कुरुक्षेत्र', नवीन

का 'उर्मिला', प्रभात की 'ऋतंवरा' इसी ऊंचाई की ओर को संकेत हैं। आज के युग में कवि अभी एक पूर्ण जीवन-स्वप्न नहीं खोज पाए हैं, तभी वे ऊंची चोटी तक पहुंच नहीं पाए हैं। कौन पहुंचेगा यह अभी नहीं कहा जा सकता। एक नीम-आलोचक ने इसे बौनों का युग कहा था। मैं इसे कुत्सा कहता हूं। कहनेवाला स्वयं बौना है। बौनों के हाथ निरंतर आगे और ऊपर उठते हुए नहीं दिखाई देते। हमारे यहां यदि व्यक्ति रूप से अभी पूर्ण उपलब्धि नहीं भी हुई तो भी क्या डर है। जहां तक युग का प्रश्न है, जितना सत्काव्य इस युग में जन्मा है, उतना पुराने युगों में नहीं मिलता। और फिर कवि निरंतर बढ़ रहे हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि तुलसी ने साठ वर्ष की उम्र में 'मानस' लिखा था और अस्सी वर्ष की आयु में गेटे 'फॉस्ट' की रचना कर सका था। नयी कविता व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों का गहरा विश्लेषण ही नहीं है, वह व्यक्तित्व के विकास की भी ज्वलंत कहानी है। अभी उससे आशाएं हैं और वे अवश्य ही फलवती होंगी। प्रगति, प्रयोग इत्यादि को हम सहज ही ध्वनि, वक्रोक्ति इत्यादि के नये रूपांतर कह सकते हैं। हम किसी भी कवि की रचना देखते हैं तो वह अपने 'कथ्य' के अनुरूप नहीं उतरता।

सामीप्य और संसर्ग के आलम्बन

प्रकृति के प्रति हृदय तब उन्मुख होता है, जब किसी प्रकार की तन्मयता अपने को विभोर करने की चेष्टा करती है। मनुष्य को समाज में अनेक कार्य हैं। वह उनमें तल्लीन रह सकता है, किन्तु उनमें उसका जब मन पूरी तरह से आत्मसात् नहीं हो पाता, तब वह अपने को और भी बड़े दायरे में फैला देना चाहता है। उस समय वह सौन्दर्य के उन मानदण्डों की ओर जाता है, जिनका मूल्य अधिक स्थायी होता है। मानवीय मूल्य प्रायः ही बदलते रहते हैं। आज कुछ विशेष नैतिकता है, कल कोई दूसरी उसका स्थान ले सकती है। साहित्य में कवि का हृदय युग से प्रभावित होते हुए भी मानव-मात्र को अपने सामने रखता है। और मानव के रूप में चेतना के उस प्रवाह को वह ग्रहण करता है, जो-कि अतीत से चलकर वर्तमान में आया है, और वर्तमान से भविष्य में चला जाएगा। इसी-लिए वह उन आधारों को ग्रहण करने की ओर सहज रूप से उन्मुख होता है, जिनमें रूप को धारण किए रहने की सामर्थ्य तुलनात्मक रूप से अधिक होती है।

प्रकृति एक माध्यम है, जिसके द्वारा मनुष्य की यह तृष्णा पूरी होती है, क्योंकि अपने बनाए हुए से अधिक चमत्कार उसे उसमें लगता है, जो उसका अपना बनाया हुआ नहीं है ; जो कल भी था, आज भी है और कल भी रहेगा। यह संप्राप्ति उसे नये मार्ग की ओर चलते समय भी बताती है कि उसका अतीत से भी एक अरूप सम्बन्ध है।

समग्र का सौन्दर्य जब व्यक्ति की रूप-तृष्णा को प्रभावित करता है, तब वह एक रहस्य का भी अनुभव कर लिया करता है। इसी भावना को पुराने शब्दों में चिरन्तन की प्यास कहा जा सकता है।

प्रकृति अपने-आप उससे कुछ कहा-सी करती है और सहृदय उसकी बात को सुनता भी है, क्योंकि इसमें उसे सान्त्वना मिलती है। मनुष्य प्रकृति के महान रूप में अपने को मिला हुआ देखना चाहता है, तादात्म्य चाहता है।

आज पीपल की हरी उन हरहराती पत्तियों में
कौन कैसे प्राण जगकर कह गए कुछ उर-कुहर में ?
कह कुहर में तज पिपासित हृदय रोता विकल आकुल
फिर वही चिर टीस भरते चिर विरह से विधर व्याकुल

ज्योति-सी उर से निकल औ' ज्योति-सी उर से प्रकृति के
मिल अचानक,क्षण चकित कर लीन होती किस गगन में ?
आज मेरे प्राण पर ओ प्राण! डालो स्निग्ध छाया
भयद उस सौन्दर्य-शशि की अथक अपार अगाध माया
आज मेरे प्राण उमड़े मानते ना स्थूल बन्धन
ज्योति में निज को मिटाकर ही मिलेंगे क्या छिपे कन ?

—राजेन

संवेदना का जागरण होता है प्रकृति के आवाहन से। मनुष्य उसे प्राप्त कर लेना चाहता है, किन्तु उसे फिर भी यही लगता है कि वस्तु को वह पूरी तरह से ग्रहण नहीं कर सका है, उसमें एक आकुलता बची ही रह जाती है, उसके भीतर भी एक ज्योति है, जो समग्र की ज्योति से मिल जाती है, किन्तु वह अंततोगत्वा कहां जाकर लीन हो जाती है, यह वह नहीं जान पाता। तभी वह चाहता है कि सौदर्य का अवाक् कर देनेवाला, मन में एक आशंका उत्पन्न कर देनेवाला, विस्मय से विमूढ़ कर देनेवाला मायावी स्वरूप किसी प्रकार उसके सामने प्रकट हो जाए। उसकी चेतना स्थूल के बन्धन में ही सीमित नहीं रह जाना चाहती। वह तो ज्योति बनना चाहता है। किन्तु फिर भी वह संदेह से सोचता है कि जब ज्योति में ज्योति मिल जाएगी तब फिर छिपा हुआ गोपन रूप रह ही क्या जाएगा ? क्या गोपन की खोज में अपने को मिटा ही देना होगा ?

'सावन मेघ' के रूप में कवि इसी प्रश्न को स्थूल दृष्टिकोण से देखता है और मानवी सौन्दर्य के प्रति उसकी दृष्टि अधिक दिखाई देती है। वह अपनी वासना में ही प्रकृति को आंकता है :

घिर गया नभ, उमड़ आए मेघ काले
भूमि के कम्पित उरोजों पर झुका-सा
विशद, श्वासाहत, चिरातुर छा गया इन्द्र का नील वक्ष—
वज्र-सा, यदि तड़ित से झुलसा हुआ-सा।
आह, मेरा श्वास है उत्तप्त—
धमनियों में उमड़ आई है लहू की धार

—अज्ञेय

उन्माद की भांति, तन्मयता की वासना भी तीव्र होती है :

मैं हरित वन की बांसुरी हूं। श्याम के मधुमय अधर की वारुणी पीकर बावरी हो चुकी हूं। साधना में स्वर्ण-सा गलकर, वेदना की अग्नि में जलकर प्रेम की लोहित शलाका से कोमल मर्म में छिद्र कर मैं मृत्यु में जीवन छिपाकर नागरी बन गई हूं। मेरे नाभिसर में अमरता की माधुरी है।

घुमड़ते रस-मगन मन-घन
सिहरते युग नयन-खंजन
फूटते मृदु प्रणय-निक्वण
मर्मध्वनि, स्वर-वर्ण, कम्पन
फूँकता जब श्याम मेरे प्राण में उच्छवास री,

—रामदरकबालसिंह 'राकेश'

'सृजन में चिर क्वासि का सम' इस तल्लीनता की ही खोज है। कवि के अंतस् में आनन्द एक प्रकार से फूट निकला है। राकेश में प्रकृति के निराले चित्र बहुधा मिल जाते हैं।

कवि की पूंजीभूत वासना उमड़ आई है। एक दिन रवीन्द्रनाथठाकुर ने कहा था :

आमार वासना आजि
त्रिभुवन उठे बाजि
कांपे नदी वनराजि वेदना भरे।

उसी प्रकार यह वासना उतनी प्रचण्ड न होते हुए भी दुरंत और व्यापक है। अतृप्ति घहरा रही है।

आकाश इन्द्र की भांति पृथ्वी पर झुकता है। कवि का प्यार अभिशप्त है। वह भी वही स्वतन्त्रता चाहता है लेकिन उसका दुर्भाग्य है कि दिल में तो बहुत कुछ है, लेकिन जिसका यह सारा खेल है वह नारी उसके पास नहीं है। अतः वह पुकार उठता है। पुराने लोग वासना में अनेक कल्पनाएं करते थे किन्तु इस तरह नहीं बुला उठते थे।

'मजदूरिन की लोरी' में वासना मातृत्व के स्थिर रूप को पकड़ती है। वहां सतही दुनिया नहीं है। एक में व्यक्तिवादी निराशा है, तो दूसरे में कोमलता आकर प्रकृति को सौजन्य से भरकर प्रस्तुत करती है। मां अपने बच्चे को सुलाती है :

ओरी निंदिया धीरे-धीरे सम्हल-सम्हल कर आजा री !
देख न छम-छम बजे पयलिया सोये मेरा राजा री !
निंदिया री तू आ जा री !
चुप चुप चुप चुपचाप अभी से सो जा नन्हा-मुन्ना रे !
मत करना तू बात किसीकी बात नहीं तू सुनना रे !
ठंडा चूल्हा देख न डर तू ले मैं मंतर पढ़ती हूँ
मिट जायेगी भूख अरी ओ निंदिया भूख मिटा जा री !
कच्चे-पक्के सारे सुपने झूठे, झूठी दुनिया है
मिल का भोंपू सच्चा, सच्ची लोहे की फिर कनियां हैं
धुन देती है रुई कि खट खट खट रोटी बुन देती है

पलकें रोटी बुनें, उन्हें ऐसी फिरकनी बना जा री !
निंदिया री तू आजा री !

—राजनारायण बिसारिया

यहां कवि प्रकृति को मानवीय वातावरण में भी उतार लाता है। लोरी प्रायः ही पलायन के सौन्दर्य को अंकित करती है। लोक-गीतों में यद्यपि लोक-जीवन प्रतिबिंबित होता है, जैसे दक्षिण भारत की कन्नड की एक लोरी है—अरे ! देखो ! नारियल का व्यापारी आ गया ! वह नीले समुद्र के किनारे से अपना जहाज लाता है इत्यादि। किंतु इस प्रकार के गीतों में भी एक स्वप्निल छाया-सी व्याप्त रहती है। मज़दूरिन की मानसिक भूमि इतनी व्यापक नहीं है। उसने अपने जीवन के संघर्ष को भी इस सौन्दर्य-वेला में एकरस कर दिया है। पलकों के रोटी बुनने की कल्पना वास्तव में अनूठी है। ऐसे चित्र मूलतः प्रकृति की परिकल्पना में लिखे जाते हैं, परन्तु उनका सम्बन्ध अपने लौकिक जीवन से जोड़कर उन्हें भावपक्ष के अधिक समीप बनाया जाता है। इससे पहले अमूर्त में मूर्त को प्रस्तुत किया गया था, और इसमें उसकी उल्टी बात दिखाई देती है।

प्रकृति के वे चित्र जो उसे मानवीय रूप में प्रस्तुत करते हैं, वे अभिव्यंजना के क्षेत्र में अपनी रंगीनी को अधिक प्रसार देते है। इसीके साथ जब किसी मत-विशेष को भी कलात्मक रंग देकर रखा जाता है, तो मत से अधिक हम चित्र में ही उलझते हैं :

क्षितिज-तीर से आ रही है उतरती
बढ़ाती सुनहरे चरण
कलश शीश पर स्वर्ण का ले सकुचती
पहनकर सिंदूरी वसन
सितारे गगन के छिपे दूर जाकर कहीं
गये सो निशा के मधुर स्वप्न जाकर कहीं
नहीं शेष पथ पर रही अब तिमिर की घटा
थिरकने लगी पूर्व में एक स्वर्गिक छटा
अरे वह उषा का नवल आगमन है
कि जो ला रहा जागरण
अमर पर्व है आज नववंदना का अरे
सभी के हृदय हर्ष की भावना से भरे
न जायें पुण्य देश की अर्चना के
कहीं ये सलोने सुमन
उठा राष्ट्र का ध्वज, बढ़ा पांव दो सब
खड़ा द्वार खोले विजन

अरे यह उषा का नदल आगमन है
कि जो ला रहा जागरण।

—शैल रस्तोगी

प्रभात और देशभक्ति को एक ही साथ हमारे सामने कवयित्री ने लाकर सजाया है। देशभक्ति की भावना यहां प्रचार नहीं है। वह तो एक जागरण की अनुभूति है। स्वर्ण का कलश शीश पर धरकर जो सुनहरे चरण धरती पर उतरती आ रही है, वह उषा एक नया जागरण ला रही है। वेद के कवि ने भी ऐसा चित्र हमें दिया है कि उषा प्राची में पर्वत के ऊपर आ गई है। शैल का चित्र भी उसी परम्परा में है, क्योंकि वेद का कवि भी प्रकृति का महत्त्व उसके स्वय के अपनत्व में नहीं मानता था बल्कि अपने लिए, अपने समाज के लिए भी वह कुछ न कुछ उद्‌बोधन देता था। किन्तु उसकी दृष्टि सार्वजनीन थी। यहां हमें राष्ट्र का ही उल्लेख मिलता है। तो हम देखते है कि कवि प्रकृति का वर्णन अपने बहुमुखी जीवन के विभिन्न रूपों को आत्मसात् करने के लिए नये-नये प्रयोगों द्वारा कर रहा है।

जागरण मनुष्य की एक आदिम पिपासा है। अन्धकार से जब भी वह उठता है, उसे प्रकृति सदैव अत्यन्त आकर्षक दिखाई देती है और वह सदैव उसका स्तवन करता है। इस काम में तो वह कभी नहीं ऊबता, चाहे कोई भी जीवन-क्षेत्र क्यों न हो ?

गेहूँ की पीली-पीली बालियां
स्वागत में प्रात के हंस उठीं
अरहर की पाँतों की छांव में
गाँव की मजूरिनें
प्रीत के भूमर गाने को बैठ गईं,
'जागोगे.....पाओगे'
'सोओगे.....खोओगे'
युग-युग, जन-जन की सीधी-सी सीख यह
हृदय-प्राण-कर्ण धरो !
सूरज के घोड़ों पर बैठकर
जागरण आ रहा,
उठो-उठो नमन करो।

—चन्द्रकांतसिंह

खेतों का वर्णन प्राचीन काल में केवल शोभा के लिए किया गया था। जन-जीवन का चित्र हमें नहीं मिलता। आधुनिक कवि मानव-समाज के विभिन्न रूपों को अपने लिए आवश्यक समझता है। और उसके साथ ही मजूरिनों का गीत एक संदेश देता है, जो बहुत ही मीठे ढंग से हमारे सामने आता है। बहुत पुरानी बात है कि जो जागता है,

वही पाता है, जो सो जाता है, वह खो देता है। किन्तु कवि ने उसे कितना सुन्दर बना दिया है। जागरण स्वयं सूर्य ही तो है। कल्पना की दृष्टि से यह चित्र बहुत ही सहज और सप्राण है। इसमें कहीं कृत्रिमता नहीं है और कोमलता इसकी वही समझ सकता है जिसने भोर की झीनी-झीनी शीतलता में कभी गेहूं की पीली-पीली बालियां देखी हैं। प्रीत का झूमर भी अपनी विशेषता रखता है। झूमर एक गोलाकार नृत्य है। प्रीत के झूमर में स्वरों का वह गोलाकार नृत्य इंगित होता है। और फिर जन-मानस की वेदना को भी व्यक्त करता है, मानो सदियों से अपने अन्धकार को न हटाने का कारण यही रहा है कि हम सोते रहे हैं। इसीलिए आलोक का अभिनन्दन करना नितांत आवश्यक है। ग्राम-जीवन की ओर कविता जैसे उमड़ना चाहती है। बहुत दिनों से हिन्दी की कविता ने कल्पित प्रकृति को देखा, प्रकृति के यथार्थ चित्रण में गहराई इसी युग की अपनी देन है।

चल रही हवा धीरे-धीरे सीरी-सीरी,
उड़ रहे गगन में झीने-झीने कजरारे चंचल बादल
छिपते-दिपते जब-तब तारे उज्ज्वल-झलमल
चाँदनी चमकती है, गंगा बहती जाती है।
ऋतु शरद और नवमी तिथि है
है कितनी-कितनी मधुर रात मन में बस जाती शीतलता
है अभी नहीं जाड़ा कोई बस जरा-जरा रोएँ काँपें
तन-मन में भर आया उछाह हां, दिन भी आज अजीब रहा—
रिमझिम-रिमझिम पानी बरसा फिर खुला गगन
हो गई धूप दिन-भर ऐसा ही रहा तार
कपसीले, ऊबे, लाल और पीले, मटमैले—दल के दल आये बादल !
अब रात—न उतना रंग रहा
काला—हलका या गहरा या धूएँ-सा
कुछ उजला-उजला किसके अतृप्त दृग देखेंगे
चाँदनी चमकती है गंगा बहती जाती है।
कुछ सुनती हो कुछ गुनती हो—
यह पवन आज यों बार-बार खींचता तुम्हारा अञ्चल है
जैसे जब-तब छोटा देवर।
तुमसे हठ करता है—जैसे तुम चलो जिधर वे हरे खेत।

—त्रिलोचन शास्त्री

फिर वह याद करता है कि खेत कैसे होंगे जो मैंने जोते और तुमने बोये थे ? बादलों की अकृतियां बदल रही हैं। कपसीले—जैसे कपास का रंग हो·····

वैसे ही तितर-बितर·····जैसे किसीने धुनकर पटक दिया हो·····देवर जैसा पवन बार-बार आंचल खींच जाता है·····और खींच किधर रहा है·····हरे खेत की ओर····· सीरी-सीरी बयार है·····उज्ज्वल झलमल तारे·····चमकती चांदनी·····निरंतर बहती हुई गंगा·····सारा रूप सामने आ जाता है। हमें दृश्य का स्पंदन, गहराई और गंध सब ही मिल जाते हैं।

त्रिलोचन का हाथ मंजा हुआ है। नये रूपों की सृष्टियों में उसका अपना योग-दान है, प्रकृति के सुरम्य चित्र वह बहुधा खींचता है।

ग्राम-जीवन में प्रकृति का है भी जितना हाथ उतना नागरिक जीवन में है नहीं। यहां तो जीवन और सत्ता के रूप में प्रकृति आती है, और अपनी सम्पूर्ण उपादेयता लिए हुए :

धूप ओढ़कर खुले खेत में जौ की बालें शरमाती हैं
पश्चिम से लो, हवा चली तो कैसी झुक-झुक जाती हैं
पण्डुल, महँगू और बुझारू रोज खेत पर आते हैं
अपनी-अपनी जौ की बालें देख-देख फिर जाते हैं।

×

पण्डुल में बालों की सुषमा का अभिमान भरा भाई
महँगू का भी तन-मन दोनों जैसे स्वयं हरा भाई
किन्तु बुझारू के तन-मन पर शोषक जा चढ़ बैठा है
घाटे में है, कैसे देंगे कर्ज, न देता दिखलाई,
समझ न पाते, थके बुझारू, बालों का यह शरमाना,
बालों का यह गिर-गिर जाना, बालों का यह झुक जाना,

—शिवमूर्ति 'शिव'

जौ की बाल एक दुलहन है। शर्माती है न ! पर धूप का आंचल ओढ़कर। कितनी नवीन कल्पना है ! किसान आते हैं। उनके हृदय में कितनी-कितनी आशाएं पल रही हैं इन बालों को देख-देखकर ! 'देख-देख फिर जाते हैं।' कहकर कवि कितनी बड़ी चीज सहज ही प्रकट कर देता है। और गेहूं मानव-जीवन को आज की आर्थिक व्यवस्था में किस प्रकार धन बनकर विभिन्न मनोवृत्तियां देता है, यह भी अत्यन्त कलात्मक ढंग से प्रकट होता है।

ग्राम के चित्र में सामूहिकता प्रायः मिलती है, जबकि व्यक्ति-पक्ष के चित्र प्रायः नागरिक तृष्णा से उदय लेते हैं। मैं यह नहीं मानता कि कवि को ऐसे चित्र उपस्थित नहीं करने चाहिए। काव्य तो विभिन्न परिधियों को अपने में मिलाकर ही चलता है, जैसे एक कंकड़ के गिरने से असंख्य लहरियां उठती हैं, जो अलग-अलग लगती हैं, परन्तु वे सब एक

ही केन्द्र से उदय होती हैं। अतः यह वैविध्य हमारी जागरूकता का प्रमाण है।

शरद के वर्णन में ऐसी विविधता के दर्शन हमें मिलते हैं। नदी सिमट गई, तो उसमें चमक आ गई, क्योंकि विस्तार की भावना निखार नहीं लाती :

सिमट गई फिर नदी, सिमटने में चमक आयी
गगन में, वदन में फिर नयी एक दमक आयी
दीप कोजागरी बाले कि फिर आवें वियोगी सब
ढोलकों से उछाह और उमंग की गमक आयी।
बादलों के चुम्बनों से खिल अयानी हरियाली
शरद की धूप में न्हा-निखरकर हो गई है मतवाली
झुण्ड कीरों के अनेकों फबतियाँ कसते मँडराते
झर रही है प्रान्तर में चुपचाप लजीली शेफाली।

×

साँझ, सूने नील में,
दोले है कोजागरी का दिया।
हार का प्रतीक— 'दिया सो दिया,
भुला दिया जो किया।'
किन्तु—शारद चाँदनी का साक्ष्य—
यह संकेत जय का है—
प्यार जो किया सो जिया,
धधक रहा है हिया, पिया।

—अज्ञेय

गांव कहीं पास ही है, शायद नगले से ढोलकों की आवाज़ आ रही है। अयानी हरियाली बादलों के चुम्बन से खिल गई है। हरियाली का खिलना एक बड़ा सार्थक प्रयोग है, जिसमें उसकी चमक और ताजगी प्रतिबिम्बित होते हैं। 'दिया सो दिया, भुला दिया जो किया', लोकगीतों की-सी सहज कोमलता लिए हुए है। और कवि को शरद की चांदनी एक जय का संकेत जैसी दिखाई देती है। किन्तु तृष्णा भी तो है, सो हृदय में प्यार करके अभिमान भी है, और जलन भी। प्रकृति के मन से ऐसे ही तो तारतम्य हैं। जब वह व्यक्ति-पक्ष शान्त है तब फिर लोकरंजन ही सामने रहता है :

दूर-दूर कनक-धूलि,
खुरों से उड़ाती हुई,
आती है साँझ कजरी,
गाय-सी रँभाती हुई।

बछड़े - सा बिछुड़ा था,
दिन - भर जो ग्रामप्रांत।
श्यामधेनु संध्या के,
आते ही हुआ शांत।

×

सूरज का बेटा दिन,
धरती की सुता रात,
दुलराती धरती के पुत्रों के,
थके गात।

×

आती है सांझ दीप विस्मृति,
के जलाती हुई।

×

गूंजेगी दूर कहीं,
कुञ्जों में मरण - वेणु
छायेगी गोपथ पर,
करुणा की कनक-रेणु।
आयेगी जीवन की,
संध्या भी बनी धेनु।
रहस-रहस रँभा-रँभा,
मुक्ति-गीत गाती हुई।

—नरेन्द्र

सांझ एक कजरी गाय है। कितनी सुन्दर उपमा है। आकाश का पीलापन क्या है? उसके खुरों से उड़ती हुई सुनहली धूल। नरेन्द्र ने बहुत ध्यान से देखा है प्रकृति को। गांव में जब सांझ होती है तब ऐसी ही सुनहली हो जाती है कि सोने जैसी दिखती है। यहां तो नरेन्द्र ने दिन और रात, सूर्य और पृथ्वी सब, सबको ही मानव के श्रम के लिए न्यौछावर-सा कर दिया है। धरती की बेटी रात अपने भाइयों—धरती के पुत्रों के थके हुए शरीर दुलराती है। और वह दार्शनिक बनकर कहता है कि जब मृत्यु आएगी तब ऐसी ही लगेगी जैसे कृष्ण की मीठी बांसुरी कुंजों में बजती थी। तब करुणा की सुनहली धूल छा जाएगी। जीवन की सांझ भी एक गाय बनी रंभाती हुई आएगी। कितना व्यापक चित्रण है! ग्राम, व्यक्ति, लोक और संस्कृति, चारों ही इसमें सिमट गए हैं और हमें एक कनक-धूलि की शांत झरन-मात्र मिलती है। ऐसा ही एक और चित्र नरेन्द्र ने दिया है,

वहां व्यापकता की जगह हमें समाज की तीखी गन्ध हर श्वास में मिलती है :

है रँभा रही बछड़े से बिछुड़ी एक गाय,
थन भारी हैं, दुखते भी हैं !
आता गजनेरी साँड़ भटकता सड़कों पर, चलता मठार,
क्या वही दर्द उसके भी है ?
जा रही किसी घर के जूठे बरतन मलकर
बदचलन कहारी थकी हुई,
चौका-बासन, सैना-बैनी में बिता चुकी यौवन के दिन
काटनी उसे पर उमर अभी तो पकी हुई !
बज रहे कहीं ढप-ढोल-झाँझ, पर बहुत दूर
गा रही संग मदमस्त मजूरों की टोली
कल काम-धाम करना सबको पर नींद कहाँ—
है एक वर्ष में एक बार आती होली !
इस भाँग-स्वांग से दूर, बन्द कमरे में, चिन्ता में डूबा
दार्शनिक एकरस एकाकी
है सोच रहा यह जीवन क्या,
मैं क्या, मेरी यह आत्मा क्या ?
सब कुछ खोजा, उत्तर न मिला,
कुछ भी न बचा मथकर बाकी !
वह दूर और संसार दूर, सब विशृङ्खल, सब छाया-छल,
हैं बिछुड़ परस्पर सुबक रहीं दोनों निर्धन आत्मा-काया!
रोए शृगाल, बोला उल्लू, हिल गई डाल, चौंका कुत्ता
जो भूंक उठा अब देख स्वयं अपनी छाया।

—नरेन्द्र

नगर के एक मुहल्ले का है यह चित्र। ग्राम से अलग है इसकी घुटन। फिर भी दलित जीवन में अपना ही उल्लास है। होली आ गई है। बहुत ही बोझीला है यह वर्णन! दार्शनिक एकाकी सोच रहा है। उसे कोई उत्तर नहीं मिला। सब कुछ कसकता है। उल्लू बोलता है, शृगाल रोते हैं। दृश्य कुछ बीभत्स हो उठता है, जब कुत्ता अपनी छाया देखकर स्वयं ही रो उठता है। चांदनी का उल्लेख भी नहीं है, जबकि कुत्ते का अपनी छाया होली के दिन देख पाना उसीकी ओर इंगित करता है।

एक ही कवि विभिन्न परिस्थितियों में पड़कर कैसे दो चित्र देता है। नरेन्द्र कुशल कलाकार है। उसने अनेक नये प्रतीक दिए हैं। उसके गजनेरी सांड़ जैसे बिलकुल

नकशा खींच डालनेवाले शब्द प्रायः हमें उसकी कविता में मिल जाते हैं। यहां होली के आनन्द में मानव-जीवन की विषमता ऐसी आई है कि मन कचोट खा जाता है।

किन्तु जहां मानव-जीवन की विषमता से ऊपर मानव का मानस-पक्ष हमारे सामने आता है, हमें प्रकृति के प्रायः ही कुछ उत्फुल्ल चित्र दिखाई देते हैं, यद्यपि जीवन उनमें भी प्रतिबिम्बित हो जाता है :

माघ मास संक्रान्ति, उषा का आनन सस्मित
अलकतरा-सा काला कुहरा नभ में मुद्रित।
सूई-सी चुभती तन में सन्-सन् पुरवाई
पड़ी धरा चुपचाप ओढ़कर हरी दुलाई।
आसपास चौरस खेतों में तितरे-बितरे
मटर, केराव एक-दूसरे पर चढ़ छितरे।

और इसीके पास यहीं एक तालाब है।

जहां खड़े सिलही कछार में सवन, सीख पर
और बिचरते लगलग, घोंघिल, जांघिल, गेवर।
गीली धरती पर ढीले कीचड़ से लथपथ
खोज रहा लोहा सारंग निज भूला-सा पथ।
जहाँ विरागी आँजन बगुला ध्यान लगाए।
एक टाँग पर खड़ा किनारे तन सिकुड़ाए।
मखमल की टोपी पहने कलपेटी कुररी
लगती चित्ताकर्षक, टिकरी-दल से बिछड़ी।
काले औ' सफेद बुज्जे निर्भीक विहरते
तिमिर-ज्योति के द्वैत बिम्ब प्रस्तारित करते।
भूरी दुम की चैती जल के छिछले तल पर
घनी घास की जड़ें नोचती ऊब-डूबकर।
चकई-चकवा मिलन-सूत्र में बंधे अखण्डित
प्रेम-तत्त्व के मधुर स्रोत करते संचारित।

—रामइकबालसिंह 'राकेश'

मादा को प्रसन्न रखने की कला दिखाता हुआ नर-बतख अपने दोनों पैरों से जल उछालता है। आगे-आगे टिटहरियां दौड़ी जाती हैं और ज़ोर-ज़ोर से 'डिड ही डू इट' का शोर मचाती जाती हैं।

इतने सुन्दर रूप से प्रकृति का चित्र दिखता है कि हमें हर एक की गति स्पष्ट हो जाती है। और कवि निष्कर्ष निकालकर कहता है :

यह वसुन्धरा, कभी न लगती इतनी प्रियकर
लता-कुंज-द्रुम लगते केवल मूक, तुच्छतर।
यदि न विश्व की वंशी में सुर का सरगम भर
छन्द बजाते समुच्छ्वसित खग मधुर महत्तर।

पृथ्वी की सुन्दरता बिना पक्षियों के कभी इतनी सुघर नहीं बनती, जितनी कि उनके संपर्क में लगती है। हम, जो गांवों में रहते हैं, इसका सारतत्त्व समझते हैं और इसे छायावादियों ने भी केवल सौन्दर्यप्रियता के कारण समझा था।

वर्षा का वर्णन करते हुए कवि कहता है :

बह रही वायु सर्-सर् सर्-सर्
बरसते मेघ झर्-झर् झर्-झर्
कांपते पत्र थर्-थर् थर्-थर्

लो आज सजा है आसमान
धरती पर जीवन भासमान
लघु-लघु धाराएँ धावमान
ऊर्मिल, द्रुततर, मनहर, सुन्दर
बहुवर्ण धरा, बहुरूप धरा
हो गई नवल जन-मनोहरा

यह परम पुरातन वसुन्धरा
गतिशील पवन ज्यों जीवन-स्वर
हो गया चित्रपट पूर्ण गगन
छविरूप वर्णमय चंचल घन
पल में कुछ पल में कुछ बन-बन
क्षण-क्षण में प्रियतर सुंदरतर

लो उठे भूमि से हरितांकुर
शोभित है ग्राम-ग्राम पुर-पुर
हो आया शीतल मानव-उर
नव सृष्टि करेगा हो तत्पर
पाकर पावस का पावन क्षण
करती स्वरूप का परिवर्तन
तन से मन से बनती नूतन
यह प्रकृति सदा नव जीवन धर

—त्रिलोचन शास्त्री

शब्दों में वह ध्वनि को जन्म देता है। सुमित्रानन्दन पंत ने भी ऐसे चित्र दिए हैं। मध्यकालीन और नये कवि में अंतर केवल इतना है कि वे कभी जन-मनोहरा पृथ्वी को नहीं देख पाए थे। बाण जैसे ललित और कालिदास जैसे महान कवि भी इस दृष्टिकोण को अपने युगों के कारण नहीं अपना सके थे! पन्त ने हिन्दी में इसका सूत्रपात किया था। त्रिलोचन ने भूमि से हरे अंकुर निकलते देखे हैं और इस आशा में विश्वास किया है कि अब मानव का हृदय शीतल होकर नई सृष्टि करेगा। धरती पावस का स्पर्श पाकर अब परिवर्तन कर रही है। यह प्रकृति सदा ही नया जीवन धारण करके बार-बार नूतन बन जाती है। और अपनी सुषमा और गरिमा से हृदय को जीत लिया करती है।

कोमल पदावली के कवि जानकीवल्लभ ने इस नवीन रूप-धारण को और भी अपनापे से देखा है। उसका वनकुसुम जीवन की और भी महती आशा को प्रस्फुटित करता है।

वनसुमन खिल रहा है और वह सुन्दर की चाहना रखता है। वह 'हां' की जीत चाहता है, 'ना' की पराजय। मानव-जीवन की कितनी-कितनी गुत्थियां इनलोगों ने बहुत ही सहज प्रतीकों से सुलझाने की चेष्टा की है। इकाई का यह प्रश्न कितना अनमोल है:

इकाई की मुझे चिन्ता, पटे खाई कहीं की,
कि जीते 'हां' सुनिश्चित हार हो जाए 'नहीं' की!
समन्वय द्वन्द्व का ; संगति अपेक्षित दुःख-सुख की
न हो मन-प्राण में जब तक खुले लाली न मुख की!
विषय-संवेदनाओं की न कोई तान तोड़े,
चढ़ाने जो कहूँ सिर, झट झपट गरदन मरोड़े !
लगाने जो कहूँ उर से, सुई कोई चुभोये
विजन वन का सुमन हूँ मैं सुरभि अपनी सँजोये।

—जानकीवल्लभ शास्त्री

प्रकृति अपने-आपमें द्वन्द्व है। रात और दिन, अंधेरा और उजाला, विनाश और सृजन। वन का फूल एक पूर्ण अभिव्यक्ति बन चुका है, एक संघर्ष का परिणाम है और सुन्दरता के जन्म का प्रतीक है। वह सुन्दरता लोक में क्या चाहती है? स्नेह! किन्तु उसे निर्ममता का खतरा बराबर बना रहता है। विजन का सुमन है वह, सुरभि संजोए खड़ा है। उसे किसीका भय नहीं है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि नया कवि आज विषय-वस्तु की दृष्टि से अभावग्रस्त नहीं है। प्रकृति को उसने बहुमान उपमानों में देखा है, कि उसके सहारे से वह मानव-जीवन के बहुकृत्य-बहुकरणीय जीवन को व्यापक सौन्दर्य प्रदान कर सके।

ऐसा ही एक और चित्र है धूप का, जिसमें कवि सुहागिन को सम्बोधित करके

कहता है :

सुहागिन उठो,
चलो, यह धूप,
हमारा रूप !
इसीसे खून हमारा गरम,
इसीसे बोल हमारे नरम,
इसीसे मन में प्राण
इसीसे गान कि जो वर्षा में गूंजेंगे,
इसीसे कजली, कदम, हिंडोल
इसीसे मुरज, पखावज, ढोल ;
इसीसे हास, इसीसे रास,
इसीसे धरती पर आकाश
सुहागिन उठो,
ओढ़ लो धूप,
निखारो अपना-अपना रूप !
धूप पर हँसो,
कछौटा कसो,
खेत पर चलो समुन्नत भाल
काँस खोदो, काटो जंजाल ।
बेर के दड़े
जला दो आगे होकर खड़े !
पसीने की धारा बलवती
धरा जिससे बनती फलवती,
नहाओ दूधों, पूतों फलो,
सुहागिन, चलो, खेत पर चलो !
धरा का परम सुहाग !
गगन की आग
आग-बबूला सख्त सुर्ख सूरज
खेल रहा है फाग ! !

—भवानीप्रसाद मिश्र

धूप का यह वर्णन बिलकुल नया है। सारा जीवन सूर्य के ही कारण चल रहा है। इस धूप को ओढ़ लो। इसपर हंसो। बाधाओं को हटा दो। यह धूप तुम्हें समृद्धि देगी।

यह सूरज तो असल में फाग खेल रहा है।

भवानीप्रसाद की भाषा बहुत सरल है, और एकदम उसका सौधा प्रयोग है, किंतु उसमें सर्वत्र ध्वन्यात्मकता है जिससे वह सप्राण लगती है।

लोक-जीवन आज घिर आया है। कवि का व्यक्तित्व अपने-आपमें जैसे संकुचित नहीं रहना चाहता। यद्यपि हमें व्यक्ति-पक्ष भी दार्शनिक व्यथा लिए मिलता अवश्य है। उसके मूल में प्रेम की कचोट भी हमें प्राप्त हो जाती है, जैसे :

कमलों ने पलकें खोल कहा
मरकत मृणाल पर डोल कहा—
प्रियतम की सुषमा देख, न कह,
अभिरामा रजनी चली गई
जानें क्यों निर्मम बन नितान्त
मधुयामा रजनी चली गई !
अहरह विलासिनी की छाया
जिसमें विभोर जग की काया
कहता है जिसका रोम-रोम—
अभिरामा रजनी चली गई
कुछ छोड़ व्योम में चरण-चिह्न
मधु-यामा रजनी चली गई !

—द्विजेन्द्र

चित्र ऐकांतिक है। उसकी प्रभावशीलता एकांगी है। परन्तु यह भी सुन्दर अवश्य है, क्योंकि इसमें भी अनुभूति की तीव्रता की कमी नहीं है।

काव्य के क्षेत्र में हम जितनी स्वतंत्र दृष्टि रख सकें, उतना ही हमारे लिए श्रेयस्कर है। कुत्सित समाज शास्त्री दृष्टिकोण जीवन को एकांगी दृष्टि से देखता है। किन्तु मानव-जीवन अपने अनुभूति-क्षेत्र में संकुचित नहीं रह सकता। यथार्थ का अर्थ केवल बाह्य से ही बोध हो, ऐसा सोचना मूर्खता है। सापेक्ष प्रभाव से चिंतन जन्म लेता है अवश्य, किन्तु परिस्थिति में ही अनुभूति को घोटकर देखने की प्रवृत्ति वास्तव में घातक होती है, क्योंकि यदि परिस्थिति इतनी अधिक हावी है, तो उसे बदलने में कितनी देर लगती है। अपने इसी एकांगी दृष्टिकोण के कारण ऐसे लोग नये काव्य के लिए तलवार लिए खड़े रहते हैं और पुराने को संस्कृति की धरोहर के नाम पर श्लाघ्य कहते हैं, यद्यपि पुराने में भी वही निर्बलता रहती है जो नये में। उसे किसी प्रकार भी झुठलाया नहीं जा सकता। ऐसे लोग दोमुंही बातें करते हुए भी निर्लज्ज बने रहते हैं और विस्मय तो इस बात पर होता है कि वे अपने को सचमुच बुद्धिमान भी समझते हैं। आदर्श और

मानदण्ड युग-भेद से बदल जाने पर भी वस्तु-सादृश्य में भेद नहीं कर सकते, यों अपने अहं-कार की तृप्ति में हंसों की जगह ऊंटों की सृष्टि करनेवाले विश्वामित्रों को तो दूर ही से प्रणाम करना श्रेयस्कर होता है। हमें काव्य के स्थायी तत्त्व की प्रतिष्ठा करने के लिए अवश्य ही ऐसी भूमि चाहिए जो सार्वजनीन हो। सूर के बाल-वर्णन, तुलसी के रामराज्य-वर्णन, कबीर के जाति-पांति-विरोधी वर्णन, कालिदास के काम-कला विभूषित वर्णन और मायकोवस्की के क्रांति-वर्णन के विभेदों के एकत्व को न देखकर जो उनके रसमूल एकत्व को विभेद करके देखते है, वे घोंघे को ही सीप कहनेवाले लोग हैं। वे छायावाद को भाषा-शैली के लिए एक देनमात्र समझते हैं, और कुछ अधिक नहीं। प्रकृति के विषय में लिखी निम्न कविता का उनके सम्मुख कुछ भी मूल्य नहीं है :

मेघमाला-सी मुदित मन के लिये,
रंगशाला-सी रसिक जन के लिये
मूक हाला-सी प्रणय की चेतना
प्राण, ज्वाला-सी हृदय की वेदना
कह सकूंगा क्या, भला मैं कौन हूँ ?
तुम उदार बनो सुहृद मैं मौन हूँ।

—श्यामबिहारी शुक्ल 'तरल'

किन्तु यदि इसे सचाई से देखा जाए तो इसमें हमें जीवन की एक गहरी अनुभूति मिलती है। इसमें लौकिक को अलौकिक रूप में रखा गया है और मानस के अनेक संस्कार यहां वेदना की अनुभूति बनकर प्रश्न करते हैं और दीखने में तो निराशा, परन्तु वस्तुतः दार्शनिक तत्त्व से भरकर पूछते हैं कि मनुष्य की अपनी सत्ता क्या है, बल्कि है ही क्या ?

परन्तु ऐसे चित्र नये युग में बहुत कम मिलते हैं, क्योंकि इनमें दृष्टि का प्रसार नहीं है, गहराई अवश्य है।

काव्य में इतनी क्षमता है कि वह अपने एक ही स्वर से अनेक स्वर ध्वनित कर सकता है। ऐसी ही नरेन्द्र की एक कविता है जिसमें वह वर्णन तो वसंत का करता है, किन्तु नवयुग के जागरण की पूरी तस्वीर उसमें उतर आती है। और एक-एक शब्द एक-एक कोश बनता हुआ हमारे सामने खुलता है। मैं बिहारी का दोहा नहीं बना रहा हूं यहां, बल्कि इस अदेखे को देख रहा हूं कि कितना लाघव मौजूद है, परन्तु आलोचक उसे देख नहीं रहे हैं। लाल पलाश क्रांति का प्रतीक है। वह जागरण है। वह संस्कृति का राग-तत्त्व है। वह आलोक की पूंजीभूत सफलता है, तभी तो वह अपना जैसा बनाने की क्षमता अपने भीतर रखती है। प्रकृति का 'लाल लाल है पलास' वाला चित्र इस रूप में कैसा लगता है :

आया था हरे-भरे वन में पतझर, पर वह भी बीत चला !
कोपलें लगीं, जो लगीं नित्य बढ़ने, बढ़ती ज्यों चन्द्रकला !
चम्पई चाँदनी भी बीती, अनुराग-भरी ऊषा आई
जब हरित-पीत पल्लव-वन में लौ-सी पलाश लाली छाई !
पतझर की सूखी शाखों में लग गई आग शोले लहके
चिनगी-सी कलियाँ खिलीं और हर फुनगी लाल फूल दहके !
लो डाल-डाल से उठी लपट लो डाल-डाल फूले पलाश
यह है वसंत की आग, लगा दे आग जिसे छू ले पलाश !

—नरेन्द्र

पलास की लाली छा गई। सारा वन लाल हो गया। वसंत की सुषमा फूट आई। चिनगारियों-सी कलियां खिल उठीं, हर फुनगी पर लाल फूल उग आए। पतझर जो बीत गया। कोंपलें ऐसे बढ़ती हैं जैसे चन्द्रकला। बिलकुल शोले जैसा पलास। वसंत की आग है। पतझर के बाद आनेवाले नये उल्लास की ऊष्मा है।

एकदम इतना प्रभाव डालनेवाली यह कविता अभी तक साहित्य में अपना उचित स्थान नहीं पा सकी है। विदेश में आलोचक कवियों की एक-एक कविता को पकड़कर उन्हें देखते हैं। हमारे आलोचक अव्वल तो शायद कोर्स के बाहर पढ़ते नहीं, पढ़ते हैं तो शायद ध्यान नहीं देते। मतवाद की 'भरमना' ने हमारे यहां एक जड़ता को जन्म दिया है। उसके कारण भी कवि की मौलिकता की जगह उसके मत-विशेष को ही प्रमुखता दी जाती है।

ऐसा ही एक अन्य चित्र शलभ की नौका-यात्रा में है। वह बहुत ही तिक्तस्वर से प्रारंम्भ हुई कविता है, परन्तु उसकी मिठास उसमें प्रारम्भ से ही एक चपलता को जन्म दे देती है। पाल खुलते ही दिक्-अम्बर खुल जाते हैं और धरती जैसे-जैसे दूर होती जाती है ओझल होती-सी दिखाई देती है। तीरबेला का कैसा मनोहर वर्णन है।

छोटी तरणी बही जा रही
पर न यहाँ कमलों का वन है।
उठा लिया मैंने भी लंगर
खोला पाल, खुला दिक्-अम्बर
दूर हो रही ओझल धरती
केलि-नारियल से जो सुन्दर !
सोच रहा छोटा-सा साथी
दूर यहाँ से पिक-कूजन है।
यहाँ लगाये एक लँगोटी

और शीश पर बाँधे फेटा
स्वेद-बूंद टपटप कर गिरती
डोंगी खाती लहर-चपेटा
काले स्याह हस्त-युग मेरे
यहाँ निरंतर डाँड हिलाते
थक-थक, रुक-रुक कभी बीच में
'साथी' ओ' 'मे' दोनों गाते

—शलभ

'साथी' का प्रायः प्रयोग युद्ध की ललकार के लिए किया जाता है। यहां वह संग मेहनत करनेवाले से स्नेह के लिए आया है। अपने यहां ऐसी रचनाएं सचमुच कम हैं। किन्तु भविष्य में वे और और आएंगी इसमें कोई सन्देह नहीं है। काले हाथों का डांड हिलाना न केवल चित्रात्मक है, न केवल उसमें श्रम की ध्वनि है, वरन् उसमें है जीवन का वह अनथक विश्वास जो कि इसकी सारी शक्ति है। दरिद्रता रोकनेवाली चीज़ है, परन्तु यहां लहर-चपेटा खाकर भी जीवन की मौज लेने निकली हुई डोंगी रुकती नहीं। थक भी जाए, रुक-रुककर भी चले, तब भी गीत नहीं रुकता, वह बीच के व्यवधानों को पार करने का संबल दिए चलता है। और छोटा-सा साथी जीवन के कोमल स्वप्नों की याद करता है कि यहां से 'पिककूजन' दूर है। कमलों के वन का अभाव अन्त में जाकर पूरा हो जाता है।

केसरी ने अपने 'चकोरी' में एक बहुत ही स्थायी रचना साहित्य को दी है।

कवि-सत्य के रूप में यह प्रवाद चला आ रहा है कि चकोरी एक ऐसी चिड़िया है जो चन्द्रमा को देखती रहती है और उसके अंगार चुगती है। हिम से अंगार! चकोरी कहती है कि मैं तुम्हारे हिम में से अंगारे चुगती हूं, चुगती हूं चिनगारी कि प्राणों में कभी न बुझनेवाली प्यास जल उठे! कैसी विभोर सर्जना है। इसमें कितनी शक्ति और कितना प्राण है! नयन हास पीते हैं, मुख अग्नि!

चुगती चिनगारी कि जले प्राणों में ऐसी प्यास पिया
युग-युग बुझे न, दृग पीवे शाश्वत तेरा हिम-हास पिया
हिय पीवे अंगार नयन में चुए अमिय-रसधार पिया
होड़ आग-पानी की रे कहता जग जिसको प्यार किया
जाना प्राप्य-अप्राप्य, न जाना तुमको केवल एक पिया
आह! न लूंगी मैं विवेक देकर अपनी यह टेक पिया
भूल-झूल सूली पर जीते-जी ईसा होना सीखा
एकव्रता में सती-सुहागिन चिता-सेज सोना सीखा

विरह-मृत्यु-विजयी, मृत्युंजय है मेरा अनुराग पिया
जलती हिय की आग इधर धुलता है, उधर सुहाग पिया

—केसरी

आंखों से अमृतधारा पीते हुए ही तो चकोरी कहती है कि प्यार असल में आग और पानी की ही तो होड़ है! प्यार पर इतनी मार्मिक उक्ति इधर बहुत दिनों से नहीं आई। जायसी की मर्म हिलानेवाली पंक्तियां ही इसके समतुल्य है।

क्या पाया, क्या खोया यह तो कुछ भी नहीं जाना, पिया मैंने तो केवल तुझे जाना है। विवेक भेद को जन्म देता है, अतः उसे मैं प्रेम के बदले में नहीं लूंगी। प्रेम की यह बलवती जीवन-शक्ति ऐसी है कि गोर्की ने भी एक कविता लिखी थी जिसमें मृत्यु पर एक युवती का प्रेम जीतता है, जैसे भारतीय अमरकथा सावित्री-सत्यवान में। ऐसे ही मृत्युञ्जय अनुराग को गेटे ने भी फॉस्ट में अमर कर दिया है। इधर हृदय की आग जलती है, उधर सुहाग धुलता जाता है।

प्रेम की अतृप्ति कितनी मादक होती है। सांझ की बेला का वर्णन करते हुए हीरादेवी ने कहा है कि अब रैन-बसेरा लेने का समय आ गया। पाहुन! नीड़ों में कलरव व्याप गया है। तुम बहुत दिन बाद आए हो तो मुझे सुनाओ अपनी रामकहानी!

पाहुन! सन्ध्या बेला आए!
पंछी भी तो तरु-डालों पर रैन-बसेरा करने आए!
दिन-भर की वह सूनी डाली चहक उठी सुन इनकी वाणी
तुम भी पाहुन, मुझे सुनाओ अपनी बीती आज कहानी।
वन-वन, डगर-डगर तुम पहुँचे, नगर-नगर में अलख जगाया
पंछी मुझको बता चुके हैं तुमने क्या-क्या कष्ट उठाया।

×

मन्दिर, मस्जिद मुखरित होंगे, गुरुद्वारे भी गूंज उठेंगे।
गिरजे के भी घण्टे घन्-घन् स्वागत तेरा अभी करेंगे।
भूले-भटके-बिछुड़े साथी, अलख जगाते पाहुन आए।

—हीरादेवी चतुर्वेदी

संक्षेप में इस विभोर तन्मयता के विषय में हमें यही कहना है कि इसमें—

(१) व्यक्ति-पक्ष उतना मुखर नहीं, जितना कि लोकरंजन।

(२) इसमें बहुत ही तीखी कल्पनाएं हैं जोकि बरबस अपनी ओर खींचकर हमारे हृदय को हर लेती हैं।

(३) जहां तक विधान का प्रश्न है, वहां इनमें अमूर्त को व्यापक रूप से मूर्त कर देने की चेष्टा हुई है।

(४) व्यक्तिगत वासना अपने स्वरूप में ही प्रायः प्रकट हुई है।

(५) भाषा की दृष्टि से सहज को ही अधिकतर अपनाया गया है। पदावली प्रायः ही कोमलतम बनाने का प्रयास मिलता है।

(६) नये क्षेत्र में नवीनता का ही लाघव नहीं है, उसका राग-तत्त्व स्थायी मानों को लेकर ही चलता है।

अंत में इस विषय को हम एक और उद्धरण देकर समाप्त करते हैं, जिसमें कमनीयता और गति का छंद बहुत ही सम्यक् संतुलन देता है :

वसन्त के चपल चरण !

पिकी पुकारती रही पुकारते धरा - गगन
मगर कहीं रुके नहीं वसन्त के चपल चरण !
असंख्य काँपते नयन लिए विपिन हुआ विकल
असंख्य बाहु हैं विकल कि प्राण हैं रहे मचल
असंख्य कंठ खोलकर कुहू-कुहू पुकारती
वियोगिनी वसन्त की, दिगन्त को निहारती
वियोग का अनल स्वयं विकल हुआ निदाघ बन,
मगर कहीं रुके नहीं वसन्त के चपल चरण !

—रामदयाल पाण्डेय

यह है वसंत की महागति। मैं तो कहूंगा कि नये वसंत की गति है। 'चंचल पग दीपशिखा-से धर गृह मग वन में सुलगा वसंत,' की परंपरा और भी सुंदर चित्र लाई है। इस कविता में केवल कोमलता ही नहीं, ओज भी है और इसीलिए इसमें जो स्फुरण-शक्ति है, वह बहुत ही आकर्षक है।

यह सत्य है कि छायावादी कवियों के बाद किसी एक कवि ने अभी उतना महत्त्व नहीं पाया है, जितने की आशा थी, किंतु मैं समझता हूं इसका एक कारण यह भी है कि बाद के कवियों को ठीक से पढ़ा भी नहीं गया है। साहित्य में आलोचना का क्षेत्र इतना विनष्ट हो गया है कि उससे अभी ऐसी आशा तभी होगी जब लोक में और अधिक शिक्षा फैलेगी और कवि तथा पाठक का सीधा संपर्क स्थापित होगा।

आस्था और मूल्यांकन

जीवन कितना प्यारा है। प्रत्येक प्राणी जीवित रहना चाहता है। मनुष्य की भी यही कामना है। एक बार मिले जीवन का स्वयं ही नाश कर देना, उसकी संस्कृति में आत्महत्या के रूप में जघन्य पाप समझा जाता है। वह पीड़ा सहता है, किंतु जीवन की गति को नहीं रोकना चाहता। वह अपनी आशा को नहीं बुझने देना चाहता। वह आग और प्यार को सदैव जीवित रखना चाहता है। उसका स्नेह पर-संतोष को अपना उदात्त स्वरूप मानता है। तभी कवि कहता है :

दर्द की शहनाइयाँ बजती रहें
दुलहनें सुधि की सदा सजती रहें
रुक न जाए ज़िंदगी का कारवाँ
काफिले की घंटियाँ बजती रहें।
बुझ न जाए प्यार का जलता चिराग
सर्द हो जाए न मेरे दिल की आग।
वो जहाँ भी हों हमेशा खुश रहें
जगमगाए रात-दिन उनका सुहाग।

—नर्मदेश्वर उपाध्याय

यह जो दूसरे के लिए अपने को दुखी कर लेने की, उस दुःख को सहन कर लेने की भावना है, इसे मनुष्य ने बहुत दिनों से अपने भीतर पाला है और इसी भावना को व्यापकतम करने की चेष्टा के प्रतीक उसके अवतार, बोधिसत्त्व, करुण चित्त आदि हैं जिनके माध्यम से उसने लोक का आनंद देखा है। आज का कवि इसी द्वन्द्व को खोजकर कि व्यक्ति और समाज का अंतर्विरोध है, इस समस्या को सुलझाने में अपने मन को बड़ा करता जा रहा है। यही उसकी मुक्तिपथ की यात्रा है। प्राचीन और मध्यकालीन कवियों में भी बहुजनहिताय की यह मंगलमय वाणी सुनाई देती है। परंतु नये कवि का दृष्टिकोण इस विषय में बदल गया है। मैं बदलने का अर्थ यह नहीं मानता कि वह 'कोरी पटिया पर लिखना' प्रारंभ कर रहा है। परंतु जैसे कुछ सदियों में लिपि बदल जाती है, उसी प्रकार अब भावों की लिपि भी बदल गई है। अब उसी बात को दूसरे ही चित्र के रूप में

प्रस्तुत किया जा रहा है ।

कवि का व्यक्तित्व समाज में अपने भी सुख-दुःख लिए रहता है। जब वह उन्हें महत्त्व नहीं देता तब हम उसे किसी बड़े रूप की ओर बढ़ते हुए देखते है। वह कहता है:

रक्त से खींचा गया यह
चित्र तुमको सौंपता हूँ।

×

कर न पाया दूर
इसको एक भी क्षण के लिए हूँ,
एक पल भी सह न पाया
मैं उदासी की झलक,
जो कभी इसपर आ गई है !
तब यही चाहा कि
अपने प्राण की संजीवनी को घोलकर
इस चित्र की प्रत्येक नस में फूँक दूँ मैं।
जब कि आँधी का भयानक दैत्य
अपने वज्रपग धर जगमगाती भूमि पर उन्मत्त जैसा
ध्वंस का गायन सुनाता
प्रलय वीणा की मिला लय
सबल धारासार वर्षा में किलककर
तड़ित जैसे दाँत घिस निश्चित होकर घूमता था
तब समेटे बाँह में इस चित्र को मैंने सदा ही
शुचि हृदय के स्पंदनों के बीच में रक्षित किया है।

—राजेन्द्र यादव

वह समाज की कथा को एक भी क्षण के लिए अपने से दूर नहीं कर पाता। वह एक मृत व्यवस्था में जीवित श्वास फूंककर उसे फिर से सन्नद्ध बना देना चाहता है। आंधी का दैत्य शोषण का प्रतीक है। तड़ित् जैसे दांतों का घिसना अच्छा चित्र है। जीवन के इस चित्र को कवि हर तरह से बचा लेना चाहता है। आंधी और पानी की उसे इतनी चिंता नहीं है, क्योंकि मन में कहीं न कहीं वह यह अनुभव करता है कि यह संकट स्थायी नहीं है। ये आते है। चले जाते है। किंतु यह जो चित्र है, यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। यही तो सभ्यता और संस्कृति है। यदि यही नष्ट हो गया तो उसके पास बाद में बच ही क्या जाएगा ?

कवि का मन अब पुराने बंधनों को छोड़ रहा है। वह पुरानी स्वार्थपरक या आत्म-

परक मान्यताओं को अब उतना महत्त्व नहीं देना चाहता, जितना कि उनको मिल चुका है। इसलिए वह अपने अंदर एक परिवर्तन लाने का प्रयत्न कर रहा है :

आज मेरे गीत बदले जा रहे,
भावनाओं में नया युग ला रहे।
करवटें लेते किसीकी चाह में
गीत मेरे अब न रोते आह में
प्यार की कसकन न पीड़ा दे रही
अब नहीं पलकें बिछाते राह में
आज धरती के सिसकते गीत ही
कंठ में मेरे मचलते आ रहे।

—कुलदीप

धरती के सिसकते गीत जनसमाज के गीत है, जोकि दुःख से आर्त-सा दिखाई देता है। उसके प्रति कवि में बड़ी व्याकुलता है। धरती की सिसकन अभिधा नहीं है। वह तो प्रतीक है और इसी प्रकार आत्मपरिष्कार भी कवि में आवश्यक हो गया है :

"वासनाएं धुल-धुलकर मिट रही हैं। आज स्वयं उर की ग्रंथियां खुल-खुलकर गिर रही हैं। नवजाग्रत निर्भर हिमजल से जैसे सद्यःस्नात दूर्वादल हो, वैसे ही मन की काया स्वच्छ हो गई है। कलुष मिट गया है। भय-ताप दूर हो गए हैं।"

(राजेश्वरप्रसादनारायण सिंह)

अपने संदर्भ में यह कविता 'अंबपाली' काव्य में है, किंतु अपने सार्वभौम सत्य के कारण यह युग की प्रकृति को भी प्रकट करती है। इस पक्ष को भी कवि ने भुलाया नहीं है। वह बाह्य परिवर्तन के साथ ही साथ अपने भीतर को भी परिवर्तित कर लेना चाहता है। क्योंकि भीतर की कुत्सा प्रायः ही बाहर की उलझन को अधिक बढ़ाती है। वह अपनी ग्रंथियों को खोल देना चाहता है। मन की गांठ यद्यपि पुरानी अभिव्यक्ति है, जिस रूप में अब ग्रंथि को लिया जाता है, वह फ्रायड का ही उपचेतनवाद है जोकि युग पर अपना प्रभाव डाल रहा है। भारतीय परंपरा का कवि मानता है कि उसको भी शुद्ध किया जा सकता है।

शोषक कितना भी भयंकर क्यों न हो, उसके प्रति कवि का दृष्टिकोण यह नहीं है कि वह उससे भयभीत है। वह उसे चुनौती देता है। अपने शोषण जगत् की व्याख्या में वह अपने अहं को उसका साधक मानता है, यदि अहं लोक के लिए आत्मविसर्जन न करके, अपनी कुण्ठा में ही लीन रहता है। वह अपने अहं को मानव-अहं से भी मिलाकर देखता है और इस प्रकार हमें व्यक्ति और लोकमानव-प्रतीक वैयक्तिकता, दोनों का संघर्ष मिल जाता है :

लेकिन आज उसका दर्प है विच्छिन्न, अवनत शीश,
जल पर तैरते जलयान के ये अनगिनत लघु खण्ड
जैसे कर रहे हों महत्तम अस्तित्व पर
छिपकर भयंकर व्यंग !

×

आज पहली बार शायद ज़िंदगी में कर रहा महसूस मैं—
कुछ उँगलियाँ मुझपर निरंतर उठ रही हैं।
मैं नहीं समझा कभी मेरी महत्ता का कहीं अस्तित्व भी है।
किंतु दुनिया की नज़र में आज मेरा दर्प,
मेरे अहम् का विस्फोट
मेरी रागिनी की शक्ति बनकर
एक जलती चुनौती दे रहा है !

—धनश्याम अस्थाना

व्यक्ति का स्वाभिमान भी आज स्वीकार नहीं किया जाता, क्योंकि उसे तो घोट देने की ओर ही प्रयत्न हो रहा है। आत्मा में हीनत्व की भावना भी अपनी कचोट के गर्व का ही परिणाम है। किन्तु कवि-हृदय की कामना इस प्रकार है :

" कवि की वाणी अमृतमय हो जाए। वह मृतकों में नव जीवन भर दे। मन में सुन्दर इच्छाएं रखकर मानव सुख से निर्भय विचरण करे।

" चिर अंधियारे पथ को पार करके उजियारा पथ मिले। तन,मन,जग और जीवन मंगलमय हो जाएं। युग की प्रतिनिधि कल्याणी कवि की नववाणी धन्य हो। सब उसकी जय-जय गाएं। " (तारा पाण्डे)

यह एक पल का चिन्तन है या यही कवि के व्यक्तित्व की समग्रता है ? मैं समझता हूं कि जीवन में अनेक पक्ष होने के कारण अनुभूति समय-समय पर विभिन्न रूप से अपने को व्यक्त करती है। कभी-कभी घटना-विशेष से प्रभावित हो जाने के कारण हमें दृष्टिकोण में एक प्रकार की अति भी दिखाई दे जाती है। ऐसी रचनाओं में हमें वैयक्तिकता के अतिरिक्त लोक-प्रभाव की ऐतिहासिक घटना भी देखनी चाहिए। कवि अपने को अभावों से ग्रस्त पाता है तो वह अपने को अलगाव के नाम पर विद्रोह करता हुआ प्रकट करता है :

तुम्हें चाहिए प्रेम, प्रेम से मेरा क्या नाता !
तुम सुख के सर्वस्व, और मैं दुःख का निर्माता !
कल प्रभात होते चल दूँगा, अलख गीत गाता !
मैं अपने पथ के कण-कण में अपनापन पाता !

—श्यामबिहारी शुक्ल 'तरल'

वह प्रेम को नहीं चाहता। ऐसा कभी हुआ है? किन्तु यह सत्य नहीं है, यह वैराग्य नहीं है। यह आत्मप्रतिशोध-मात्र है, जिसमें रूठने का भाव अधिक है। असल में यह प्रेम के प्रति कहीं घनी अनुरक्ति है। पुरानी तन्मयता में यह अहं अपने परमात्म के सामने इस प्रकार प्रकट हुआ है :

"मैं तुम्हारी जीर्ण वीणा पर नया राग हूं। मेघ का काजर बहाकर तुम नयन धोते रहे, और चांदनी बिछाकर मुखचन्द्र को खोलते रहे। किन्तु जिस ज्वाला में तुम निरत नित निर्धूम-से जलते रहे, उस तुम्हारे अतल उर की प्रकट आग मैं हूं। तुम्हारा प्राण का प्राचुर्य सृजन में बिखरा हुआ है। तुम्हारा प्राण का माधुर्य प्रलय में निखरा हुआ है। किन्तु गोपन विजन में हे प्रिय! जो तुम फूल-से खिल गए, तो उस तुम्हारी अज्ञेयता का मैं प्रकाश-पराग हूं। विरह की राह में जीवन-दीप झिलमिल करके जलाया। मिलन का श्वेत शतदल मृत्यु के अमृत से खिला दिया। तुम जिस नियम के बन्धन से विवश और बेकल बने हुए हो, मैं उसीका श्वासतारों पर नवीन विहाग हूं।" (हंसकुमार तिवारी)

गोपन और प्रत्यक्ष का यह संवाद कितना सुदर है! किंतु इसमें 'स्वानुभूति' ही नहीं, 'स्वक्संवित्ति' भी आवश्यक है। वह प्रायः युग की पुकार के अनुरूप नहीं लगती, क्योंकि संघर्ष की बेला में युद्ध की सुंदरता नहीं होती, जितनी कि उसके बाद के निर्माण की आशा में होती है। कवि केवल मन को नहीं देखता है। देखता है बाहर के संसार को भी। और तब उसे विश्व में फैली असमानता झकझोरने लगती है, क्योंकि उसकी सुंदरता के स्वप्न को यहां ठेस लगती है :

मत पूछो, मैंने कवि बनकर
जीवन में क्या-क्या देखा है!
मैंने देखा है महलों को
अपना उन्नत शीश उठाए
मैंने पथ के धूल कणों को
देखा निज इतिहास छिपाए
मैंने उनको भी देखा जो
आँखों में जलते रहते हैं
मैंने उनको भी देखा
जो रहते अपना शीश झुकाए
मैंने महाशक्ति को क्षण में
बनते दुर्बलता देखा है!

×

कभी-कभी मैंने वैभव को
भी व्याकुल होते देखा है,

अपनी सीमा में घुट-घुटकर
उसे प्राण खोते देखा है !

×

मैंने इन अपनी आँखों से
लौह चक्र चलता देखा है !

—श्यामबिहारीशुक्ल 'तरल'

दर्शन का जीवन से गहरा संबंध है। दर्शन का विकास मानव संस्कृति का विकास है। काव्य का इसीलिए दर्शन से संबंध है। प्राचीन साहित्य का सिंहावलोकन इसे और भी स्पष्ट कर देता है। काव्यशास्त्र में दर्शन की मान्यता भाव-पक्ष के माध्यम से हुई है। हिंदी काव्य में मध्यकालीन दर्शनों का प्रभाव संतवाणी में दिखाई देता है। संघर्ष और असंतोष तब भी था, किंतु उसका रूप तब दूसरा था। व्यक्ति की समस्या तब प्रधान थी। नये समाज के परिवर्तन ने व्यक्ति के साथ समाज को सामने रखा। विगत समाजों के मानसिक स्तरों का परिचय हमें काव्य द्वारा ही मिलता है। आधुनिक काल में दर्शन की व्याख्या भी बदली है। प्रभावशाली विचार मानव की मुक्ति मांगने का प्रतिनिधित्व करते हैं। दर्शन और व्यक्ति का दृष्टिकोण इसीलिए बदला हुआ है। हमारी परंपरा ने ही इस विकास को जन्म दिया है। नवीन दर्शन और मानवतावाद की समस्या पुरानी परंपरा की भूमि का ही विस्तार है। अब दर्शन अपना रूप अधिक सार्वभौम कर रहा है। आत्म-परमात्म का तादात्म्य अब दूसरे रूप में होता है :

वेद की ऋचाएँ, सूत्र उपनिषदों के
फाड़कर आवेष्टन जीर्ण धर्मशास्त्रों के
मचल उठे धरती पर साकार होने को।
विरल जन की आँखों के मुँदे हुए कपाटों से
व्यक्ति के अन्तर की कैदी अनुभूति रहकर
सबल शोषकों की मुट्ठियों में अब बंदी रह न सकेगा,
निखिल चराचर की समता के गायक ऋषियों का मंत्र-दर्शन !
अब वह पिण्ड, रूप, रंग, आकार लेगा
विश्व के इस विराट वस्तु-व्यापार में।
भूमा का ऐश्वर्य न रहेगा मात्र भोग-दासी बनकर
कुछ मुट्ठी-भर सत्तावानों और धनवानों की :
न रहेगा वह मात्र बौद्धिक-आध्यात्मिक चर्चा का विषय
कुछ महलों की रसीली दावतों औ' सुगन्धी शय्याओं पर।
ऋषियों के ऋत, सत् और भूमा प्रकट होंगे अब

जन-शक्ति की महानिर्माण-शाला में
श्रमिक के घन की चोटों से फूटती चिनगारियाँ बनकर,
आनमान की सुगन्धित यज्ञशालाएँ कुछ सम्पन्नों की
अब बदल जाएँगी कारखानों की प्रचण्ड निर्माण-भट्टियों में ।
और जनता की इन सार्वजनिक यज्ञशालाओं का प्रसाद
न रह सकेगा कुछ महलों का सीमित वैभव बनकर :
वह वैभव फलेगा अब जन-जन के अन्तर का उल्लास
और आँखों का प्रकाश बनकर ।

—वीरेन्द्रकुमार जैन

इसीलिए अब वह "तब तक नहीं लिखना चाहता जब तक कि आंख पानी से न भर जाए। बिना मन का तन एक मूर्तिहीन सूने भवन के समान है। जब तक घाव बहते दिखाई दे, तब तक काव्य की काया सजाने का कोई मूल्य नहीं है।" (मुकुट बिहारी सरोज) "जल, थल, नभमंडल में जीवन की धारा बह रही है, जो प्रतिक्षण संसृति के कूल-किनारों का सिंचन कर रही है। कवि की सुंदर बस्ती इसी धारा के तट पर है। उसकी कल्पना मधुशाला जैसी चपल है, जो अब रुकना नहीं चाहती।" (बच्चन) "कोई स्वर्ग, कोई स्वप्न को शोधता तथा खोजता रहा। कोई लोक भोगता रहा; कुछ भी हो, कवि को मनुष्य सर्वत्र महान लगता है।" (बच्चन)

"कवि मन-बंधनों को अनुरक्ति समझकर विसर्जन को अमिट वरदान समझता है।" (शांति मेहरोत्रा) "भावना के रेशमी तारों से सब चराचर बंधा है। भावना सदा रूपाभ का आह्वान करती है। तर्क का व्यापार जड़ है, क्षणभंगुर है, संताप की लय है, शूल बनकर चुभता है, आंधी उड़ाता है, किन्तु भावना सब अभावों को दूर करती है। वह सूक्ष्म की स्वरवाहिनी है। वही स्वर्ग को धरा पर खींच लाती है।" (शुंभनाथ शेष) कवि कहता है :

हृदय जब संकटों की आखिरी हद तक पहुँचता है।
पराजित धैर्य के भी हाथ में तलवार आती है।
किया जिसने जगत को दान, तन-मन-प्राण सब अपना।
उसीकी याचना संसार का अधिकार पाती है।
हृदय के रक्त से छनकर भुजा का रक्त जब बहता।
तभी मिट्टी में मोती की फसल मल्हार गाती है।

—नीलकंठ तिवारी

उसमें "मिट-मिटकर जीने की प्रबल साध है। नारी अबला बंदिनी नहीं, सहचरी है। कर्मक्षेत्र की संगिनी है। युग-युग पहले का समाज बदल चुका है।" (उपेन्द्रनाथ अश्क)

"जिस तृषा पर पंथ का गतिरोध पल रहा था, आज कवि उस कलुषित तृषा की जड़ हिलाना चाहता है।" (शैलेश) "पथ पर मिटनेवालों का बलिदान व्यर्थ नहीं जाता। जो राही पथ पर बलि होता है वह मजिल को समीप लाता है।" (ब्रजमोहन गुप्त)

"इधर रूप की सुंदर जुल्फें सुदरता की आग लगाती हुई, राज-अटारी में पलंगों पर भोग-विलासों को फैलाती हैं; दिन में जो दुनिया में धर्म और सत्ता का रास रचाते हैं, वह रात में अविचारी-व्यभिचारी दानव बन जाते है। इसीसे सुदरता की जुल्फों की सौगंध लेकर ही परिवर्तन का लाल सितारा आज नई आग लेकर जल उठा है।" (अंचल)

"पंथ भले ही थके, किन्तु यह चरण अविराम चलते रहें।" (शान्ति) "पंखों से पत्थर बंधे हैं। नित्य नभ के आमन्त्रण आते हैं। प्राण तड़पकर रह जाते हैं। अब तो कवि पाषाणों को रगड़-रगड़कर ज्वाला उपजाकर जल मरना चाहता है।" (चिरंजीत) "वह भले ही रोता-सा दीप है, किन्तु जलता तो है। उसे स्नेह नहीं मिला, इसीलिए प्रतिभा का रंग नहीं खिल पाया, फिर भी यह क्या कम है कि वह ज्योति जगाता है। वह स्वयं मिटता है, परन्तु औरों को राह दिखाता है। वह नत होने को पाप समझता है। माना कि वह तम से जीत नहीं सकता, किन्तु कम से कम उसकी आंखों में खलता तो है।" (रामकुमार चतुर्वेदी) "सुपनों की अटारी के दरवाज़े बन्द करके कान मत मूंदों, बाहर तूफान गरज रहा है।" (भारतभूषण अग्रवाल)

जगती के विषण्ण आँगन में, अमृतपुत्र, अभिनंदन !
माँग रही म्रियमाण मनुजता है तुमसे नवजीवन !
प्रगटे स्वर्णशस्य धरती पर, आगत मंगलमय हो !
नूतन युग के नव-मानव की दिशि-दिशि में जय-जय हो !
नई चेतना के निर्माता, करो अमर वह सर्जन !
माँग रही म्रियमाण मनुजता है तुमसे नवजीवन !

—आनन्दनारायण शर्मा

"कवि एक पगतल में पड़ा लघु तिनका है। अभी उसका दो दिन का नया अस्तित्व है। उसे झंझा के झोंके भुलाते रहते है। जीवन का पथ सदा बदलता रहता है। परन्तु तूफानों से उसकी पुरानी प्रीति है। वह गत इतिहासों का भग्नावशेष है। परन्तु वह लघु दीपक की जलती हुई जवानी है।" (श्यामबिहारी शुक्ल 'तरल')

"कवि का जीवन, नव आशा-रस से विकसित होकर, प्रेम-प्रीति-परिमल से सुरभित होकर, मानव-मन का आलिंगन कर रहा है।" (केदारनाथ अग्रवाल)

"अब तक काम ही काम रहा, विश्राम नहीं। पंथ ही को प्रेय मत समझो, श्रेय तो धाम है। किसीकी मधुर याद, किसीका बिछोह लेकर मोह से क्यों बंधे हो!" (सुधीन्द्र) "मन का दिया ज्योति नहीं देता यदि उसमें आग नहीं जलती। दुःख के दाहों से ही हमारा

अभिमान आंसू बनकर गलता है। यह जीवन तो चन्दन की लकड़ी है, जो घिसकर ही गंध लुटाता है। यह जीवन मेंहदी की पत्ती है, घिसकर ही यह रंग दिखाता है। जिसे तुम शाप कहते हो, वह तो तुम्हारा वरदान है। हे देव! दुःख की रजनी ही हमें हमारा दिन देती है।" (हंसकुमार तिवारी)

"ऐसे बोल चाहिए जिनमें अमरत्व का सिंधु लहराए। ऐसे बोल कि उनको सुनने के लिए उच्च हिमालय भी अपना सिर उठाए। सूझों के अंकुर उन्मादों की उर्वर धरती पर फूटें।" (सुमित्राकुमारी सिन्हा) "दुर्बलता में इन्सान का मन पलता है। मंज़िल इतनी पास भी नहीं होनी चाहिए कि चलने का अभ्यास ही छूट जाए। शीतल लौ शलभ नहीं चाहते, जिससे जलने का अभ्यास छूट जाता है।" (रामावतार त्यागी)

मुट्ठियों में बाँधकर तूफान
कल्पना उतरी धरा पर आज
भावना कोमल बनी उद्दाम
धमनियों में खून की आवाज़
सृष्टि कम्पित, चौंकते दिक्पाल
हिल उठा है स्वर्ण का संसार
ले रहा यौवन खड़ा अँगड़ाइयाँ
नाचती सिर पर नयी तलवार
शोषकों का ढह रहा प्रासाद
शोषितों का क्रुद्ध है हुंकार
तिमिर में जलती मशालें, क्रान्ति की
गा रही है रागिनी खूँखार

×

प्रगतिमय पग पर हिमालय झुक गया
सफल वाणी और वीणा आज
प्राप्त कर कविता विजय के पंख
सज रही प्रत्यंग में नव साज

—ब्रजकिशोर नारायण

अब वह "सम्भव से असम्भव को हराना चाहता है। वह प्राण से ही प्राण का सम्मान पाना चाहता है।" (कल्याणकुमार 'शशि') "जो पथिक मृत्यु पर भी मुस्कराना जानता है, उसके लिए व्यर्थ पानी से शान्त पलकों के किनारे मत भरो।" (सुरेन्द्र तिवारी) "जब मिटने का वरदान मिल जाता है, तब जड़ता भी गतिवान हो जाती है।" (विद्यावती कोकिल) "जो व्यथा का भार लेकर मुस्कराए, वह गान है। जो अकेला वेदनाओं में जगे

वह अरमान है। यदि मंझधार में नाव डूब जाए तो पतवार ही क्या है। जो अंगारों पर हंसकर न चल सके वह प्यार नहीं है। जो मौत को सीने से लगाकर हंस सके, वही ज़िन्दगी है। जो श्मशान में भी प्राण फूंक दे, वही वरदान है।" (दुष्यंतकुमार)

"कवि मिटने की सीमा-रेखा पर शुरू हुआ, उसका आरम्भ हुआ रोने में, परन्तु अन्त हुआ गीतों में।" (गिरिजाकुमार माथुर)

वह नया रास्ता पकड़ना चाहता है, ताकि पुराना क्रम ही टूट जाए :

नवीन पथ ग्रहण करो !
लिखो न गीत दुःख-भरे,
न वेदना विकल करे,
विषाद के अडिग पहाड़
पर सुदृढ़ चरण धरो !
न एक आह भी उठे
न एक दाह भी उठे
मिले समुद्र सामने
सहास संतरण करो !
मनुष्य तुम महान हो,
अजेय शक्ति प्राण हो
डरो न क्षुद्र विघ्न से
संमोद अतिक्रमण करो !

—जितेन्द्र कुमार

साहस के प्रति एक अदम्य प्रीति नये कवि में हमें प्राप्त होती है।

"हर दर्द स्वयं नया राग बन जाता है। सदा ही गान आहों से फूटा करता है। यौव मुस्काता रहता है, और जीवन की परिभाषा को नूतन बनाता है।" (राजेन्द्र सक्सेना

एक नया दृष्टिकोण मनुष्य को नवीनता के प्रति कितना जागरूक बना सकता है यह बात हमें स्पष्ट दिखाई देती है।

"सितार के तार अलग-अलग है, किन्तु तान में अनेकता नहीं है। चाहे आकाश लाखों तारे हैं, परन्तु प्रकाश में महान एकता है। सूर्यताप और चन्द्र की शीतलता जगत के भेदों को नहीं जानते। किन्तु मनुष्य जो पृथ्वी के शासक हैं वे अपनी समानता को नहीं मानते। क्षुद्र भी महान का प्रतीक है जैसे बीज में वृक्ष होता है। जैसे असीम वेदना समुद्र को मैं अपने एक बूंद आंसू में सम्भाल लेता हूं।" (गौरीशंकर ओझा)

सारी सृष्टि का कारण और मनुष्य के दुःख के कारण दोनों को ही कवि ए स्वर से सुनता है।

"एक दिन तपःक्षीण शुद्ध मानव ने दानवता के दुरंत घावों से त्रस्त, अस्त-व्यस्त सृष्टि को अभय देकर अपना अस्थि वज्र देकर कहा था कि बढ़ो और ध्वंस के पिशाच रौंद डालो। एक दिन सूली पर टंगे हुए दृढ़ संकल्प ने कहा था कि : पिता, इनको क्षमा क्योंकि ये जानते नहीं कि ये क्या कर रहे है।" (प्रयागनारायण त्रिपाठी)

विषमता के बहुत-से रूप कवि के सामने आते है।

"कवि बिकाऊ है पर उसे कभी सोना नहीं खरीद सकता। कभी चांद-तारे उसकी ूी के बराबर नहीं हो सकते। उसे वही खरीद सकता है जिसके पास आंसू के मोती और हो आंचल का कोना।" (गंगाप्रसाद श्रीवास्तव) कवि अपने को भी संघर्ष के तर्गत ही पाता है :

कौन-सी वह जीत ?
सूर्य उज्ज्वल, और कोमल कमल,
शीतल शीतकर, रोमाञ्चिणी रजनी।
कि कितने छन्द नूपुर में लिए, लीलामयी,
गतिमन्द, ऊषा-सी सलज्जा, रागिणी सजनी,
न जाने कौन-से मोहक प्रभातों के किरनदल,
खिल रही बेला-कली के कुञ्ज नव फूले,
न जाने कौन-से स्वर्णिम सरोवर

ा है। यह तूफान क्या है ? वह स्वयं आंधी बनकर चलता है।" (नीरज) "दर्शन ।-महन्तों का है, दुनियावाले हो, दुनिया से प्यार करो।" (नीरज)

"आदिपुरुष की यही इच्छा है कि जग से अमर मनुजता मिट न जाए। वही गुणा- ः अणु की सत्ता है। महावीर्य से आलिंगित है। वही कर्मशक्ति से ज्योतिग्रस्त होकर

स्वर्ग और सुख का वरण करेगा। नारी से ही यह मनु का वंश रक्षित है, वही आदि सृष्टि की धरित्री है।" (शिवमूर्ति मिश्र)

स्त्री और पुरुष दोनों की ओर ही कवि की दृष्टि समान रूप से जाती है। नवयुग के आदि कवि से कवि कहता है, "जन्म मरण की कथा से अमर बनता है। उसे शत-शत मरण भी नहीं मिटा सकते। चिरंतन पंथ को छोटे-छोटे चरण नहीं छिपा सकते।' (सुधीन्द्र) "जिस जीवन में दुःख की ज्वाला है वह सोने से कुंदन बनता है। जिसका हृदय परदुःख से कातर होता है, वह अनश्वर गीत संजोता है।" (कुसुमकुमारी सिन्हा)

मिट रही है आज मानवता स्वयं
मानो कि की हाराकिरी भगवान ने
मन्द जीवन-ज्योति की रेखा सुनहली।

—महेन्द्र भटनागर

"लेखनी ही हमारा प्यार है, धरा पट है, सिन्धु मसिपात्र है, हम तुच्छ से तुच्छ जन की जीवनी पर भी कहानी, काव्य, रूपक, गीत···आदि लिखा करते हैं।"

(नागार्जुन)

वह अपना 'नायक बदल' रहा है।

आज की मिटती चिता पर
उस नये युग के लिए निज रक्त निष्ठापूर्ण हो
अर्पण करो, अर्पण करो
और उसका इन्क़िलाबी शक्ति के नारे लिए
स्वागत करो, स्वागत करो !

—महेन्द्र भटनागर

"जो धरती की धड़कन नही सुन सकते, वह नभ का संगीत क्या सुनेंगे ! थल की नोकों से डरकर फूलों से कोई क्या प्यार करेगा ! जो थके चरण को अपनी करुण का दुलार नही दे सकता, वह बढ़ते कदमों की आंधी पर अधिकार नहीं कर सकता। ज प्यार असुन्दर को सुन्दर नहीं बना सकता, उस मरे प्यार की खातिर कोई क्या हंस-हंस कर मरेगा !" (गोपालकृष्ण कौल)

"बस अन्तिम साध यह है कि हम क्रान्ति के सिपाही हैं। तब तक प्यार औ सुख कहां है, जब तक धरती पर गुलामी है। शोषण का दनुज चूसता चिंघाड़ रहा है। ज तक उसका ध्वंस नहीं होगा, तब तक सुख और शांति कहां मिल सकती हैं ?" (राजेन्

कार्लमार्क्स के प्रति आवेश में आकर कवि कहता है, "तुम जग-जीवन के नव विहान हो। तुम महाक्रांति के अग्निगान हो। तुम करुणा की कातर पुकार हो। तुम दरि द्रता की प्रलय-तान हो। तुम साम्यवाद के विजय-गान हो।" (सोहनलाल द्विवेदी)

सोहनलाल द्विवेदी को राष्ट्रकवि माना जाता था। किन्तु संभवतः ऐसी कविता ग्र कम्युनिस्ट कवियों ने भी नहीं लिखी होगी। उस समय एक लहर ऐसी आई ही थी। सीसे मैंने इसे आवेश के अन्तर्गत कहा है। मुख्य बात तो जन-कल्याण की है, वह अब ी प्रमुख ही है। "स्वप्न के मेले ही सजाते न रह जाना, सत्य के ईमान का भी ध्यान खना। गीत का मस्तक झुकाते ही मत रहना, उसके सम्मान का भी ध्यान रखना। ाव में उत्सव ही मत मनाते रहना, उठ रहे तूफान का भी ध्यान रखना। इंसान का घर ालते देखकर आखिर जमाना कब तक नहीं बदलेगा!" (वीरेन्द्र मिश्र)

व्यक्ति और समाज का द्वन्द्व आज भी चालू है :

मेरी वाणी यदि विश्व बदल सकती है
नवयुग का स्वर्ण-विहान मुझे खोजेगा।
मन का संशय पथ का हिमगिरि बनता है,
जलकण नयनों का पारावार कहाता,
अंतर का अंतर्द्वन्द्व विशद कोलाहल
यह मानव ही तो है संसार कहाता।
बस आत्मा का अमरत्व स्वयं ही प्रभु है
है और दूसरा भी कोई क्या जानूं ?
यदि सत्य और शिव, सुंदर मुझमें लय है
कवि का मंगलमय गान मुझे खोजेगा।

—विद्यावती मिश्र

बीच-बीच में दर्शन की सुलग भी मिलती चलती है। मनुष्य का यह स्वभाव है क व्यवहार में कुछ भी करने के पहले वह पहले उसके लिए एक चिन्तन तैयार करता । जब तक उसका विश्वास जम कर नहीं बैठता वह आगे का काम ठीक से नहीं र पाता।

"आज प्राणों की विवशताएं एक नया तूफान लिए है। बलिदानों की चिता सजा- र वे चिनगारी के गान लिए हुए हैं। जैसे सुबह-शाम की गांठें दिन के छोरों पर लगी , इसी तरह जीवन के कोनों पर भी गत और आगत की अनुरक्ति जग उठी है।"

(उदयशंकर भट्ट)

इसी दृष्टि से कवि ने व्यथा का कारण व्यक्तित्व के द्वन्द्व में न मानकर लोक के न्द्व में माना है।

"जब धरती मरती है तो आकाश मौन क्यों है ? देव का देवत्व दैवाधीन है, परंतु ौरुष का तो सदा ही स्वाधीन है। हमने जिंदगी बरबाद नहीं की। हम हरदम, हर घड़ी, मेशा, ज़िंदगी की हर सांस, हर कड़ी जिए।" (जानकीवल्लभ शास्त्री)

जीवन को पूर्णतम बनाना प्रत्येक युग के मनुष्य की एक साध्य कामना बनी रही है।

"यति को गति के बदले कभी नहीं चुना। फिर लहरों के उत्थान-पतन कर भी क्या सकते हैं? जिसका जीवन संघर्षों का है, उसे कूल से प्यार नहीं है। इसलिए मंझधार उसे कभी भी डरा नहीं सकी। जीवन के राही को अवरोधों पर भक्ति नहीं हो सकती।" (राजकुमारसिंह 'कुमार')

यह ही है उसका नये रास्ते की ओर बढ़ना। पूर्व चिंतन उसे ले जाकर एक नई समस्या के सामने खड़ा करता है।

ये खड़ी रूढ़ियों की ऊँची दीवारें—
जीवन देनेवाले समीर को रोके!
उस पार कैदखाने के रह जाते हैं
अलमस्त हवा के ताजे-ताजे झोंके!
कुछ यत्न करो जिससे ऊँची दीवारें
बिखरें गिरकर मिल जाएँ मैदानों में!
फिर नई जिंदगी की फसलें लहराएँ
मस्ती की हस्ती भर कर इंसानों में!
तो, खुली हवा के खातिर हमको-तुमको
होगा समाज की परम्परा से लड़ना!
बल जोड़ सकेंगे हम इतना निश्चित है
तुम जरा गौर से मन की गीता पढ़ना।

—शिवकुमार

रूढ़ियों से मुक्ति का संघर्ष निरन्तर बढ़ता ही जाता है।

"प्राण का इतिहास यह है कि प्यास ही अस्तित्व है, जो कभी बुझना नहीं जानती वही प्यास होती है।" (श्रीहरि)

यह प्यास ही एक नये रूप में 'प्रगति' बन कर आई है।

"मृत जर्जर खंडहर से नवयुग की सांसें जग जाएं। बीते युग के पतझड़ से नया मधुमास उग आए। आज शोषण की मीनार डगमगा कर गिर जाए। साम्राज्यों की दीवार लड़खड़ा उठे। जालिम की कातिल खूनी तलवार टूट जाए। युगों के बाद कारा के द्वार टूट जाएं। ध्वान्तमान अंबर से युग का नया सबेरा जाग उठे। काले मृत्यु-प्रहर से जीवन की किरणें फूट पड़ें। अपना सूर्य युगों के बाद निविड़ तिमिर से निकल आए।"

(घनश्याम अस्थाना)

एक ओर परंपरा, एक ओर प्रगति। कवि दोनों में एक तार बांधने की चेष्टा

कर रहा है।

"कामना विवशता पर कब बलिदान नहीं हो जाती? लेखनी से वेदना का गान कब नहीं फूट पड़ता? मन के मोदकों से भूख नहीं बुझा करती। क्या सजग पौरुष जग की आज थाह ले चुका है?" (गौरीशंकर मिश्र 'द्विजेन्द्र')

नये समाज में कल्पना से काम नहीं चल सकता। उसका कहना यह है कि चिंतन के पीछे क्रिया उतनी ही आवश्यक है जितनी क्रिया के पीछे चिंतना होती है। आज मानव के नये रूप विश्व में सामने आ रहे है:

वर्ण-व्यवस्था टूट चुकी है कब से औ' अब
वर्णमात्र हैं दो जगती पर !
एक कि जिसके हाथ सभी शोषण के साधन !
सागर को मथ,
पिये अमृत के घूंट,
युगों से लेट रहा जो
क्षीरोदधि की सुखशय्या पर !
लक्ष्मी पैर दबाती जिसके
शेष नाग करता है छाया ;
कोने-कोने में जगती के
फैल रही है जिसकी माया।
जिसकी चतुराई ने श्रम के सागर पर वह बाँध बनाया—
जिसे उदधि-वर अब तक पूरी तरह कभी भी तोड़ न पाया।
इसने किया जगत का शोषण युगों-युगों से
औ' पोषणकर्ता कहलाया।

—उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

फिर भी व्यक्ति इसे स्वीकार करता है। नया कवि विद्रोह करता है। वह कहता है, "उस कमजोरी की पूजा करता हूं जो जीने को मजबूर कर रही है। उन चरणों पर चांदनी चढ़ाता हूं जो अपनी राहें अपने-आप बनाते हैं। उन गीतों को आवाज़ लगाता हूं जिन्हें मधुवन में भौंरे गाते है।" (रमानाथ अवस्थी)

यों तो संघर्षों का एकत्व अपने-आप होता हुआ मिलता है।

"हाय! मेरे युग में नर-पशु के अंतर की रेखा मिट गई है। मैंने वह दिन भी देखा है जब मानव-श्वान एक टुकड़े पर टूट रहे। जिसे मैं अनहोनी समझता था, वह तो सत्य बनकर व्यंग्य कर गई। खुलेआम सड़कों पर मानवता कुत्तों की मौत मर गई। भाई ने भाई के उष्णरक्त से तर्पण करना चाहा। स्तनों का रक्त पीकर नवयुग का शिशु अजान

मूक-सा कराह उठा। संज्ञागत इस विभीषिका पर भी 'कला-कला की माला' जप रहा है। तब तो मेरा मानव-तन धिक् है। यह हृदय की ज्वाला निष्फल ही दग्ध है।"

(शिवमंगलसिंह 'सुमन')

यह है समाज। इसमें कवि कब तक अन्याय देखता रह सकता है?

"जिसे तुम मेरी भूल कहते हो वही चिर संचित जीवन-गान है।"

(शिवबहादुरसिंह)

इसीलिए वह सब ओर देख-दाखकर अंत में अपने मन में कहता है—"आ री व्योमकुंजों की परी कल्पने! भूमि को स्वर्ग पर मत ललचा। हम तेरे स्वप्न तक नहीं उड़ सकते, शक्ति है तो आ, यहीं अलका बसा।" (रामधारीसिंह 'दिनकर')

और क्योंकि उस समय रूस का विकास मानव-विकास में एक अद्‌भुत वस्तु-सा दिखाई दे रहा था, कवि ने कहा :

लाल सितारा हो ध्रुवतारा
शत्रु देख हहरे!
लाल ध्वजा यह मजदूरों की
लाल ध्वजा यह मजबूरों की
लाल ध्वजा यह है शूरों की
छू सकते साम्राज्य न इसको
भीरु देख भहरे!
हमारी लाल ध्वजा फहरे,
तुम्हारी लाल ध्वजा फहरे!
गड़े देश में लाल पताका
रोके बढ़ बैरी का नाका
चले लाल सेना का साका
अन्यायों का सर्वनाश हो
आज न्याय ठहरे!

—सोहनलाल द्विवेदी

इसके मूल में यह भी था कि भारतीय कवि अंगरेजी शासकों के रूप में सारी अंगरेज जाति से घृणा नहीं करना चाहता था। वह शासकों और जनता को अलग-अलग करके देखना चाहता था। यह उसकी मानववादी परंपरा का ही परिणाम था।

"कई दिन से त्रस्त जीवन है और वेश अस्तव्यस्त। मन सतप्त है। प्राणों में निर्धूम चिंता की चिता जल रही है। भीत-सा प्रति रोम मेरा कांप रहा है और मेरी चेतना हिम-शीत जड़ता में जकड़कर चेष्टा से हीन निर्जीव मौन हो गई है। ऐसी विषम स्थिति में

अब युग के बाद ब्राह्ममुहूर्त में कवि की आंख खुली है और वह सोचता है कि यही वह ब्राह्ममुहूर्त है जिसमें वेद बने थे और ओंकार की झंकार-धारा अम्बर को झंकृत कर गई थी। इसके साथ वह आदिकवि भी अनुभूति की तरलित छटा को शब्द में बांध पाया था। किंतु मै अभिशप्त युग का अभागा कवि जागते ही पेट की बात सोचता हूं। हे कवि ! तू लेखनी को छोड़कर तलवार हाथ में ले ले और फिर क्रूरता पर वार कर। उस मनुज-पशु पर वार कर जिसने तेरा विश्व एक घोर कारागार बना दिया है। फिर तू स्वयं अपने को मिलाकर नया संसार रच जिसमें अंबर, जलधि और धरणी उन्मुक्त रह सकें और सर्वत्र मानव की विजयिनी कीर्ति का विस्तार हो।" (पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश')

व्यक्ति ने अपनी सत्ता को अधिक से अधिक व्यापक रूप में देखने की चेष्टा की है। उसने बहुत ही ठोस तरीके से अपने को समाज के बीच रखकर देखा है और उस समस्या का हल भी निकालने की चेष्टा की है। यह उसका नया दृष्टिकोण ही है जिसके द्वारा उसने अपना आक्रोश नये रूपों में प्रकट किया है :

कैसे लिखूँ शांति पर कविता !
अमन-चमन को कैसे मैं कड़ियों में बाँधूं ! !
मैं दरिद्र हूँ
पुश्त-पुश्त की यह दरिद्रता
कटहल के छिलके जैसी खुरदरी जीभ से
मेरा लहू चाटती आई।
मैं न अकेला
मुझ जैसे तो लाख-लाख हैं, कोटि-कोटि हैं
यों तो सबका यही हाल है
सभी सरों पर यह वबाल है
सभी दुखी हैं
दो प्रतिशत भी नहीं सुखी हैं
कैसे लिखूँ शांति पर कविता !

—नागार्जुन

इतना ही नहीं, उसने अपने को महत्त्व अधिक ही दिया है :

"श्रम का मूल्य है, अभिमान नहीं करना। श्रम के कारण ही, पत्थर भी मूरत बन जाता है। श्रम का मंदिर बहुत ऊंचा है। सब सांसें गलने दो। नया प्रभात आने दो।"

(कोमलसिंह सोलंकी)

श्रम की प्रतिष्ठा नये मानव की प्रतिष्ठा है। इसमें उसने संस्कृति के दूसरे ही मूल्यों को उभारने का प्रयत्न किया है। किंतु उसका विकास एक ही रूप में नहीं हुआ। ममत्व

को उसने अपने से तिरस्कृत नहीं किया बल्कि समग्र का अंग बनाकर स्वीकार किया है।

"क्या मुझे हार में विजय मिलेगी? उदधि के उर से ऊंची उमड़ती, शून्य धरती को तपाती, शून्य अम्बर में घुमड़ती घनघटा उठी। वह शीतल परस पाकर सुखद-सजल फुहार में गिर पड़ी। जो घूर्णित बवण्डर दशों दिशाओं में भ्रांत-क्रांत दिवस को धूलि से धूमिल करके, भीषण निशा में लीन करके बढ़ चला, वह एक पल में मृदुल मलय बयार में लय हो गया। गिरि-शिखर से गर्व में भरकर जो निर्झर गरजता बढ़ चला वह धरा का प्यार पाते ही मंदगति होकर मौन-सा निश्चल नदी की धार मे जा बसा। जो प्राण कण्टक कुचलता, आग में गलता, विष से संभलता हुआ निरंतर प्रगति-पथ पर अपनी सफलता आंक रहा था, वह प्यार के एक पल मे किस अंक में बसकर रुक गया?"

(सुधीन्द्र)

वह शोषण को अपना शत्रु मानता है। उसे उसने अनेक-अनेक नाम दिए है, ताकि उसके वैविध्य को पहचान सके।

"जिसने जिंदगी और मौत में कुछ फर्क नही माना, जो किसीको सिर झुकाना ही नहीं जानता, जिसकी जवानी मौत को चुनौती दे रही हो, जिसको सारा जमाना खड़ा हुआ एकस्वर से कोसता हो, जिसके तन-बदन से विद्रोह की लपटे निकल रही हों, नया कवि उस हृदय के अंगारों-सा उष्ण है। उसे क्षार नही समझना चाहिए, वह तो ज्वाला-भरा अंगारा है।" (निरंकारदेव 'सेवक')

वह कर्म और फल की विवेचना में नया तथ्य निकालता है। "केवल वर्तमान की ही चिंता में आनेवाले कल का ध्यान मत भुला दो। अगर फल के बारे में नहीं सोचेगे तो हम यहां विष के बीज बो जाएंगे।" (शिवकुमार) अब उसके सामने भारतीय चिंतन के सत् और असत् का द्वन्द्व भी आता है और वह दार्शनिक-सा कहता है:

हार-जीत दो शब्द नियम के
गति के, मति के, शान्ति और संयम के
जीवन
दो शब्दों में रुँधा नहीं है।

×

प्यार और संघर्ष : शब्द दो
गति के, यति के, ज्ञान और विभ्रम के
यौवन
दो शब्दों में बँधा नहीं है।

ध्येय—साधना, शब्द नियम के
गति के, यति के, सुख के, दुख के, श्रम के।
साधन
दो चरणों में सधा नहीं है।

—शिवमूर्ति 'शिव'

नया दर्शन केवल रूखा नहीं है। सब कुछ निर्माण की दौड़ में ही है। वह सोचता है, "बिना प्यार के इंसान अपने में अधूरा है। इसके बिना हर बीज जहरीला धतूरा है। हमें प्यार का बीज इसलिए बोना है कि हमारा प्यार ही इंसान के दम का जहूरा है।"

(प्रभातकुमार तिवारी 'प्रभात')

प्यार में व्यक्ति का स्वर अब बदलता भी है तो छद्म धारण करके ही। वह कहता है, "हम दीवानों की क्या हस्ती! आज यहां है, कल वहां चल दिए। मस्ती का आलम हमारे साथ चलता है, हम जहां चले धूल उड़ाते चले। अभी उल्लास बनकर आए, अभी आंसू बनकर बह गए। यह मत पूछो कि किस ओर चले! हमें तो चलना है, बस इसलिए चल पड़े। कुछ जग से लिया, कुछ दिया भी, कुछ हंस-रोकर, हमने सुख-दुःख के घूंटों को छककर एक भाव से पिया।" (भगवतीचरण वर्मा)

किंतु साथ ही नया उद्वेग उसे चैन से भी तो नहीं रहने देता। वैयक्तिकता से परे वह आगे जाना चाहता है।

"यह जलन का दौर यों कबतक चलेगा? पुतलियों से छिले दिल को लेकर जगत कब तक जलेगा!" (उदयशंकर भट्ट)

यह प्रश्न शायद अभी चलता ही जाएगा, व्यक्ति का यह दृष्टिकोण पहले के समाजों में इतना एकांगी कभी नहीं था। था भी तो वह व्यक्ति के चरम विकास 'योग' के रूप में मान्य मान लिया गया था। नया कवि इस अति की एकांगी वैयक्तिकता को भी तो नहीं चाहता। वह सबसे मिलकर रहना चाहता है :

वरदान माँगूँगा नहीं
यह हार एक विराम है, जीवन महासंग्राम है
तिल-तिल मिटूँगा पर दया की भीख मैं लूँगा नहीं
क्या हार में क्या जीत में, किंचित् नहीं भयभीत मैं
संघर्ष-पथ पर जो मिले, यह भी सही वह भी सही
चाहे हृदय को ताप दो, चाहे मुझे अभिशाप दो
कुछ भी करो कर्तव्य-पथ से किन्तु भागूँगा नहीं।

—शिवमङ्गलसिंह 'सुमन'

संघर्ष की वेला भी कितनी विचित्र है। व्यक्ति में तो क्षण-क्षण वासना है। वासना

उसके अस्तित्व का विकिरण है। वह चिंतन-मात्र से तो शरीर-धर्म नहीं छोड़ सकता। इस जगह धर्म की गांठ दिखाई देती है। इसीलिए वह क्षण-भर गभीर बनकर इसपर फिर सोचता है :

"दिन के मीठे घूंटों को जो बचपन पीता चलता है, वह क्या किसी दिन यौवन के तीर पर नहीं पहुंच जाता ? जो सरिता बहती ही रहती है,वह सागर से हिल-मिलकर हंसती है। जो चलता ही रहता है, मंजिल उससे बहुत दूर नहीं रहती। न तो आगत का अंत है, न पतन की सीमा है। युग-पथ प्रत्येक चरण पर मृत्यु की धमकी दे रहा है। फिर भी एड़ी जमती जाती है और पंजे आगे बढ़ते जाते है। जो चढ़ते-चढ़ते रुक जाता है, उसे विश्राम नहीं समझना चाहिए। प्रत्येक चरण इस जीवन का आगे, आगे ही चलता है।"

(उदयशंकर भट्ट)

यही चिंतन जब अपने वैयक्तिक संघर्ष के पक्ष को उभार लाता है तब उसमें एक खीझ-सी आ जाती है। व्यापक रूप से वह सुख को देखता है। सुख वैयक्तिक-सा ही दिखाई देता है। उसकी खीझ बढ़ती है। नया चिंतन उसे चैन नहीं लेने देता। वह कहता है :

"मैं अपने जीवन से कैसे कह दू कि अब इसका गति से कोई परिचय शेष नहीं है। इस मन को मैं कैसे भावुक कहूं, इसे तो जड़ता में भी कोई क्लेश नहीं है। कमजोरी के गीत बनाकर क्या गाना ! वह कविता ही क्या जिसमें नई उठान नहीं हो। हाय मेरे प्राण बुझ गए, कवि भी मर गया। अब मुझे अपने पर कोई अभिमान नहीं है।"

(भारतभूषण अग्रवाल)

परंतु यह स्वर जब रूप बदलता है तो सांत्वना मिलती है :

"यह जगती बहुत भोली है, इसमें स्नेह का चषक छलक रहा है। जीवन प्रेम है, प्रेम जीवन है।" (कोमलसिंह सोलंकी)

प्रेम ! प्रेम की उदात्तता सिद्ध करके, प्रेम को ही व्यापक बनाया जाता है। क्योंकि उसे अधिक महत्त्व दिया जाता है :

यह सुधा है, पी रहा हूँ
मैं अमर बन जी रहा हूँ
जो मुझे दुख दे रही है
वह हृदय की अप्सरा है,
कौन कहता दुख बुरा है !
शांत हूँ मैं देख जीवन
शांत हूँ मैं सुन मरण-क्षन
आदि जिसका, अन्त उसका
प्रकृतिसिद्ध परम्परा है।

—देवराज दिनेश

यह प्रेम ही व्यक्ति में है। उसे ही व्यापक करो तो वह समाज का आधार है। वही निर्माण है।

"साथी ! आज ध्वंस की जली चिता पर नवनिर्माण सजेगा। नया संदेसा लिए जवानी जीवन का रुख बदल रही है। संघर्षो की विप्लववेला तारों का अवसान बन गई।" (मृणाल)

जिस प्रकार प्रेम की दांपत्य अभिव्यक्ति प्रजनन-निर्माण है, उसीका व्यापक रूप लोक-निर्माण है।

"लक्ष्य पर दीपक जलाकर, पगों में तम भर गया। जब शिखा पर ध्वजा उड़ी तब विजय ने हार मान ली। हे पथिक ! मंजिल का अन्त नहीं है, हर चरण प्रथम ही है। न पीड़ा का ही अन्त है, क्योंकि हर श्वास मरण है। विश्व में पग-विश्राम को ही हार कहते है।" (रघुवीरशरण 'मित्र')

इसीलिए गति को महत्त्व दिया गया है, क्योंकि गति प्रत्येक निर्माण को आवश्यक है ! गति एक आवेश है, आनंद की क्रियात्मक साधना है। तो यों देखने पर हमें मिलता है स्वानुभूति का नये रूप में विकास, और उसमें स्वाभिमान को ऊपर उठाया जाता है।

"जो वरदान आत्मसमर्पण करने से मिलते है, उन्हें मैं प्रेम नही करता। जो मिलन कामना में ही जल जाते है, या विरह-वेदना में ही जल जाते है; जो स्वाभिमान का त्याग करके किन्ही नयनों के कुछ संकेतों के साथ मचल जाते है; जो तूफानों के साथ नहीं चल पाते, ऐसे अरमानों से मैं प्रेम नहीं करता। मै पाषाणों से प्रेम नही करता।"

(श्यामविहारी शुक्ल 'तरल')

अब समाज की ओर देखते ही कवि को शोपित से प्रेम हो जाता है।

"तूफान बुझते अगारों में जीवन जगाने आया है। मेहनतकश का स्वागत करने को खुद मजदूर उठेगा।" (मृणाल)

परंतु मजदूर उसके लिए एक प्रतीक-भर है, बाह्य रूप मे जीवन-दर्शन की अनुरक्ति-भर है।

पथ को करो प्यार
होंगे सुमन तप्त अंगार !
पथ पर रुदन-हास, कंटक-सुमन-लास
सुख-दुख सदा पास,
पथ ही अखिल सत्य का द्वार !
यह है मिलन राह, मिलती बढ़ा बाँह
संध्या - उषा - छाँह

पथ मुक्ति-साधन न भ्रम-भार !
गति ही विजय है, अगति हार !

—शम्भूनाथ सिंह

मुक्ति उसका केन्द्र है। साधना से ही उसका लगाव है।

"मेरे मन ! कष्ट-गहन को सहन करो। यह मत समझो कि दुःख में दुःख की कथा का ही गौरव है। जब तक प्रतिकार न हो, तब तक सहते रहो। जब तक यह बोध न हो कि मुझमें भी क्रोध है, और मैं प्रतिशोध लूगा, तब तक कष्ट सहन करो।"

(रघुवीरसहाय)

दुःख का निरावरण ही उसका मुख्य उद्देश्य है, चाहे उसकी अभिव्यक्ति किसी भी रूप में हो।

"अपने भाग्य को दयामय मसीहा बनाकर एक बार एक वन में हाथ उठाकर दुखी बोल उठा। वहीं एक चट्टान पर सिर पटककर पपीहा अपने हृदय के रक्त से लिख गया : सफल यात्री को जगत् के सफर में प्रणय ही तरी है, प्रलय ही किनारा है।— एक दिन नदी के किनारे एक विकल प्रेमी अपनी ज्योतिबाला के बारे में सोचता खड़ा था कि घड़ी एक में एक ट्रेन उधर से निकली, जिसने तिमिर चीरकर लौ-उजाला फेंका। बड़े मुक्त स्वर से ट्रेन ने कहा : 'मुझे संसार में आदमी ने संवारा है।'"

(शिवबहादुरसिंह)

मनुष्य सबपर छा गया है। इसीलिए स्वतः ही कवि को अपनी सारी परिभाषाएं बदलने को विवश होना पड़ा है। वह पुरानी चीजों से बाहर निकल आना चाहता है।

"नशीली आंख, अधर कोमल, अलकें सौंदर्य की वासी निशानी बन चुके है। आज युग को नूतन इतिहास, शब्द, शैली, भावना, विश्वास, सब कुछ नूतन चाहिए।"

(खुशदिल)

इस तरह वह अतीत से प्रेरणा तो लेता है, किंतु उसका अनुकरण नही करता। परंतु यह एक आवेश है, या है बौद्धिक चितन। अब वह शरीर-धर्म को प्रकृत मानकर उसे अपना लक्ष्य नहीं बनाना चाहता। चाहता है ऊपर उठना और प्रकृत को प्रकृति के सामने रखकर केवल साध्य न मानकर उसे साधना-मात्र बनाना चाहता है :

हाँ देख शुकों को, काकों को, हंसों को
नभ की अनन्तता से नित स्पर्धा करते
क्या कभी सोचते हो तुम अपने मन में
हम भी क्यों नहीं उड़ान हृदय में भरते ?

पर होता तो अवश्य है ऐसा मानव
जो कोसों क्या, शतियों ऊपर उड़ जाता,
उड़ता है स्वयं और अपने पंखों से—
अनजाने अन्यों को भी सदा उड़ाता।

×

सो गया गरुत्मत वह नित उड़ते-उड़ते
हाँ, अभी-अभी तो राजघाट पर जाकर
ओ' तुम हो कि बस भूल बैठे हो उसको
जिसने दी तुम्हें चेतना अलख जगाकर।

×

तुम, ओ धरती के रिंगण-गति-रत पुत्रो
उग आएंगे जब पंख तुम्हारे मन में,—
तब अम्बर-विचरण की लालसा सहज ही
भर जाएगी तव जीवन में क्षण-क्षण में

—बालकृष्णशर्मा 'नवीन'

बलिदानी का महत्त्व दिखाकर कवि उसी उदात्त की ओर दृष्टि ले जा रहा है, जिसमें पूर्णत्व कर्म में आ जाता है; प्रकृत में नहीं रहता। यह विकास एक आदर्श है।

किंतु व्यवहार में देखने की कुत्सा है। कवि वहां पूछता है :

"यदि गुलामों से नैतिकता और गरीबों से नैतिकता चाहते हो तो एक को आज़ाद और दूसरों को आबाद करो। ऐसा उपाय ईजाद करो कि इंसान गुलाम नहीं रहे। जो गुलाम का कारण बनता है, उस दुश्मन को बरबाद कर दो। अगर गुलामी धरती पर न हो तो मानव के मन को पाप घेर ही न पाए।" (रामदयाल पाण्डेय)

नैतिकता सर्वमान्य रूप से एक नहीं मानी गई है। उसका परिस्थितिजन्य भेद माना गया है। परंतु यह कवि को आदर्श नही है। वह उद्‌बोधन देता है कि "यह भी क्या जीवन है जिसमें यौवन की लहर नही। मेरे हीरो! चढ़ो खराद पर और तिल-तिल कटकर चमको। वह यौवन क्या, जिसके मुख पर शोणित का रंग नहीं लहराता! जिसमें आगे बढ़ने की अपार उमंग नहीं, वह कैसा यौवन! वह भी क्या प्रेम है, जिसमें देश की आग छिपी न हो! जन्मभूमि के चरणों में मिट जा! तुझे दुनिया अमिट मानेगी।" (सोहनलाल द्विवेदी)

यहां उसने अपने जीवन की सार्थकता का मार्ग खोज निकाला है, वह अब उसे कार्य रूप में लाना चाहता है :

हँस-हँस हृदय-रुधिर से जग के कालेपन को धोता हूँ मैं
स्वर्ण-कुसुम फूटेंगे, बलि के बीज मधुर नित बोता हूँ मैं
तुम वसन्त लो चिर मंगल का मैं पतझार लिए जाता हूँ
जीवन के कण-कण को मैं ही यौवन-ज्वार दिए जाता हूँ।
चिनगारी देने, आया था—इनको मुट्ठी-भर चिनगारी
एक बार बस जल उठने की अब आई है इनकी बारी
तब तक अंचल मानवता का मैं सुकुमार लिए जाता हूँ।
दुर्वह भार लिए कंधों पर पथ को पार किए जाता हूँ
पुतली में तस्वीर बसी जो उसको देख जिए जाता हूँ।

—केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'

सुन्दर के प्रति अनुरक्ति आवेश के क्षण में कहीं अधिक हो जाती है। जो देता है वह मूल्य को बहुत बढ़ा भी देता है :

"मरने से डरनेवाले को ही मृत्यु द्वार पर खड़ी होकर डराती है। मरनेवाले को अमरता जयमाला पहना जाती है। स्वार्थ-विहित भयभीत हृदय में अविनाशी का वास नहीं होता। जो भय की मकड़ी के जाले को तोड़ चुका हो, वही जीवित है। मरने से डरनेवाले को ही मौत निगल-उगलकर खा रही है।" (नरेन्द्र)

यों मृत्युञ्जय होने का यह स्वर विकास का ही स्वर है, व्यक्तित्व को बड़ा करने का ही माध्यम है, उपदेश-मात्र नही है। तभी कवि कहता है :

प्रबल पवन से न डर बटोही
दिया जलाता हुआ चला चल !

तिमिर न होता अगर जगत मे, प्रकाश का कुछ न मोल होता
अगर उदासी हुई न होती, सुहास का कुछ न मोल होता
बता रही है यही घटाएँ कि लोचनों को सनीर कर ले
सिखा रही है यही बिजलियाँ कि मुस्कराता हुआ चला चल।
अगर थकावट हुई न होती विराम की क्यों घड़ी सुहाती ?
डगर कठिन यदि हुई न होती कभी न मंज़िल हृदय लुभाती !
बता रहे हैं यही सितारे—'अगर न मंज़िल मिले न घबरा !'
सिखा रही है यही हिलोरें कि पग बढ़ाता हुआ चला चल !
अगर गरल ही हुआ न होता, सुधा जगत में किसे सुहाती ?
अगर विरह ही हुआ न होता, घड़ी मिलन की न याद आती !
बता रहा है यही पपीहा कि प्यास में भी बड़ा मज़ा है,
सिखा रहा है यही मधुपदल—'तृषा बुझाता हुआ चला चल।'

अगर जगत में न शाप होते किसे वरों की घड़ी सुहाती
अगर पराजय हुई न होती विजय किसीको नहीं लुभाती !
बता रहे हैं झुके विटपदल कि नम्र होना बुरा नहीं है !
सिखा रहा है यही हिमालय कि सर उठाता हुआ चला चल !

हुआ न होता अगर पतंगा शिखा दिये की किसे जलाती
अगर मरण ही हुआ न होता, किसे भला ज़िंदगी सुहाती ?
बता रहे हैं विशाल पर्वत कि मौन रहना यहां भला है,
सिखा रहा है अनंत सागर कि मस्त गाता हुआ चला चल !

—रामकुमार चतुर्वेदी

जीवन के समस्त द्वन्द्वों का महत्त्व वह नये रूप में स्वीकार करता है। और उसकी दृष्टि सर्वत्र सत् और उज्ज्वल की ओर जाती है। मानो जितने भी अधोगामी या दुखपूर्ण तथ्य हैं, वे प्रकृति और समाज में इसलिए है कि उनसे साहस की शिक्षा प्राप्त की जा सके। वे उसे उन्नत बनाने के लिए है, उसका विकास करने के लिए हैं। यदि कवि निराशावादी होता तो वह प्रतिपक्ष को ही अधिक महत्त्व देता हुआ दिखाई देता। परतु वह नूतनता की ओर अग्रसर है। कवि को इसीलिए अब विकास में ही कल्याण दीखता है :

आज राख की ढेरी से जो फूट रही चिनगारी है
फूल रही चट्टानों पर भी बन सपनों की क्यारी है
अगणित जनगण की नवगति पर स्वयं प्रगति बलिहारी है
हर पग वामन का पग है हर एक भुजा गिरिधारी है

×

नव संस्कृति का गौरव चलता जन-मंगल के गाँवों से
लिपट रहे हैं फूल हृदय के काँटों के भी पाँवों से
मन की राह गुज़रती जाती मानवता की छाँवों से,
आत्मध्वजारोहण होता है बाहर कर्म-भुजाओं से।

×

यह निर्धन इंसान चला है धरती भी धनवान बनी
यह अनपढ़ ईमान चला है नियति मनुज का ज्ञान बनी
बढ़ता चढ़ता है यह द्रोही आत्मज्योति सोपान बनी
इसके पाँव जमे शिखरों पर, कर में क्षितिज कमान तनी।
अपने ही मरघट से उठकर जनता का भगवान चला

एक नया इंसान चला

—नीलकण्ठ तिवारी

अब मनुष्य नया हो गया है । वह कष्ट सहन करके भी आगे बढ़ रहा है। वह द्रोह केवल द्रोह की भावना से नहीं कर रहा है। उसके सामने कोई लक्ष्य है, जिसे वह महत् समझता है, जिसके लिए उसने नये दृष्टिकोण को अपनाया है।

आत्मा का ही विकास मानो अपने बाह्य रूप में लोक का कल्याण बना है। मनुष्य अब प्रमुख है।

"पुरुष के गर्व ! तूने दो पगों से निस्सीम गगन का विस्तार नाप डाला । नखों की नोक से जलधि का अपार गहन गर्भ चीर डाला। क्या तुझे भुजा के पाश बंदी बना लेगे ?" (नगेन्द्र)

पुरानी दुनिया को वह सीमित मानता है, तभी वह उसे पूर्ण नही मानता :

ओ सिपाही
यदि तुझे कुछ चाहिए तो
पोंछ अपने घाव पर छलका हुआ यह रक्त

×

इन पुराने गीदड़ों का कर न कुछ विश्वास ये सब
ढोंग के नीले समन्दर मे लगाकर डुबकियां
बन गए हैं आज शाहंशाह वन के।

—हरिव्यास

प्रतिक्रियावादियों से उसे घृणा है । वह उन्हें राह का रोड़ा समझता है। अपनी वगावत को वह फैला देना चाहता है :

"मेरे इस स्वर को समरांगण के कोटि-कोटि उन योद्धाओं तक पहुंचाना जो मेरी ही तरह जगती के कोने-कोने में अंधकार से जूझ रहे है।" (उपेन्द्रनाथ 'अश्क')

सब मिलकर जैसे एक मोर्चा बना रहे हैं। वह सब एक ही विराट संघर्ष के लिए उठ रहे हैं। युग की छाप व्यक्तियों को एक भूमि पर ऐसे ही लाया करती है।

"मै रक्त की धारा वहाकर किरकिराती देह को ही उर्वरा कर रहा हूं। मैं शब्द के कर्मण्य कर से धरती जोतकर मानवी स्वाधीनता के बीज बोता जा रहा हू। मैं श्रम-जीवी हितों के अंकुरों को उगाता जा रहा हूं। जो किसीसे पराजित और किसीसे मिटाए नहीं जा सकते, जो मरेंगे तो, लेकिन फिर जीकर लड़ेंगे, उन्हें मैं ऊपर उठाता जा रहा हूं। मै मोर्चे पर लड़ाई लड़ रहा हूं।" (केदारनाथ अग्रवाल)

सचमुच वह अपने को योद्धा ही समझता है। जो कभी चारण था, स्तुति गाता था, आवेश जगाता था, वह अब अगुआ बन गया है। वह राह दिखानेवाला बना है

और उद्‌बोधन उसका मुख्य कार्य हो गया है। कवि कहता है :

"मांसल प्राण मृत्यु के साथी, मुझे तो वज्र के प्राण चाहिए। संघर्षो से युद्ध और जीने का अभियान चाहिए। जीवन के पथ में हड़कम्पी अड़चन आने दो, शूलावृत कण-कण से मेरा रुधिर-क्लिन्न तन भर जाने दो। सागर की लहरें आएं और तट को पी जाएं, अमा के अंधकार में मेरा स्वर्ग बिखरता है तो बिखर जाए। किन्तु मैं संहारिणी लहरों से लड़कर दुःख का सागर पार करूंगा। मैं स्वयं स्वर्ग का निर्माता हू। मुझे अपना ज्ञान चाहिए।" (उदयशंकर भट्ट)

मनुष्य अब प्रतीक है। अंततोगत्वा तो संपूर्ण मनुष्य का प्रतीक एक व्यक्ति है। वह व्यक्ति है जो सबका प्रतिनिधित्व करता है। और यह है नया व्यक्ति :

वह व्यक्ति बना,
जो खड़ा हो गया है तनकर पृथ्वी पर अपने पटक पाँव
डाले फूले वक्षस्थल पर मांसल भुजदण्डों का दबाव,
जिसकी गर्दन में भरा गर्व जिसके ललाट पर स्वाभिमान,
दो दीर्घ नेत्र जिसके जैसे दो अंगारे जाज्वल्यमान,
जिसकी क्रोधातुर श्वासों से दोनों नथुने हैं उठे फूल
जिसकी भौंहों में, मूंछों में है नहीं बाल, उग उठे शूल,
दृढ़ दंत-पंक्तियों में जकड़ा कोई ऐसा निश्चय प्रचण्ड
पड़ जाए वज्र भी अगर बीच हो जाए टूटकर खंड-खंड।

—बच्चन

इस व्यक्ति का हृदय कहता है कि वह नये निर्माण का प्रतीक है। कवि कहता है, "मैं जीवन का मौलिक स्वरूप रचने को खड़ा हुआ हूं। किंतु मुझे मरण के हेतु जीवन स्वीकार नही है।" (राजेन्द्रप्रसाद सिंह)

जीवन की स्वीकृति भी अपना विशेष कारण रखती है। कितने ही छोटे-छोटे मतभेदों के रहते हुए भी, कवि-हृदय इसमे एकमत है कि मानव के व्यक्तित्व का विकास होना आवश्यक है :

"सम्मुख सागर लहरा रहा है, लहरो के स्वर से मुझे बुला रहा है। मन के भीतर किसीकी सुधि का मृदु सौरभ अकुला रहा है। भले ही लक्ष्य मिले या न मिले, मैं तो तरणी को मंझधार में लिए जाता हूं। मैं युग हू। झझा के रथ पर चढ़कर हुंकार किए जाता हूं।" (केदारनाथ मिश्र 'प्रभात')

विद्रोह और उसके लिए आक्रमण-संधान भी आज के कवि के लिए आवश्यक है।

"हम तिनके बने आंधियों में उड़ते नहीं रहेगे। यह ध्रुवहीन यात्रा जय नहीं है। एक क्षण अपना रहे तो हमें युग-युग मिल जाएगे। मजिलें हमारी बाधा न बनें, हम तो

पथ का यही अभिमान कर लें।" (कंचन)

पथ का अभिमान क्यों ? क्योंकि अकिंचन बनकर जीवित रहने में कवि को कुछ मर्यादा दिखाई नहीं देती। हम जीवंत मानव को देखते है।

"हमीं अकेले नहीं, सारी सृष्टि यहां तपा करती है। एक-दो बूंद नहीं, सावन-भादों के जलधर उमड़ते हैं। जब तक बूद-बूंद रवि की ज्वाला पर अपना जीवन तौल रही है तब तक तो सावन-घन ऊसर को उर्वर करने से चूक नहीं सकते।"(शिवमङ्गलसिंह 'सुमन')

पथ होना चाहिए। उसके बिना लक्ष्य भी क्या कर सकता है। कवि कहता है :

पंथ की पहचान यदि पग को न हो
तो बिचारा लक्ष्य आखिर क्या करे।
भूल-शूलों का बिछा यदि जाल हो
तो चरण का वक्ष आखिर क्या करे ?
हाथ में यदि तोड़ने का बल न हो
भाग्य का लघु कक्ष आखिर क्या करे !
हो हृदय में घोर तम लिपटा हुआ
तो उजेला पक्ष आखिर क्या करे ?

—शिवशंकर मिश्र

विश्वास ही सारे सत्य का आधार है। उसके बिना कुछ भी नहीं है, क्योंकि दृष्टि-कोण उसपर ही तो आश्रित है। मनुष्य कौन है। वह तो बहुत व्यापक हो गया है। दर्द की वजह से उसकी सत्ता बहुत ही सार्वभौम और सार्वकालिक हो गई है।

"सीने में तीनों लोकों की पीर लिए हूं। आंखों में सावन-भादों की तस्वीर लिए हुए हूं। मैं कवि हूं, मानव-संस्कृति का निर्माता हूं। मै अपनी वाणी से मुर्दों में प्राण जगाता हूं। ब्रह्मा तो बस एक दिवस ही सृष्टि बनाता है। परंतु मैं नित्य नया संसार बनाया करता हूं। दुनिया से मौत जीत गई, लेकिन कवि से नहीं। कवि तो मर जाता है परंतु कविता कभी नहीं मर पाती। दुनियावालो ! तुम कवि का सम्मान खरीदोगे ? आंसू दे-देकर क्या मीठे गान खरीदोगे ? ओ कुर्सी के हैवान दीवानो ! क्या तुम चांदी के टुकड़ों पर ईमान खरीद लोगे ? मैं उन मतिमंद सत्ताधारियों पर हसता हूं जिन्हें नादिरशाही प्रति-बंधों पर विश्वास है। शायद वे नहीं जानते कि छत्रसाल के कधों पर ही भूषण की डोली उठती थी।" (रामकुमार चतुर्वेदी)

कवि का गौरव अपनी चेतना को ही नही, सामाजिक परिस्थित को भी उठाना चाहता है। इसके लिए वह बदला देने को भी तैयार है, "आज इतना तप कि पत्थर पिघल जाएं। ज्योति तम को भेद दे, किरणें निकल आएं। अब मरण का प्यार भी विफल क्यों जाए ? साधना ही सिद्धियों में बदल जाए।" (सुमित्रा कुमारी सिन्हा)

इतना सब करने-कहने को तत्पर है नया कवि, क्योंकि वह काव्य के माध्यम से अपने को सबका पहरुआ मानता है, आगे मानता है अपने को। वह अब ऐसे हृदय को खोजता है जो उसीकी भांति है। उसे वह अपने प्रेम का आधार बनाना चाहता है। यह तो उसकी सहज पुकार है :

अरे, है वह अंतस्तल कहाँ ?
अपने जीवन का शुभ-सुंदर
बाँटा करता हूँ मैं घर-घर
एक जगह ऐसी भी होती,
निःसंकोच विकार विकृति निज
सब रख सकता जहाँ।
अरे है वह अंतस्तल कहाँ ?

—बच्चन

जिंदगी के बारे में शायद पुराने कवियों ने कभी ऐसा नहीं सोचा था। नया कवि कहता है और विश्वास से ही कि, "मुझे इस जिंदगी की प्यास पर अभिमान होता है। इसीलिए मेरे होंठों पर हमेशा गान रहा करता है। मुझे तो जिंदगी में यह ध्यान रहता है कि किसी वीरान बस्ती को बसा दू क्योंकि मनुज का भाव ही तो अंत में भगवान बन जाता है।" (राजेन्द्रकिशोर)

वह प्रेरणा का रूप सामने रखता है :

ऊँची ग्रीवा रख आजीवन
चलने का लेकर के भी प्रण
मन मेरा खोज करता है
क्षण भर को वह ठौर झुका दूँ गरदन अपनी जहाँ ?

×

कभी करूँगा नहीं पलायन
जीवन से, लेकर के भी प्रण
मन मेरा खोजा करता है
क्षण भर को वह ठौर छिपा लूँ अपना शीश जहाँ
अरे है वह वक्षस्थल कहाँ ?

—बच्चन

अपने उदात्ततम से भी उदात्ततम को खोजना उसकी कितनी महानता है। वह और भी ऊंचा उठते रहना चाहता है। तभी वह कहता है :

"रक्तलिप्त विषदग्ध धरा को नव जीवन और नये प्राण चाहिए। कुंठित गति,

लुंठित संस्कृति को अपना पथ-निर्माण चाहिए। जीवन बिखर भी रहा है और निखर भी रहा है। एक को प्राण और दूसरे को त्राण देना है। जीने को यह लोक बना है और मरने को परलोक। तुम्हें और कितना प्रमाण चाहिए कि तुम्हारा इतिहास कलुषित है।"

(उदयशकर भट्ट)

वह तो नया दे रहा है सब कुछ। उसमें कोई प्रश्न कर बैठे तो कवि उसे कैसे स्वीकार कर सकता है! क्योंकि संशय ही पराजय का मूल स्रोत है।

इसीसे कवि मानता है :

"सुनो! मृत्यु का अवगुण्ठन खुलने से पहले ही जीवन का अभिमान क्रांति करनेवाला है। त्रासितों का रक्त एक दिन रंग दिखाएगा। तब पापो के दुर्गम दुर्ग बिखर जाएंगे। सभी विरोधाभास एक दिन टल जाएंगे। यह जीवन का विश्वास टलनेवाला नहीं है।" (कुमार)

विश्वास भी कितनी बड़ी चीज है। यह किसके अतर्गत आ सकता है! यह प्रेम के भीतर की बात है :

आज तो पतवार है, मझधार है, तट का तकाज़ा।
फूल जीवन का चढ़ा कल अर्चना में भी करूँगा।
आज भी तो मौत भिक्षा को खड़ी दामन पसारे
साँस दे लूँ, कल मदद की याचना में भी करूँगा।
दर्द की हद भी हुई क्या, आह भरता हूँ अभी तो
ले शपथ इनकार की मैं चाह करता हूँ अभी तो
झाँक जाती जब नयन से प्राण को दुनिया रुआँसी
और जीने के लिए सौ बार मरता हूँ अभी तो
आज तो इस धूल से है हर कदम पर हार मेरी
जीत लूँ तो स्वर्ग की कल कामना में भी करूँगा।

—हंसकुमार तिवारी

प्रेम ही संवेदना का आधार है। वही स्वतंत्रता चाहता है, "मानव वही है जो सिर्फ मुक्ति में ही जीना जानता है। जो देश के लिए प्राण देना जानता है, जो मानव-धर्म-मात्र को ही मानता है, वही मानव है।" (तेजनारायण काक)

देश तो केवल एक अभिव्यक्ति है। उस क्षण की मर्यादा है। अन्यथा वहां तो और भी व्यापकता है :

"सांसों में साधों की बरबाद कहानी कब तक पीड़ा का तोल करेगी? कब तक मिटी जवानी सांसों पर मजबूर अपनी ही लाश लिए चलती रहेगी? यदि तुमने प्राणों का विश्वास तोड़ दिया तो वह जिंदगी से ही उठ जाएगा। सच, तब मुझसे जो मुझको गानों

का वरदान मिला है, वह बहुत दूर हो जाएगा। लेकिन जिसे हमारा जीवन मांग रहा है, वह दृढ़ता के बिना संभव नहीं है। थोड़ा अपने मन के भीतर भी तो झांककर देखो कि क्या वहां नया सवेरा नहीं जाग रहा ? क्या इस अछोर अंधकार के शासन में यह प्यार की शमाबेबस होकर बुझ जाएगी ? क्या पतझर के छोटे-से प्रवास के आगे बहार की मस्ती बेबस होकर चुक जाएगी ?" (शिवकुमार)

यह है मानव समाज के कल्याण का अनथक युद्ध जो कभी रुकेगा नहीं :

"ये सतत संघर्ष की घड़ियां अमर होंगी। तुम तो लपट हो, जो कि झकोरों से फैलोगे। वज्र-सा अटल विश्वास है, हर चरण है बलिदान का नया इतिहास।"

(रामकुमार चतुर्वेदी)

प्रेम अब कितना बड़ा हो गया है। उसे उदात्त कह लें। पहले इस उदात्तीकरण को 'धर्म' कहा जाता था, और काव्य में उसे व्यक्ति के माध्यम से 'इति' के रूप में स्वीकार किया गया था। यह उसीका प्रकारांतर ही तो है :

प्यार पर अब तक मरता रहा मैं
प्यार है जो आदमी को
दे अटल विश्वास जीने का निरंतर
प्यार है जो आदमी की सांस में दे बाँध पत्थर
और फिर इन्सान देखे एक रेगिस्तान
जिसमें रेत के मीनार पर मीनार ढलते जाएँ
जिसमें गुंबदों की गोद में शैतान पलते जाएँ
जो यों सर नचाकर मुँह बनाकर
निगल ले कुल सृष्टि का निर्माण
ज्यों निकलते-निकलते फिर अटक जाएँ प्राण
ज्यों किसीके आँसुओं में उलझ जाएँ गान···

×

प्यार की बातें बहुत करता रहा मैं
प्यार पर अब तक बहुत मरता रहा मैं
किंतु प्रेयसि, प्यार ममता झूठ
सत्य है यह शीशियाँ, यह गोलियाँ
यह डॉक्टर, यह नर्स···
जो कि मुरझी मौत को भी
जिंदगी की एक-दो सुइयाँ लगा दें,
दे भरोसा, मौत का कुल भय भगा दें

आदमी को गफलतों की नींद से जैसे जगा दें
प्राण मेरी
बुरा मत मानो
कि झूठा है तुम्हारा प्यार—

—गोपीकृष्ण गोपेश

यह है वास्तविक प्यार। वह केवल व्यक्तिपक्षी नहीं है। यों धर्म और रति के मिलन से 'मानवीयता' का जन्म होता है।

"जो पीड़ितों में एक्य का संचार कर रही है, ये तुम्हारे प्यार की कड़ियां अमर होंगी।" (रामकुमार चतुर्वेदी)

इसीलिए कवि अब प्यार की परिभाषा बदल रहा है। मनुष्य का स्वभाव है एकरसता से अपने मन को सिद्ध करना, जैसे धातु या पारे को सिद्ध किया जाता है। उसके द्वारा मनुष्य व्यक्ति, समाज और चराचर का पहले मन में स्पष्टीकरण करके एक सामंजस्य और तादात्म्य बैठाता है। उसके बिना उसे सब कुछ सूना-सूना-सा लगता है। वह जैसे दूसरों का न्याय्य नहीं बना सकता।

इतिहास का विशाल विगत रूप देखकर वह हार नहीं मानता, नया आह्वान देता है :

"सदियों से मरघट की लपटें जग में उठती आई हैं, अब मरघट को मधुवन के गीत बुलाते हैं।" (बलवीर रत्न)

मधुवन के गीत मरघट को कभी नहीं बुला पाए थे। पहले मधुवन ही मरघट में जाकर सोया करते थे। यह है नये काव्य का स्वर। वह कहता है :

निरावृत सत्य का तूफान आता है
तरंगों के चरण थामे
गगन की देह ढलती है
तडित् की पसलियों में
पिस धरित्री टूट गलती है,
दिशा के अलक सागर में
भुजंगों-से तड़पते हैं
कि तम का दैत्य चढ़ बैठा
सृजन के अन्त के क्षण में
झुकी आलोक-माला पर।

—भारतभूषण अग्रवाल

इसीलिए वह नई उपमाएं ढालता है और इसमें वह चमत्कार पैदा कर देता है।

"कुछ मत दो, मैं तो सांत्वना का एक तृण ही मांगता हूं।" (श्यामबिहारी शुक्ल 'तरल')

यह सांत्वना है प्यार। यों मनुष्य का मुक्ति-पथ है उसका प्यार। प्यार ही की तो सारी महिमा है। उसीके आश्वासन हैं।

"इसलिए तुम डरो मत, मुझे हर एक कसौटी पर परख लो। तुम मेरा जीवन शाप बना दो, मैं उन्हें वरदान बना लूगा। तुम मेरी धरती का नाश कर दो, मैं स्वर्गो का निर्माण करूंगा। तुम मेरी आबादी में खंडहर की पीर सिसकने दो और मेरी पूनम की चांदी में मावस की स्याही फेर दो, ताकि मैं फिर खंडहर को छूकर अलकापुरी जैसी वस्ती बना दूं और पूनम के छलछल करते आसव से इस धरती की गागर को भर दूं। तुम मरु की रेतीली आंधी बनकर मेरे नखलिस्तानों को ढंक दो। कोई बात नहीं। मैं वहां समुन्दर लाकर हर रेगिस्तान में पानी-पानी कर दूंगा।" (मनोहर वर्मा)

यह है कवि-वाणी जो मुसीबतों को अपना वरदान मानने लगी है। क्योंकि उसके सामने एक नया उद्देश्य है :

"हम जीवन को गढ़नेवाले, कभी राह में नहीं रुकेंगे। हम धरती के बेटे मां की खातिर लड़नेवाले हैं। हम अपना विजयी झंडा लेकर आसमान पर चढ़नेवाले हैं।"

(श्यामसुन्दर 'अशांत')

इतना बड़ा काम है कवि के सामने। क्या वह इसे निबाह सकेगा, क्या उसका सपना पूरा होगा ? वह उत्तर देता है :

सीमाओं से बांध लिया था,
जिस परवशता ने मानव को,
अभिशापों की कड़ियों में
गूंथा था उसके जीवन-स्वर को।
आज हथौड़ों की चोटों से
कड़ियों का क्रन्दन होता है,
उस पिशाचता की वेदी पर
मानव का दानव जलता है,
भाग्य विधाता आज स्वयं
इन्सान बना है अखिल विश्व का
जो था नर - कंकाल वही
जुल्मों से आज लड़ेगा साथी !
जिसकी दाढ़ें आज खून से
निर्दोषों के रंगी पड़ी हैं

जिसकी महलों की दीवारें
उसी खून से सनी पड़ी हैं।
जहाँ जमी महफिल के तालों
पर स्वप्निल मादकता तिरती
एक अंग की अँगड़ाई पर
बोझिल आँखें जहाँ थिरकतीं
इसी महल के तले खड़ा
दम तोड़ रहा इन्सान भूख से,
पत्थर भी देगा जवाब,
विप्लव का बिगुल बजेगा साथी।

—मृणाल

विप्लव ! इसका उत्तर है विप्लव ! एकदम की झकझोर जो सब कुछ उलट-पुलट दे। पुराने को उखाड़ दे। अपने पौरुष का भीम पराक्रम प्रतिध्वनित कर दे। नई शक्ति जगा दे। वह कहता है:

"कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ कि जिससे उथल-पुथल मच जाए। एक हिलोर इधर से आए, एक हिलोर उधर से आए, सर्वनाश छा जाए ! आग बरसने लगे। नभ का वक्ष फट जाए, तारे टूक-टूक हो जाएं।" (बालकृष्ण शर्मा 'नवीन')

और अब हम देखेंगे कि इस आह्वान को सुनकर नई चेतना उस विध्वंस से नई सृष्टि की किस प्रकार कल्पना करती है।

अभिव्यक्ति और विधान

ऑस्कर वाइल्ड ने वैज्ञानिकों से कहा था, "तुमने मेरे स्वप्नों को तोड़ दिया है। पहले जिस सुंदर चंद्रमा को 'डायना देवी' समझा जाता था, उसे तुमने केवल पृथ्वी का उपग्रह प्रमाणित कर दिया है, लेकिन मुझे तो वह अब भी उसी रूप में अधिक आकर्षक लगता है।"

इसका कारण था कि वैज्ञानिक केवल व्याख्या कर रहे थे, और कहते थे कि चांदनी सिर्फ धूप है, जो अपनी भाई के लौटने से धरती पर ठंडी लगती है, परंतु वे यह नहीं देख पा रहे थे कि उस ठंडे लगने की अनुभूति कितनी मनोरम और सुंदर थी, ठीक जैसे हाड़-मांस-मेदा और रक्त का मानव देखने में सुंदर लगता है।

ऐसी ही है यह चांदनी। आज भी मनुष्य को यह सुंदर लगती है। क्यों लगती है ? इसका भी उत्तर है कि यह देह को सुख देनेवाली होती है, नयनों को शीतल करती है और इसका स्वरूप अत्यन्त मनोरम होता है। इस चांदनी को काव्य में बहुत समय से वर्णित किया गया है। महर्षि द्वैपायनव्यास ने तो युद्धभूमि में भी 'कामिनी के कपोल-सा हिमश्वेत चंद्रमा उदित हुआ' कहकर, 'सैनिकों के हृदय में शांति और स्निग्धता छा गई' इसका वर्णन किया है, अन्यत्र की तो बात ही क्या ? संस्कृत के महाकवियों ने तो चांदनी के वर्णन में अजस्र रसधारा बहा दी है। छायावाद के प्रभाव में अनेक कविताओं में इतने लावण्य का उल्लेख है।

किंतु आज का कवि भी पीछे नहीं है। उसने चांदनी और चंदा के इतने रूप प्रस्तुत किए हैं कि यह एक अलग ही विषय बन गया है, जिसको महत्त्व देना आवश्यक प्रतीत होता है। काव्य का मुख्य उद्देश्य अनुभूति के सौंदर्य का सृजन करना है। इस दृष्टि से चांदनी उसका एक बहुत बड़ा माध्यम बनी हुई दिखाई देती है। उसने पिष्ट-पेषण नहीं किया है। चांदनी पर तो जैसे उसकी कलम खुल गई है। उसने अपने जीवन के सुख-दुःख को हर प्रकार से चांदनी में घुलाया है। इसका एक कारण यह भी है कि चांद की छाया में, रात में, उसे तुलनात्मक रूप में अधिक अवकाश रहता है, जब वह अपने विषय में अधिक सोच सके। इसीलिए उसमें दर्द भी है, दर्शन भी, वासना भी और घुटन भी।

नगर, ग्राम, वन, सबकी ही ओर उसकी दृष्टि गई है। और आधुनिक जीवन के परिवेश में उसने अपनी विवशताओं को काफी गहराई से टटोला है। और उसने उस वेदना को बड़ी ही सुकुमारता से उंडेल भी दिया है।

'शहर की रात' में चंदा उगा। नये कवि ने देखा। अपने जीवन की विवशताओं और घुटन को देखा। विज्ञान के चरणों को भी उसने निहारा और वह कह उठा :

रात हो गई।
जले राह पर खड़े लौह खम्भों पर लटके लट्टू।
चमक उठीं सहसा सड़कों पर
चलती हुई मोटरों की गोल उल्लुई आँखें।
फिसल पड़ीं किरणें प्रकाश की
कोलतार की सड़क हो गई गोरी।
लट्टू जलते रहे।
मरकरी घड़ी चमकती रही
न बिजली फेल कर सकी
और इसीसे दूर गगन का पूरा-पूरा चांद
रह गया मुँह लटकाए।

—नगेन्द्रकुमार

पहले तो मोटरों की गोल उल्लुई (नया शब्द) आंखों ने उसकी आंखों को चौंधिया दिया। और मरकरी लैम्प की रोशनी के कारण आकाश का चंदा उसे ऐसा दिखाई दिया, जैसे मुंह लटकाए रह गया। यह केवल उक्तिवैचित्र्य के अन्तर्गत आने-वाली रचना ही नहीं है। इसमें केवल आधुनिकता का गर्व ही नहीं है। वरन् इसमें मनुष्य के नये जीवन का प्रतिबिम्ब है, एक नये दृष्टिकोण का आभास है, जिसमें यांत्रिक जीवन प्रकृति के सहज सौंदर्य से दूर होता चला जा रहा है। वह सब कुछ पर छा जाना चाहता है। किंतु उसकी अनुभूति की कोमलता विनष्ट होती चली जा रही है। मानो यह विकास गुलाब के फूल का महत्त्व केवल इतना मानेगा कि उसमें से इत्र निकाला जा सकेगा और बाकी सब व्यर्थ होगा।

किंतु मनुष्य का हृदय यह स्वीकार नहीं करता। प्रकृति से मनुष्य संघर्ष इसलिए करता है कि प्रकृति को अपने लिए ऐसा बना दे जो उसे सुख दे। जिन पत्थरों से वह घर बनाता है, वे भी तो प्रकृति के ही अंग होते हैं। जिस बिजली को उसने कांच में घेर लिया है वह भी तो वस्तुतः एक प्राकृतिक वस्तु है।

और काव्य जीवन की एक अनुभूति ही नहीं, वह तो उसके जीवन की विभिन्नता से उत्पन्न अनुभूतियों का प्रसार है। व्यक्ति सबको देखता है और उस सबका उसपर

प्रभाव पड़ता है। जो व्यक्ति बाह्य के तादात्म्य में नहीं आता उसमें भाव नहीं जाग सकता।

इसीलिए प्रकृति की सुंदर वस्तुओं से मनुष्य की मुठभेड़ नहीं, वरन् उनसे तादात्म्य स्थापित करने का ही उसका प्रयास है। वह अपने नगर में भी उपवन बनाता है, ताकि वृक्षों और फूलों का आनंद ले सके। आज के विषम जीवन में धन के लिए एक दौड़ हो रही है, और उसमें मनुष्य केवल 'लाभ' के अंकुश से चल रहा है। यह विज्ञान की देन नहीं, आर्थिक संबंधों की देन है। इस देन को यदि सभ्यता का प्रभाव समझा जा रहा है, तो उसका कारण यही है कि आज सभ्यता विषम वर्णगत स्वार्थों में पड़ी छट-पटा रही है। मध्यकालीन व्यक्ति के सामने प्रकृति खुली पड़ी थी। फिर भी राजप्रासादों में बद्ध कवि उसका स्वतन्त्र रूप नहीं देख पाए थे। उन्होंने स्त्री की देह को ही सब कुछ मान लिया और वह भी उसका कामिनी स्वरूप। इसकी पृष्ठभूमि में उस युग का प्रभाव था, जिसमें शासकों की विलासिता का ध्यान रखा जाता था। जो काव्य राजप्रासादों के बाहर था उसकी समस्या दूसरी थी। वह थी संतों का वह प्रयत्न जो मानव-मात्र को समान बताते थे। किंतु उनका दृष्टिकोण अभावात्मक था। अतः प्रकृति को वे भी नहीं देख पाए। संस्कृत के कवियों में प्रकृति के प्रति अधिक मुखर दृष्टि थी। आज के युग में विज्ञान ने पुरानी धारणाओं को उखाड़ दिया। वेल्स प्रभृति वैज्ञानिक विषयों पर लिखने-वाले उपन्यासकारों ने मानव-सभ्यता का ऐसा विकास दिखाया है कि वर्षा और कुहरे से ऊबकर मनुष्य ने ऐसा नगर बनाया, जिसपर कांच की एक छत थी, जिससे धूप तो आ सकती थी, मगर पथ नहीं भीगते थे। वह भी इसी अति का एक प्रदर्शन था, जिसे विकृति में प्रकृति पर विजय प्राप्त करना कहा जाता है। नया कवि वास्तव में द्वन्द्व में है। वह यदि इस नयेपन से प्रभावित है तो पुराने का भी उसे मोह है। वह पुराने पर व्यंग्य करता है, किंतु नये के प्रति भी उसके मन में कचोट है।

चांदनी तो सहज ही अच्छी लगती है, ऐसा ही उसका परिवेश है। प्रायः लेखकों में उसके सौंदर्य-पक्ष की ही अभिव्यक्ति हमें मिलती है, किंतु 'एप्रोच' हमें प्रायः ही नये-नये ढंग का मिलता है। हम इसे स्वस्थ मानते हैं, क्योंकि इससे काव्य के रूपों में विविधता आती है, और हमें नये-नये सौंदर्यों के दर्शन होते हैं।

ऐसी ही एक सुदर चांदनी रात में कवि-मानस जाग उठा। प्रकृति अपनी कम-नीयता लिए उसके सामने खुली पड़ी थी। चेतना में स्पंदन हुआ। और उसने उस नीरवता का प्रशांत अनुभव किया। तब उसने रात्रि के सम्मोहन में सबको सोता हुआ देखा। यह चित्र कितनी शांति की बेला का है। सुदूर से आती वंशीध्वनि-सा। चराचर की इसी सुषुप्ति के लिए कहा गया है—या निशा सर्वभूतानाम्। और कवि ने कहा :

ओढ़कर चाँदनी रात का आवरण
भूमि की सेज पर सो गए धूलिकण
सिंधु की गोद में सो रही है लहर
फूल के अंक में सो रहा है भ्रमर
चाँद सो भी रहा दूर आकाश में
लाज भी सो रही है प्रणय-पाश में
नींद है स्वामिनी दास है जागरण
चेतना बंदिनी, मुक्त है जागरण

—भगवद्दत्त मिश्र

सिंधु की गोद में लहर सो गई है, और भूमि की सेज पर धूलिकण चांदनी रात का आवरण ओढ़कर सो गए हैं। लाज प्रणय के पाश में सो गई है। जागरण दास हो गया है, क्योंकि नींद स्वामिनी है। चेतना बंदिनी है, परंतु जागरण मुक्त है। यह कैसा विरोधाभास? यहीं कवि का चमत्कार है। यह वह जागरण नहीं है, जो आंख खुलते में मिलता है, क्योंकि वह तो दास हो चुका है और उसके साथ ही चेतना भी बंदिनी हो चुकी है। यह जागरण है नींद के भीतर का जागरण, जिसे कहते हैं स्वप्न, वह अवस्था जब सोते हुए भी प्राणी यही अनुभव करता है कि वह जाग रहा है।

लेकिन अब चांद कैसा लगता है? रेशमी, गीला, सुनहरा। अर्थात् उसकी स्निग्धता, उसकी कमनीयता आगे आती है।

रेशमी, गीला, सुनहरा चाँद
धरती पर उतरना चाहता है।
सौगुनी रफ्तार से भयभीत पृथ्वी भागती है।
प्यार का घट रिक्त, मन के स्वप्न के घनश्याम सारे,
जेठ की जलती दुपहरी में, विजन की डूंगरी के
देव मंदिर की फटी-मैली ध्वजा से उड़ रहे हैं सूखकर।

विजन की डूगरी का प्रयोग राजस्थानी है। उसकी कल्पना करने को किसी डूगरी के देवमंदिर को देखना आवश्यक है। व्यास में अपनी कल्पना और वास्तविकता का संघर्ष चल रहा है। कल्पना बार-बार सुन्दरता की ओर ले जाती है, किंतु यथार्थ सिर पर हथौड़े से मारने लगता है। कितना करुण विद्रूप है! तभी तो कवि भी नीचे उतरकर देखता है:

मांस-मज्जाहीन, लकड़ी का बना
मनुपुत्र पीता बीड़ियां आधे जले अद्धे उठाकर
हो रहा निर्माण, नव निर्माण, सारे विश्व में

बन रहे कीटाणुओं के बम।
चांदनी-सी मर्क्युरी-आलोक वाली बत्तियों की
दूधिया किरनें बरसती हैं सड़क पर।
चमचमाती मोटरें रफ्तार से बे सांस भागी जा रही हैं,
घुट चला दम इस सड़क पर।

×

मैं खड़ा हूँ एक सँकरी राह पर
मन अचेतन की गुफा में बद्ध,
निज आकांक्षा की राख की
भस्मी रमा कर ले रहा संन्यास।
वास्तविकता मारती रहती हथौड़ा शीश पर।

—हरिनारायण व्यास

इस 'डिलीरियम' अर्थात् सन्निपात में उसे मनुष्य के पुत्र की दयनीयता बार-बार कचोट उठती है। और संसार में कीटाणुओं के बम बन रहे है। उनसे निस्तार कैसे हो? कितनी समस्याएं हैं आज के कवि के लिए? तुलसी और बिहारी के संसार में ऐसी जड़ें कब उखड़ी थीं! मनुष्य की सत्ता को इतने बड़े शत्रु से कब पाला पड़ा था। और वह देखता है कि पृथ्वी पर जो मर्क्युरी आलोकवाली बत्तियां हैं उनसे भी चांदनी जैसी किरनें सड़क पर बरस रही है, किंतु विषम सामाजिक व्यवस्था में कवि का दम घुटने लगता है। उसका मन अचेतन की गुफा में बद्ध हो जाता है, जैसे वह कोई पशु है, जिसे बंद कर दिया गया है। उसके अरमान समाप्त हो गए हैं, जलकर राख हो गए है। अब उसके पास प्राप्ति की कोई आशा नही है, तभी वह राख को शरीर पर लपेटता है—मन के शरीर पर मानो संन्यास लिए ले रहा हो!

किंतु निराशा में भी आशा के गीत सुनाई देते है, जिनका मिठास फिर से नई शक्ति भर देती है :

गगन झर रहा है, धरा भर रही है,
पुलक पूर्णिमा ने सुखद गीत गाया!
कि घर-घर नया चाँद है मुस्कराया,
मुझे मत सुनाओ, मुझे मत बताओ!

×

नये मोड़ पर आ खड़ा आज है नर
पुरानी नयी चेतना से उलझ कर
किसे वह भुलाए, किसे वह बुलाए
किसे हेय समझे, किसे जान पाए

कहानी नयी ज़िंदगी कह रही है
पुरानी विगत स्वप्न में बह रही है।

×

मनुज से बड़ा सत्य कोई नहीं है
मनुज से बड़ा तथ्य कोई नहीं है
समुन्मत्त जीवन गरल पी रहा है
इसे मुक्ति दो, यातना से बचाओ,
कहाँ मुक्ति इसकी, मुझे यह बताओ ! !

—उदयशंकर भट्ट

चारों ओर चांदनी छिटकी हुई है। पूर्णिमा सुखद गीत गा रही है। मनुष्य भी नये मोड़ पर आ गया है और पुरानी चेतना से उसका अब संघर्ष हो रहा है। वह किसे भुला दे और किसका स्वागत करे ! क्या त्याज्य है ? क्या प्राप्य है ! नई जिंदगी बोल रही है और पुरानी जिंदगी स्वप्नवत् हो गई।

अब कवि हुंकार कर नई मान्यता को स्थापित करता है कि मनुष्य से बढ़-कर कोई सत्य नहीं है। एक दिन चंडीदास ने भी कहा था, "शाबार उपरे मानुस सत्य, ताहार उपरे नाइ।" नया कवि भी यही कहता है—मनुष्य से बढ़कर सत्य ही नहीं, कोई तथ्य भी नहीं है। है तो वैसे सृष्टि में बहुत कुछ किंतु मनुष्य तो जो कुछ जानता है वह अपनी ही बुद्धि से न ? अतः यह ज्ञान उसीकी देन है ! हमारी सीमा ही ऐसी है कि हमें अभी तक उसे ही सर्वोपरि स्वीकार करना पड़ता है। आज की विषमता ऐसी है कि जीवन को विष ही पीना पड़ रहा है। इसे किसी प्रकार बचाना होगा, इस याचना से मुक्त करना होगा।

सकल मानव के प्रति संवेदना एक पक्ष है। दूसरे पक्ष में कवि यह सुलझाने का प्रयत्न करता है कि उसका अपना जीवन इतना दुखी क्यों है ? उसे सुंदरता से प्यार है, फिर भी वह सुखी नहीं है। सच तो यह है कि वह सौंदर्य के रहस्य को नहीं समझता, और इसी कारण वह यह भी नहीं सोचता कि वह कुछ अलग है, बल्कि सबसे बंधा हुआ नहीं है :

मुझे लुभाता गीत चाँद की उजली-उजली प्रीत का
समझ न पाता भेद चाँदनी के मधुमय संगीत का,

×

सुनते हैं सागर से उठते मीठे-मीठे गान भी
क्या जाने क्या बात कि मुझको मिलते हैं तूफान ही,

×

कभी-कभी सोचा करता हूँ हो ऐसा संसार भी,
जहां किसीके लिए ज़िंदगी करना पड़े निसार भी

—शांतिस्वरूप 'कुसुम'

और उसे लगता है कि जीवन वास्तव में एक त्याग है। किंतु आज के स्वार्थ में त्याग करना जैसे भुला दिया गया है। तभी वह उस संसार की कामना करता है, जिसमें मनुष्य के जीवन में वैसी गरिमा आ जाए जो दूसरों के लिए रहने की इच्छा बन जाए। एक अन्य कवि कहता है कि वेदना ही व्यक्ति की संगिनी है, यद्यपि उसमें चंद्रमा की आलोकिनी छवि स्वयं ही आत्मसात है। कला को जीवन-डगर की चांदनी कहनेवाली अभिव्यक्ति कितनी रमणीय है :

मैं कलाधर हूँ, कला जीवन-डगर की चाँदनी है,
वेदना ही विश्व में चिरसंगिनी मेरी बनी है,
बन किसीकी स्मृति हृदय में दीप, पथ प्रज्वलित करती–
तुम निठुर उसको बुझाने के लिए बेचैन क्यों हो ?

×

सच कहो क्या रूप कवि का मीत बनकर रह सकेगा ?
विश्व के प्रति कवि-हृदय की मूक ममता सह सकेगा ?
मौन हो तुम ! है नहीं उत्तर तुम्हारे पास कोई
फिर विरह के गीत गाने के लिए बेचैन क्यों हो ?

—देवराज 'दिनेश'

विरह के व्यर्थ गीत गाने के वह पक्ष में नहीं है क्योंकि वह यह जानना चाहता है कि रूप कवि का मित्र बनकर जीवित भी रह सकेगा ? यहां वह उस स्थूल रूप की बात करता है, जो कि वासना को जगाकर अकर्मण्य बना देता है, रूप के शाश्वत रूप को वह चुनौती नही देता।

यह प्रश्न पूछता है नया कवि कि मानव-जीवन का उद्देश्य क्या है ?

चाँद अपनी चांदनी में खो गया
गीत थककर रागिनी में सो गया
आँख भर कर देख भी पाया नहीं
मैं अचानक ही किसीका हो गया
फूल होंठों पर खिले औ' झुक गए
आँख में आँसू उमड़ कर रुक गए
ज़िंदगी की बस यही शुरुआत थी
दीप जलने भी न पाए बुझ गए

गुनगुनाती भी हवा चुप हो गई
जागकर तकदीर जैसे सो गई
मुद्दतों के बाद पाया था जिसे
चीज़ आलीशान मेरी खो गई

गम की दुनिया का यही पैगाम है
हर सुबह के बाद होती शाम है
हर कदम पर मुश्किलों का सामना
जिंदगी में फिर कहाँ आराम है।

—नर्मदेश्वर उपाध्याय

अंग्रेजी की एक प्रसिद्ध कविता है जिसमें पाश्चात्य वेदना ने पुकारा था—यदि हमें (पेड़ पर चढ़ती गिलहरी इत्यादि को) खड़े होकर निहारने का समय ही नही है, तो यह चिन्ताग्रस्त जीवन है क्या ?—इसी प्रकार हिंदी का कवि भी प्रेम और सौदर्य को देखता है परंतु उसे परिवर्तन और वैषम्यों ने व्याकुल कर रखा है। उसके जीवन में कहीं भी आराम नही है। पुराना कवि कभी ऐसी परेशानी में नहीं पड़ता था। वह समाज को आदर्श देता था, या फिर वर्गो और एक प्रकार से लोक को विलास के गीत सुनाता था। 'प्रसाद' ने उर्दू के दुःखप्रतीत्य को प्रस्तुत किया था। उसीसे यह व्यक्ति-पक्ष हिंदी में उभरता चला आया। आज भी यह समस्या है कि काव्य कवि के जीवन का प्रतिबिंब है, उसके व्यक्तिगत जीवन की अनुभूतियों का अंकन है, या वह समाज के लिए एक प्रेरणा है! यह द्वन्द्व ऐसा उलझा हुआ है कि परस्पर रूप से दोनों ही पक्षों के अन्यो-न्याश्रित रहने से दोनों के बीच कहीं एक रेखा नही खीची जा सकती। यूरोप और विशेषतया अंग्रेजी काव्य में द्वितीय महायुद्धोपरांत के काव्य में व्यक्ति-पक्ष को अब प्रायः किसी पात्र की वस्तुपरक (आबजेक्टिव) दृष्टि पकड़कर उसके द्वारा आत्मपरक (सबजेक्टिव) बनाकर प्रस्तुत किया जाने लगा है। हिंदी में अभी तक यह रूप मुखर नहीं हो सका है। यहां प्रयोगवाद अभी मानसिक उलझनों में ही डूबने की चेष्टा में रत है।

'शिशिर की राका निशा' इसी उलझन का एक अच्छा-सा उदाहरण है। उसने सब कुछ देखा, सारा अतीत। और उसे लगा कि वैसे उसके लिए अब कुछ भी शेष नहीं बचा था। उससे पहले ही कवि सब कुछ लिख चुके थे :

वंचना है चांदनी सित
झूठ वह आकाश का निरवधि गहन विस्तार
शिशिर की राका निशा की शांति है निस्सार!
दूर वह सब शांति, वह सित भव्यता, वह शून्य के अवलेप का प्रस्तार
इधर केवल झिलमिलाते चेतहर, दुर्धर कुहासे की हलाहल-स्निग्ध मुट्ठी में

सिहरते-से, पंगु, टुंडे, नग्न, बुच्चे, दईमारे पेड़ !
पास फिर, दो भग्न गुम्बद—निविड़ता को भेदती चीत्कार-सी मीनार—
बाँस की टूटी हुई टट्टी, लटकती
एक खम्भे से फटी-सी ओढ़नी की चिन्दियाँ दो-चार !
निकटतर—धँसती हुई छत, आड में निर्वेद
मूत्र सिञ्चित मृत्तिका के वृत्त में तीन टाँगों पर खड़ा, नतग्रीव
धैर्य-धन गदहा।
निकटतम रीढ़ बंकिम किए निश्चल किंतु लोलुप खड़ा, वन्य बिलार—
पीछे, गोयठों के गंधमय अम्बार !
गा गया सब राजकवि, फिर राजपथ पर खो गया
गा गया चारण, शरण फिर शूर की आकर, निरापद सो गया।
गा गया फिर भक्त ढुलमुल चाटुता से वासना को झलमलाकर
गा गया अंतिम प्रहर में वेदना-प्रिय, अलस तन्द्रिल कल्पना का लाडला
कवि निपट भावावेश से निर्वेद !
किंतु अब—निस्तब्ध—संस्कृत
लोचनों का भाव संकुल, व्यञ्जना का भीरु
फटा-सा, अश्लील-सा विस्फार—

—अज्ञेय

वीरगाथाएं, भक्तिगीत, रीतिकाव्य, छायावादी काव्य सबके लिखनेवाले चले गए। अब ! संस्कृत लोचनों के लिए कुछ नहीं रहा। संस्कृत लोचन तनिक सीमित दृष्टि का अवश्य रहा कि और आगे नहीं देख पाता। अब उसे मूत्र-सिञ्चित मृत्तिका के वृत्त में तीन टांगों पर खड़ा नतग्रीव धैर्यधन गदहा दीख रहा है, क्योंकि दर्शन को वह और कहे भी क्या। जो उसकी अतृप्ति को मिटा नहीं पाता।

लेकिन जिसने वासना की लाश पर कफन ओढ़ा दिया है, उसे जीवन हिना की तरह हंसता हुआ दिखाई दे रहा है :

वह ज्योत्स्ना
कितनी मधुर, उन्नतमना
उज्ज्वल नवल, कोमल धवल
ज्यों क्षीरसागर रे, सबल
धोता चला जाता जगत् से दैन्य दुखमय वासना !
चिर गलित उर
सरिता गगन मन-मुख-मुकुर

शुचि शुभ्रवसना स्वर्ग की उतरी परी, नीरव नूपुर
यौवन मधुर, कर्षण प्रचुर
सहसा उठा बज विश्व-वीणा में अनोखा कौन सुर
नीलाभ नभ हरिताभ भू किस मदिर मधु में है सना !

×

यह वासना की लाश पर सहसा रखा किसने कफन
हँसता कभी जीवन हमारा, आज ज्यों हँसती हिना !

—हंसकुमार तिवारी

ओह ! कैसा उल्लास है। अब क्षीरसागर उमड़ता चला आ रहा है, यह क्या चांदनी-भर है ? स्वर्ग से परी उतर रही है। इसीको आनद की तृप्ति कहते हैं। विश्व-वीणा में जिसने कान लगाकर मधुर स्वर सुन लिए, वह तो आकाश और पृथ्वी को मदिर मधु में सना हुआ देख रहा है। यह लो ! अब शरद ऋतु आ गई। वह तो आंगन है चांदनी का।

आई आई शरद ऋतु आई।
धरती पग मन्द मधुर, लखती जल विमल मुकुर,
तिरती तालों में नव परछाई।
खोले हैं नयन कमल, डोले हैं अंग चपल,
बाँटे पूनम को बदन लुनाई।
सोलह सिंगार किए, अमृत रसधार लिए,
फूल शेफाली में मुस्काई।

—सुमित्रा कुमारी सिन्हा

पूनम को सुंदरता मिली है, शरद के मुख के लावण्य से। 'लोना लोना मुख' है।

धरती का प्यार उस समय जगता है, जब व्यक्ति अपने को संकुचित सीमा से बाहर निकाल लाता है। शेफाली में जब शरद अमृत रसधार लिए मिल जाता है, तब कवि-हृदय एक आस्था मे विश्वास रखता है, उसकी वासना अंधकार में अपने-आप को समर्पित नहीं करती।

सराबोर मस्ती से कवि गाता है कि स्वर्ग की संपूर्ण सुषमा ही यह चांदनी है। चांद ऐसा कमल-सा खिला है—और भी सौ दलों वाला—जैसे दूध के समुद्र में उग आया हो। आज आकाश और पृथ्वी अपने हो गए है :

नयन मन उन्मादिनी
आज निकली चाँदनी !
आज केवल शूल ऊपर, शून्य ऊपर
स्वर्ग की सम्पूर्ण सुषमा आज भू पर !

सब कहाँ, हैं आज जो दो-चार तारे
हेर वसुधा के हृदय का हार, हारे !
उमड़ता ज्यों क्षीरसागर फेन-निर्मल
चाँद उसमें है खिला ज्यों शुभ्र शतदल !
छा रहा दृग में नशीला एक सपना
आज जिससे अवनि अपनी, गगन अपना !
तनिक बेसुधपन, नशा न, सुरूर केवल
आसमाँ बरसा रहा ज्यों नूर केवल !

×

ज्योति का प्लावन, प्रकाश, प्रकाश केवल
आज चिन्ताएँ नहीं उल्लास केवल !
स्थित न कोई, नृत्य केवल, लास केवल
तृप्ति होती ही नहीं, है प्यास केवल !

×

किस तरह इससे भला मुँह मोड़ जाऊँ
अब कहाँ ऐसी धरणि को छोड़ जाऊँ ?

×

अखिल उर आह्लादिनी
हँस रही ज्यों चाँदनी !

—जानकीवल्लभ शास्त्री

कितना अपनापन है ! आसमान से नूर बरस रहा है। आज चिंताएं मिट गई हैं, केवल हर्ष उमड़ रहा है। क्योंकि आज रात केवल प्रकाश ही प्रकाश छा रहा है। आज सब नृत्य में मग्न हैं, क्योंकि आनन्दविभोर हैं। तृप्ति नहीं होती, केवल प्यास जाग रही है, क्योंकि यहां तृप्ति का अर्थ है सौंदर्य के अगाध निर्झर से मुह मोड़ लेना। और कवि को यह स्वीकार नहीं है। वह भला ऐसी धरती को कही छोड़ सकता है ! सबका हृदय आह्लाद से भरनेवाली यह चांदनी अब हंस रही है।

धरती अब छोड़ी नहीं जा सकती। क्षण-भर पहले जो गीतहीनता थी, वह ऐसी मस्ती में बदल गई कि उस आनंद को समेटने के लिए गीत ही छोटा पड़ गया। जब गीत में थिरकन आ जाए तो समझना चाहिए कि कवि अपना आवेश समेटे नहीं समेट पा रहा है। आनंद से कल्पना जागती है :

देखो पूनो का चाँद नवल,
कितना शीतल, कितना उज्ज्वल !

नीलम के आंगन में शोभित
जैसे चांदी का थाल धवल !
पीपल-तरुओं से निकल रहा
यह चांद मधुर ऐसा लगता
शिशु, मां के कंधे पीछे से,
प्रकटा हो ज्यों करता 'त्या-त्या' !
यह धुनी रुई-सा स्वच्छ विमल
यह दुग्ध धवल, हिम-सा शीतल,
चांदी का चमकीला उज्ज्वल
किरणों का स्पर्श सुखद लगता,
जैसे शिरीष के कुसुमों के
सुरभित पराग के तंतु मृदुल,
या शिशु के गभुआरे कुन्तल !
यह गोल-गोल, गोरा, झलमल,
ज्यों मधुवन में तमाल-तरु-तल
श्रीकृष्ण अंक से सटी खड़ी
राधा का सस्मित मुखमण्डल।

—रामेश्वरलाल खण्डेलवाल 'तरुण'

कालिदास में जैसा रगों का वैभव है, वैसा ही यहां भी है। उसने कहा है—ऐ मेघ ! वहां नीलम की चोटी का क्रीडाशैल है, बगल मे मरकत-सा कदली-कुंज है, सोपान है मरकत-शिलाओं के, नीलम जल में हरितमृणाल-कमल है—हेमवर्णी ! यहां नीलम के आंगन में चांदी का चमकता धवल चंद्रमा है, पीपल के पेड़ों के पीछे से ऐसा निकल रहा है जैसे मां के कंधे के पीछे से तुतलाता बच्चा बोल रहा हो ! गभुआरे कुन्तल कितनी मीठी अभिव्यक्ति है ! ऐसा है यह जैसे मधुवन मे राधा का, तमाल के नीचे खड़े कृष्ण के पास, मुस्कराता हुआ मुखड़ा। केवल सुषमा ही यहां चित्रित है।

इस मस्ती में बहुत-से व्याकुल हृदयवाले अपने सपने डुबोते हैं, और खो देते हैं। अतीत की भारिल व्यथाएं एक सांत्वना-सी पा जाती है :

रात चांदनी मस्त हवा है, नींद भरी-सी है मरमर !
स्वप्नलोक के गीत सुनाता चांदी-सा झरना झरझर !
मस्त बदलियां जैसे नभ के हों सुन्दर सपने सुकुमार
चले जा रहे निर्मित करने सुख का एक नया संसार !

घने - घने पेड़ों के नीचे लम्बे-लम्बे साये हैं
किरणों ने पत्तों से छनछन जिनपर जाल बिछाए हैं !
तुहिन-कणों से लदे हुए हैं दूर्वा के मृदु के बल-बल
नन्हे-नन्हे चाँद हज़ारों, करते हैं झलमलझलमल !
हारे - थके किसी जीवन में जैसे सपने आते हैं
इसी तरह छाया में जुगनू चमक-चमक छिप जाते हैं
भीनी-भीनी सौरभ से है भारी - भारी मस्त हवा
दिन-भर के झुलसे दिल की है ठण्डी-ठण्डी यही दवा
घायल दिल पर शीतल कोयल फाहे रख-रख देती है
पीड़ा युगों-युगों की क्षण में दयावान हर लेती है

×

कोमल किसलय-दल पर जाकर मद के डाकू सोए हैं
किसे ख़बर मैंने इन रातों कितने सपने खोए हैं।

—उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

यह बदलियां आकाश के सपनों जैसी हैं। यह सुख का नया संसार रचने जा रहे हैं। अपने संसार में ऐसा नहीं हो पाता। यही एक दर्द है। प्रकृति के वरदान ने कितनी सहृदयता को जन्म दिया है। पेड़ों के लंबे सायों पर किरनों का पत्तों से छन-छनकर जाल बुनना हवा के झीने झोंकों को अपने आप व्यक्त करता है, क्योंकि बुनने में हिलने की क्रिया अपने आप आ जाती है। पृथ्वी पर ओस घास पर गिरी है और उनमें किरनें गिरती हैं तो हज़ारों नन्हे-नन्हे चांद दिखाई देते हैं। यह गहरी दृष्टि का परिणाम है जिसने इसे परखा है। युगों की पीड़ा इस क्षण दूर होती चली जा रही है। 'मद के डाकू' एक अच्छी अभिव्यक्ति है, वे जो छीन लेते हैं सौंदर्य और गुमान भरे रहते हैं, अपनी मधुरता पर।

कल्पना जब कोमल होती है तब वह किसी लाजवन्ती से कम नहीं होती। मध्यकालीन काव्य में यह चांदनी की प्रसुप्त मर्मर हमें कहां मिलती है !

और कवि को चांदनी एक फैली हुई चादर-सी लगती है, एक पारदर्शी सौंदर्य के रूप में वह उसका अनुभव करता है। शरद की पूनो का अमरत्व, एक नहीं, अनेक कवियों ने अंकन करने की चेष्टा की है :

आज शारदी पूनो—
बाहर फैली है चाँदी की विस्तृत, झीनी चादर
जिसके आरपार दिखते हैं—
बैजन्ती, दाऊदी, गेंदा औ' इमली के पेड़ तनावर !

लगता है ज्यों तरल रजत का लेकर लावा
फूट पड़ा है नभ का भूधर !
नहलाता या रजत हँसी से धरती के कण-कण को जैसे
शशि-मुख अपना खोल, ठहाका मार, हंस उठा हर्षित अम्बर !

—उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

यद्यपि लावा गर्म होता है और तरलरजत भी गर्म होता है, किंतु कवि ने उसे चाँदनी के समान बताया है। यदि इसे सहज रूप से देखा जाए तो इसमे रसाभास हो जाता है। किंतु व्यंजना में ऐसा नहीं होता क्योंकि यहां हम उस सबके गुण पर नही जाते, केवल रंगमात्र देखते हैं, और यही कवि के मन में भी है कि वह केवल वर्णो की जगमगाहट का चित्र हमारे सामने खड़ा कर दे :

आस्मान का गात बँधा है तारों की जंजीर में
खेल रही है खेल चाँदनी फागुन की जागीर में
बिना नाल के फूल थिरकते हैं यमुना की धार में
जैसे उड़-उड़ सपने चलते पहले-पहले प्यार में
धीरे-धीरे पाँव बढ़ाती एक मोरनी डाल में
नीर छलकने को ज्यों डरती नव पनहारिन चाल में
मन की बात कोकिला कहती डूब प्यार के नीर में
दुखी-सुखी दोनों को प्यारे रँगना नये अबीर में

—शिवबहादुर सिह

फागुन की जागीर में चांदनी का खेल केवल कितना प्यारा है, जैसे हम अमूर्त का पूर्ण मूर्तीकरण ग्रहण कर लेते हैं।

पतझर के कानों में भँवरे स्वर हैं ऐसे डालते
मानो किसी पुराने कवि को गीत नये ललकारते

—शिवबहादुर सिंह

यही तो सत्य है कि आज के कवि के गीत वास्तव में पुराने कवि को ललकार रहे हैं। तारे बिना नाल के फूल हैं, और आकाश क्यों नीला है, वह यमुना की धार-सा लगता है। यमुना है तभी तो पनहारिन भी आती है, क्योंकि यह तो ब्रज के माधुर्य की परंपरा है।

सुखी-दुखी दोनों को ही कवि प्यार से रंग देना चाहता है।

और रूप और यौवन की विवशता इस चाँदनी में कितनी मुखर हो उठती है, जब कवि समझ ही नहीं पाता कि वह प्यार से चाँदनी को अकस्मात् ही एक कर जाता है :

खिल गई चाँदनी हो गई रात है।
मुझसे कह दो जरा कौन-सी बात है॥

कविता ऐसे चलती है जैसे बातचीत हो रही है :

तारे लुक-छिप के देखो हँसी कर रहे,
मेरी रग-रग में आकर खुशी भर रहे।
राज़ आता समझ में नहीं पर मुझे,
ऐसा होता है क्यों ? कुछ अजब बात है।
खिल गई चाँदनी हो गई रात है॥

अज्ञात आनंद स्वयं में ही कौतूहल का सृजन कर रहा है :

मैं न जानूँ जवानी है क्या - जोश है ?
इसमें है होश क्या और बेहोश है ?
गुदगुदी दिल में मचली मगर बारहा,
दिल की फ़ितरत अजब है अजब ज़ात है।
खिल गई चाँदनी हो गई रात है॥

हृदय की प्रकृति सहज नही समझी जा सकती :

लाख रोका मगर आँख लड़ ही गई,
लाख टोका मगर याद गड़ ही गई,
देख दिल की य' हरकत है हैरत हुई,
मचला करता है हरदम ये बदज़ात है।
खिल गई चांदनी हो गई रात है॥

—सत्यव्रत मिश्र

अंत में एक उलाहना है, अपने-आप को ही एक प्यार-भरी गाली दी गई है, जो कि ऐसी पराजय को व्यक्त करनेवाला भाव है, जिसमें पराजय भी बड़ी मीठी लगती है।

कुछ चित्र ऐसे भी हैं, जिसमें व्यक्ति का द्वन्द्व सामाजिक चिंतन को अपने साथ-साथ लेकर चलता है। यह कवि देहलीज़ के कवि कहला सकते हैं। कभी इधर देखते हैं बौद्धिक पक्ष के कारण, कभी उधर देखते हैं अपनी वर्गीय परंपरा की कसक से भरे हुए :

चाँदनी रात है—
किसी अबोध कुमारी के सरल नैनों-सी अथाह भद-भरी गोली···
अलस वसन्त की अनुराग-भरी गोद खुली फैली है,
मौज सुधियों के राजहंस दूर-दूर उड़े जाते हैं···
चाँदनी रात का सुनसान है फीका फीका,
गंध के भार से संत्रस्त-सी वातास है उन्मत्त काटती चक्कर

रुद्ध, पथभ्रष्ट औ' विक्षिप्त वासना-सी अतृप्त···
कहीं पै दूर कभी रुक-रुककर किसीके प्यार-भरे गीत के
टूटे-से स्वर भूल से जागकर मानो तभी सो जाते हैं।
चाँदनी रात है चुपचाप समर्पित मोहित अचल दिगंत के
आश्लेष में सोयी, खोयी, अबूझ स्वप्न में,
जैसे तुम हो, कभी चुपचाप अनायास मेरी गोद में
सो जाती हो·····
चाँदनी रात ओ !

—नेमिचंद जैन

चित्र अवश्य खड़े होते हैं, परंतु अंततोगत्वा वातावरण ही सामने आता है, क्योंकि एक के बाद एक छवि जल्दी-जल्दी आती है जैसे कवि सबका अंकन कर देना चाहता है। जिन कविताओं मे चित्र की एकात्मकता होती है उनका प्रभाव अधिक अच्छा पड़ता है, यद्यपि बात उनमें भी प्रेम की ही होती है। और छद की गीतात्मकता के कारण खटर-खटर उनमें नहीं होती :

ले किरण की सहज बल्लियाँ व्योम में
चाँद खेता रहा चाँदनी की तरी
और भुज - पाश मे तरुवरों को कसे
भूमि पर गीत गाती रहीं वल्लरी—
भ्रू तुम्हारी उठीं, इंद्रधनु खिंच गया
भर गई सब दिशाएँ मदिर हास से
प्राण मेरे रहें शून्य कैसे भला
जब कि मुस्का रहे हैं तुम्हारे नयन

—राजेश दीक्षित

चाँद एक खिवैया बन गया है और किरनों की बल्लियों से चाँदनी की नाव को खे रहा है। बहुत सुंदर कल्पना है। फिर चाँदनी में विलासपक्ष जाग उठता है और कवि को तृप्ति की प्राप्ति होती है। ऐसा संतोष इतने मुखर रूप में कम मिलता है, क्योंकि प्रायः कवि दर्द की आहें तो लेते हैं, पर यह साफ-साफ नहीं कहते कि उन्हें किसी स्त्री से प्यार है। कम देने में एक स्वस्थता रहती है और स्पष्ट ही यह 'रानी' वाला गीत नहीं है। ऐसे गीत जो स्नेह की तृप्ति देते है, उनकी तुलना में वे गीत रखे जा सकते हैं जिनमें घरेलू जीवन की छाया मिलती है :

रैन हुई उजियारी !
चाउर चौक पुराए मैने

चंदा जोत उजारी।
घर-आँगन पै चढ़ी जुन्हाई
बन - जंगल में छाई
दूर देश की भाईं देखूं
चढ़ के महल अटारी
चंदा ऊगा रहे रातभर
दूर-दूर तक उजियाला कर
परदेसी जो लौटें उनको
राह लगे ना भारी।

—गिरिजाकुमार माथुर

'चाउर चौक पुराए' कहकर कवि ने एक गृहिणी का रूप ही अपनी आँख में लिया है। और परदेसी को राह भारी न लगे इसलिए चंदा उगा रहे—यह कल्पना यद्यपि संस्कृत साहित्य में काफी आई है, फिर भी एक कोमलता का सृजन करती है। लोकगीत का प्रभाव भी लाने की चेष्टा की गई है। पुरुष का अहं इतना विस्तृत नहीं हो पाता, जैसे नारी का :

धुले आकाश में यह चाँदनी छाई,
किसी को स्वप्न में जैसे हँसी आई।
वहाँ आकाश धरती मिल रहे हैं सहँस
यहाँ मैं और मेरी मौन परछाईं !
सकुच झीनी किरण के रेशमी पट में,
किसीकी याद आई आज शरमाई !
स्वयं से दूर कितना हो गया था मैं,
पिलाया चाँदनी ने तो सुधा सागर,
न मेरी ही अमिट यह प्यास बुझ पाई।

—शम्भूनाथ सिंह

स्वयं से कवि अपने को दूर अनुभव करता है, क्योंकि वह प्रकृति से दूर हो गया था। यहाँ पुरानी स्मृतियाँ चाँदनी के माध्यम से जागती हैं अतः चाँदनी का शास्त्रीय पक्ष आता है। चाँदनी और प्यास का इतना अटूट संबंध-सा मिलता है कि वह प्रायः ही मिल जाता है, जैसे प्यास न लगे तो शायद चाँदनी का भी असर कम हो जाए। किंतु यौवन स्वयं ही एक प्यास है :

दिल के तारों पर गाया मैंने तो सारी रात।
मुझे देखकर चंदा भी मुस्काया सारी रात।

मुग्ध चाँदनी सौरभ-भरी जवानी में माती थी।
चुपके-चुपके अपना कोई प्यार लिये आती थी।
नयनों ही नयनों में कैसी हुई अनोखी बात!
अनायास ही थिरकन करता रहा किसी का गात!
तारों की स्वप्निल छाया में यह दुनिया सोती थी
किंतु किसीकी पायल फिर भी रुनुक-झुनुक होती थी
मेरे गीतों पर कोई शर्माया सारी रात।

—कुलदीप

तारों की स्वप्निल छाया में दुनिया सो गई, और किसीकी रुनुक-झुनुक पायल बजती रही। और सारी रात उन्हें देख-देखकर चंदा मुस्कराता रहा। युवक जब कोई काम करते हैं तो समझते हैं कि उनसे पहले किसीने ऐसा काम किया ही नहीं। जवानी है ही ऐसी, कि उसे हर पुराना भी नया ही लगता है। विचारा चाँद और करता भी क्या! दिल के तारों पर सारी रात जाने कितने लोगों को वह गाते पहले भी सुन चुका है। इधर कोई गीतों पर शर्माता रहा, उधर चाँद मुस्कराता रहा। यद्यपि कविता में माधुर्य है किंतु कवि का ध्यान इस बात पर नहीं गया कि क्या ध्वनित हो रहा है। क्या गीत इसी लायक थे कि उनपर किसीको शर्म आती और कोई दूर होने के कारण चुपचाप मुस्कराता रहता! आत्मस्वीकृति की कैसी अनोखी बात है! लेकिन यौवन में मनुष्य यह कहाँ सोचता है कि उसमें कितना ऐसा है जिसपर लोग मुस्करा सकते हैं। इस दृष्टि से यह कविता हास्य भी जगाती है, किंतु जो युवक होगा और समान भोगी होगा, वह तो बड़ी लंबी आहे भरेगा! किंतु जब व्यक्ति और आगे बढ़ता है तब उसमें घुटन पैदा होती है और ऐसी घुटन जोकि उसे भीतर ही भीतर खाने लगती है। ऐसा ही चित्र अंचल ने दिया है:

डूबती, पिछले पहर की
चाँदनी-सी अनमनी हूं
आज मेरे प्राण पर कैसी थकन अविराम घिरती
किस शिखर से आज तन-मन पर तृषा की धार गिरती
दूर बजती रागिनी-सी मैं उजड़ती लीन होती
किस विफल कैवल्य में डूबी, सिहरती सुधि पिरोती
साथ मेरे डूबते मेरे कलंकी चाँद-तारे
जो बने थे मार्ग-दर्शक इस असंगति के किनारे

खा रही जो आज अपने
को वही हीरक कनी हूँ

—अंचल

रजनी के पिछले पहरों का चित्र 'प्रसाद' ने भी दिया है। संस्कृत के शब्दों में एक ही के पर्याय होने पर भी अर्थ अलग-अलग होते हैं। रजनी चाँदनी और तारोंवाली रात है, जैसे विभावरी, जगमगाती हुई है। निशा में निस्तब्धता है, और रात्रि में एक सूनापन। अंचल ने पिछले पहर की अनमनी चाँदनी का उल्लेख किया है। कितना गहरा प्रभाव है इस 'अनमनी' शब्द में! चाँदनी जब ढलने को आती है तब उसका पूरा चित्र इस एक शब्द में मिलता है। प्रकाश देनेवाला चंद्रमा पुण्यकाम था। किंतु जब उसकी डूबने की बेला आ गई तब उसका कलंक ही तो सामने रह गया। मानो कलंक भी काला था। और अब छा जानेवाला अंधकार भी काला ही तो होगा! अंचल में हृदय पर लीक खींच जानेवाली क्षमता है।

कसक और तृप्ति का द्वन्द्व भी यह चाँदनी लेकर आई है। एक ओर अनाविल सौंदर्य है, दूसरी ओर मन की बात न मिल पाने का अभाव है। पहले चाँद ने चाँदनी को खेया था अब हमारी चाँदनी चंदा को खे रही है :

यह सुरीली चाँदनी तो छेड़ती है
आज मन के तार।
ताल-सा फैला हुआ है व्योम
रुपहरी छोटी तरी यह सोम
यह रसीली चाँदनी तो खे रही है
नाव को मँझधार।
बह रहा दक्षिण पवन अति मंद
गूँजते मधुमास के हैं छन्द
मुस्कराती चाँदनी यह जा रही है
बादलों के पार !
यह सुधा-मधु-सिक्त आधी रात,
प्राण बोलो आज मन की बात
यह भरी-सी चाँदनी भी कर रही है
प्रेम का व्यवहार !

—आरसीप्रसाद सिंह

इन गीतों में प्रायः मन की भावना और अवस्था एक-सी रहने के कारण कभी-कभी साम्य-सा भी दिखाई देता है। यह तो मानवहृदय की विशेषता है, जो बताती है

कि मूलतः मनुष्य एक है और उसपर एक-सा ही प्रकृति का भी प्रभाव पड़ता है। अतः इसे पुनरावृत्ति नहीं कहना चाहिए, क्योंकि सदैव एकता नही रहती, व्यक्ति का अपनापन भी बोलता है—"कोटि-कोटि दीपों की हल्की विभा पसारे यह छोटे-छोटे तारे मेरी पूजा के अधिकारी हैं, सिर्फ बाती की भांति ये तारे स्नेह से जल रहे हैं। निस्संग निःस्व जलनेवालों की ऐसी निराली रीति है कि जितना ही अंधकार बढ़ता है, उतनी ही इनकी उजियाली बढ़ती है। ओ चाँद ! जब तुम नहीं होते तब रातें काली होती है। जब अंधेरे के गुहागर्भ मे सब अगजग खो जाते है तब तारों की झांकी एक अटल आश्वासन-सा देती है। धरती ! तुम दुखी न हो। देखो अब भी प्रकाश बाकी है। हे चाँद ! तुम बहुत बड़े हो, तुमपर सारा भूमण्डल मुग्ध है, किंतु मेरे दृग को तो कोई नन्हा-सा तारा चाहिए।"

(केसरी)

यह छोटे-से तारे की चाहना-मात्र नहीं है। इसमें पददलित के लिए संवेदना है। कवि वैभव से पराजित नहीं होना चाहता। वह तो जीवन-संग्राम में संघर्ष करनेवाले सैनिकों को चाहता है, जो घने अंधकार में भी अपनी लघुता के बावजूद राह दिखाते चलते है और जल्दी से अपनी महिमा दिखाकर लुप्त नहीं हो जाते। मन की साध अब भी नेकी और बदी की खोज में है :

याद उभरी आ रही है
चांद के मिस बादलों की ओट से प्रिय याद उभरी आ रही है।
प्रात की आशा - तरी भी डूबती है रात की गहरी नदी में
किन्तु मन की साध अब भी ढूँढ़ती है प्रीति ही नेकी-बदी में
मैं रहा चुनता सदा कंकड़ जगत में मोतियों के हार कहकर
बादलों की भाँति सरगम स्वर सुनाये हैं हृदय में आग भरकर
थाम लो आँचल उठाकर आँख की बरसात छितरी जा रही है।
साँस का यौवन बिखरकर दिन-ब-दिन अब शृंखला-सा टूटता है
आँख का अनुराग रोता, सेज का सौभाग्य ज्यों-ज्यों रूठता है
क्यों तुम्हारी रूप-किरणें नित्य मेरी आँख का जल पी रही है
साँवरे-गोरे-सुनहरे गीत, पावस का शरद मुँह सी रही है
दूब की टहनी न छूना, ओस की सौगात बिखरी जा रही है।

—शिवबहादुर सिंह

कवि में मार्मिक संवेदना है। वह दूब तक की टहनी को छूने से टोकता है, क्योंकि ओस की सौगात बिखर जाएगी। व्यक्तिपक्ष में तो यह कविता सबल है ही, इसमें बड़ा ही विस्फुरण भी है। एक-एक पंक्ति में जीवन का दर्शन निखरा पड़ता है। मोतियों के हार कहकर जगत में कंकड़ चुनते रहना सारे दार्शनिकों के अहं को काट देता है जैसे

उमरखय्याम ने कहा था कि हर बार उसी द्वार से बाहर आ गया जिससे मैंने प्रवेश किया था।

और जब व्यक्ति उजाले की प्यास से भर जाता है तब वह पास की भोर की प्रतीक्षा करने लगता है :

नैश कुंतल-सी घिरी मेरी उदासी
सामने का नीड़ है ख़ामोश बिल्कुल
लौटकर आया नहीं अब तक प्रवासी !

×

नींद का पंथी सितारों की डगर से
आ रुका मेरी पलक की छाँह पाकर
छोड़कर केवल तुम्हारी याद, रानी,
ले गया मेरे मधुर सपने चुराकर !

×

वह उनींदा चाँद ढलता जा रहा है
सिन्धु-से गंभीर नीलाकाश में, री !
जाग मेरी प्रेरणाओं की प्रभाती,
बाँध लूं तुमको स्वरों के पाश में, री !
व्योम की पलकें झुकीं, लौ काँपती है,
दीप अंतिम बार ले लूँ प्यार तेरा !
तुम सिमट जाओ भुजाओं में प्रवासिनि,
झुरमुटों के पार्श्व में हँसता सबेरा !
भोगता निशि भर रहा जो चुम्बनों में
चाँद मेरा कौन-सी मधु-प्यास खोजे !

—घनश्याम अस्थाना

रात की उदासी छा रही है। जिसकी आशा थी, वह नहीं हुआ। जहाँ तृप्ति की संभावना थी, वह विफल चली गई। नींद आई और केवल याद रह गई, बाकी के सपने भी चले गए। अब क्या हो ! कवि अपनी प्रेरणा को जागरित करता है और चाहता है कि अब वही उसके जीवन का संबल बन सके। वह चाँद को छोड़कर उस दीप का अंतिम बार प्यार लेना चाहता है, जिसने उसका साथ उन दिनों भी दिया है, जब चाँद नहीं था। उस दीप को उसने स्नेह से बाला था और माटी के कवि को इसीलिए उस माटी के दीप से प्रीत है, जो टूटने को सदा तैयार रहता है, किन्तु फिर भी कितना सहारा देता है ! झुरमुटों के पार्श्व में सबेरा हँस रहा है, इसलिए कवि आवाहन देता है कि आओ यादों

में ही मत सीमित रहो, जीवन का आनंद भी लो। पर वह यह भी जानता है कि वासना से तृष्णा का अंत नहीं होता। सारी रात चुम्बनों से भीगा चाँद सबेरे भी मधु की प्यास ही खोजता रह गया। कवि नहीं समझ पाता कि अब क्या बाकी रह गया, क्योंकि वह तो तृप्त हो चुका है! पर वह समझता है जो अभी प्यासा ही है :

ढलता नीरव चाँद गगन में
आधी रात गई, आधी रात रही!
साँझ सो गई दीप जलाकर जागी नहीं प्रभाती
जल-जल आधी रही गगन पर तारों की हर बाती
अभी जगत के बेसुध नयनों में है स्वप्न अधूरा
मूक सँदेसों में प्रिय तुम तक
आधी बात गई, आधी बात रही!

×

निशि के सपनों में अम्बर पर चली चाँद की डोली
पर उस पथ तक पहुँच न पाई किसी प्रात की रोली
गीतों के सब दूत लजीले तुम तक पहुँच न पाते,
दूर पिया के देश हृदय की
कुछ सौगात गई, कुछ सौगात रही!

—जगतप्रकाश चतुर्वेदी

चाँद की डोली जा रही है। वहां तक कोई प्रभात भी अपनी लालिमा को नहीं पहुंचा पाता। क्यों? पहुचाएगा कैसे? प्रभात को सपना कहां मिलता है जिसके अंबर तक वह चढ़ सके! गीतों के दूत तो लजा जाते हैं, पहुंच ही नहीं पाते! चंदा वास्तव में यहाँ पुरुष के रूप में नहीं, स्त्री के रूप में है। एक ओर पिया का देश है, दूसरी ओर डोली। डोली स्त्री के साथ ही प्रयुक्त होता है। अतः यह विरोध अखर सकता है।

और यहां चांद और तारों के संघर्ष का एक चित्र है :

"चंद्रमा की राह पर निर्मम काँच के टुकड़े कौन बिछाता है? कौन-सा नाटककार छिपकर रात-दिन के काले-सफेद पर्दे गिराता है। गगन में सुख-दुःख खोजते आज भी सूरज कहाँ से आ रहे है? सारे सितारे रात की अर्थी उठाये लिये जा रहे हैं। किंतु फिर से अरुण उषा जैसी क्षितिज की रूह बिखरी आ रही है।" (शिवबहादुर सिंह)

चांदनी दर्शन का आधार बन गई है। कौन करता है यह सब? किसके कारण यह सब होता है? समस्त सृष्टि में क्या सुख और दुःख व्याप्त है? सितारे रात की अर्थी उठाए ले जा रहे हैं। मानो रात मर गई है क्योंकि वह अंधकार का रूप है। ज्योति के प्रतीक हैं सितारे। अतः वे जीवन के प्रतीक हैं। वे उठाकर इस शव को किनारे लगा देंगे,

तब अरुणिमा आएगी और चारों ओर नया संदेश फैला देगी।

ग्राम-चित्रों में दार्शनिकता का स्थान सहज सुंदरता लेती है।

'कतकी पूनो' में कवि, लोरी के मधुर छंद 'हाथी-घोड़ा-पालकी' को लेकर बड़े आनंद से गाता है, जैसे वह सबको बरबस रिझाए दे रहा हो :

छिटक रही है चाँदनी
मदमाती, उन्मादिनी
कलगी-मौर सजाव ले
कास हुए हैं बावले
पकी ज्वार से निकल शशों की
जोड़ी गई फलाँगती
सन्नाटे में बाँक नदी की
जगी चमक कर झाँकती !
कुहरा झीना और महीन
झर-झर पड़े अकासनीम
उजली लालिम मालती
गन्ध के डोरे डालती
मन में दुबका है हुलास ज्यों
परछाईं हो चोर की
तेरी बाट अगोरते ये
आँखें हुईं चकोर की

—अज्ञेय

ज्वार के फैले खेतों से खरगोश की जोड़ी का भागना और चंदा के उजियारेपन में सफ़ेद-सफ़ेद का दिखना, दूना सौदर्य भर देता है। इस कविता में एक और गुण है—फिसलन। 'कास हुए है बावले' में सारा जोर अंत में 'बाऽऽवले' के रूप में सुनाई देता है और सचमुच लगता है कि वे विभोर हो गए हैं। चोर की परछाई की तरह हुलास का मन में दुबकना भी बहुत अच्छी अभिव्यञ्जना है।

अज्ञेय में ऐसे चित्र बहुत कम हैं, क्योंकि वह कवि नहीं है, मूलतः निबंधलेखक है इसलिए उसे सृजनात्मक कला में बहुत ही अधिक परिश्रम करना पड़ता है, और इसीलिए उसका कला-पक्ष पर बहुत जोर भी है।

प्रगतिशील कवियों की एकरसता के कारण साधारण पाठकों ने अज्ञेय को उसके अलगपन के कारण महत्त्व दिया और फिर वे सब जोकि एक नया रास्ता चाहते थे, प्रयोग-वादी कहलाना चाहते थे, उस ओर ही अपने को गिनाने लगे। प्रायः इन कवियों के पास

विषयवस्तु नहीं है। सजाव-सँवार से इनकी प्रतिभा में सर्जन भी कम ही है, परन्तु फिर भी कुछ रचनाएं इनसे अच्छी भी निकल गई हैं, जिनमें वस्तु भी है। प्रयत्न करते रहने से आ ही जाती है। ऊपर की एक कविता इसीका आकर्षक उदाहरण है। प्रायः अज्ञेय की कविता उसके उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' के ढंग की ही होती है, आत्मपरक ही, क्योंकि लोकपरक दृष्टि सहज होती है जो उत्स की तरह फूटती है, जबकि आत्मपरक में बहुत चेष्टा करके लिखा जाता है और शब्दों के चमत्कार को अधिक प्रश्रय दिया जाता है। टी० एस० इलियट का प्रश्रय लेनेवाले ये लोग इलियट से कोई समानता नहीं रखते, क्योंकि उसमें जो 'कैथोलिक मानववाद' है वह इन लोगों में केवल 'व्यक्ति वैचित्र्यवाद' मात्र है। परन्तु उपर्युक्त कविता इसके अंतर्गत नहीं आती। चाँदनी की शुभ्रता जैसी यहां है, वैसी ही एक और स्थल पर हमें मिलती है पर दूसरे ही ढंग से :

शशि-शरद - शुभ्र ये शरद - अभ्र !
हिमधवल कपोतों-से मंजुल, अति मृदुल तूल के फाहों-से
या नभ-उर रह-रह मँडराते वर्षा की शेष मधुर सुधि से;
उजले - उजले बिखरे - निखरे
शशि-शरद-शुभ्र ये शरद-अभ्र !
मस्तिष्क हृदय पर छा जाए वह प्रखर प्रखरता कब इनमें ?
नयनों में सहज समा जाए वह सहज सुघरता बस इनमें,
सुधि से उभरे, निज सुधि बिसरे
शशि-शरद - शुभ्र ये शरद - अभ्र !

—दीप्ति

शरत् के मेघों का वर्णन कर रहा है कवि, परन्तु उसकी उपमा वह शशि-शरद-शुभ्र से देता है। यहाँ शशि एक तुलनीय है जैसे शिव का अट्टहास। सारा चित्र अपने-आप में अपूर्ण है, व्यर्थ है, यदि 'शशि-शरद-शुभ्र' निकाल दिया जाए। कविता में चिलकती धूप आ जाएगी, जोकि शरत् की विशेषता है। शरत् शशि को ही मूल तुलनीय बनाकर कवि ने दृश्य को एक शीतल स्निग्धता प्रदान की है, और वही इसका प्राण है। अब चांदनी मूर्त स्त्री बनती है :

नव वसन्त की राका रजनी
पहन चाँदनी की चोली, ओढ़े अम्बर पट
गोरे लाजारुण गालों पर
कुंतल केशों को बिखराए
जैसे स्वर्णिम स्वप्न-लोक की कोई दुल्हन
झाँका करती अपने ऊँचे राजमहल के वातायन से···

जैसे कोई गगन विहारी पंछी
धोखे से फँस आया हो पिंजड़े में···
मेरी युग-युग से संचित पीड़ा कहती है
ओ विद्रोही कवि ! तेरी माटी की धरती पर
कब आएगा यह वैभव !

—कन्हैयालाल चंचरीक

चाँदनी की चोली पहने एक सुन्दरी राजमहल के वातायन से झाँक रही है। परन्तु लगती वह ऐसे है जैसे कोई आकाश में स्वच्छंद विचरण करनेवाला पक्षी धोखे से पिंजड़े में फंस आया हो। यहां कवि ने यह स्वीकार किया है कि महलों में सुन्दरता तो है, पर जैसे छटपटा रही है। और वह इसके बाद हठात् यह अनुभव करता है कि युग-युग से एक पीड़ा संचित होती जा रही है। और वह कहता है कि इस माटी की धरती पर यह वैभव कब उतरकर आएगा ! आज चांदनी खिलती है अवश्य परन्तु उसका आनंद केवल वैभव में डूबे कुछ लोग ही उठाते हैं और उनका दृष्टिकोण भी स्वस्थ नहीं है, क्योंकि वे भोगपरक हैं और नारी को केवल विलास की वस्तु समझकर उसे ऐसा बाँध देते हैं कि वह केवल झाँक पाती है। उसे स्वच्छंदता नहीं है। स्त्री के रूप में कवि ने चाँदनी को चित्रित करके समाज की सारी व्यवस्था को देखा है और उसे लगता है वह अभी तक पृथ्वी के दुखों को मिटा नहीं सका है। वह विद्रोही कवि है। वह पुराने मान-दण्डों को नहीं मानता कि सौंदर्य को उसकी ही उस परिधि में स्वीकार कर ले, जोकि परंपरा में पड़ गई है। वह तो माटी की धरती को भूल नहीं पाता, चाहे कितना भी उल्लास बाहरी तौर पर क्यों न दिखाई दे रहा हो। चांदनी की सार्थकता भी तभी है जब वह राजमहल से जनपथ पर उतर आए। कवि क्या कहना चाहता था, इससे हमें इतना तात्पर्य नहीं जितना इससे है कि कविता क्या कहती है। चाँदनी अनेक उपमानों में भी रखी जाती है :

चाँदनी आती दृगों में
रूप का आकार ले
फिर बिखर जाती चतुर्दिक
मोतियों का हास ले
शून्य जाता शब्द बन
सौंदर्य की चिर प्यास ले
तब उतरता स्वप्न-सा
कोई मधुर मधुमास ले
कल्पना-सी जा रही।

आ गई आँधी घिरे
बादल घने आकाश में
धूल के लघु पृष्ठ बोले
फूल के इतिहास में
आग की चिनगारियाँ
उड़ने लगीं मधुमास में
शक्ति की विद्युत जली तब
भक्ति बन विश्वास में
साधना-सी जा रही।

—केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'

ऐसे समय में चाँदनी का अपना महत्त्व नहीं रहता। वह प्रकृति की एक क्रिया-मात्र रह जाती है और कवि-मानस उससे प्रभावित नहीं रहता। उसकी दृष्टि केवल दार्शनिक बनकर रह जाती है। यह चित्र सहज भी नहीं होते, यद्यपि होते हैं गंभीर। यदि धैर्य से उनपर चिंतन किया जाए तो ही वे भाव जगाते है और ऐसे जोकि काफी गहराई तक प्रभाव डालते है। किंतु इतनी क्रिया हो जाने पर वह कविता नहीं रहती, दर्शन आ जाता है, बहुत मनोहर ढंग से प्रस्तुत किया हुआ दर्शन। वैसे यह सहज का मार्ग काफी हद तक स्थूल है, जो गहराई को एकदम से अलग करके रख देता है। रूप का आकाश लेकर नयनों में चाँदनी मोतियों की हँसी-सी बिखेर देती है। तब शून्य शब्द बन जाता है, किंतु कवि ने यहां भ्रम छोड़ दिया है। हम कह सकते है कि शब्द शून्य बन जाता है और व्यापक रूप में शब्द एक अभिव्यक्ति है, तो शून्य उसका स्वरूप। इस प्रकार दोनों एक ही ठहरते है। सौदर्य की प्यास दोनों में है। चांदनी के उपरांत दूसरे प्रकृतिरूप को कवि देखने लगता है। और चाँद जब जीवन का साथी बनता है तब वह बहुत ही तीखा चित्र सामने उपस्थित करता है जिसमें संघर्ष भी है।

मेरे बचपन का साथी यह चंदा मामा
मेरे आँसू देख जिसे माँ निकट बुलाती
तुम कहते हो किसी सुंदरी-सा सुंदर है
जिसका यौवन चुरा निशा नभ में मुस्काती;

×

मुझे याद है जब मेरी तुतली-सी बोली
रोज चाँद से धरती पर आने को कहती
तब मेरे नन्हें हाथों में देकर रोटी
मुझे धरा का चाँद दिखा माँ थी बहलाती

किन्तु कैद है चाँद गगन के बंदीगृह में
और कैद है महलों में भूखे की रोटी।
श्रम का रक्त चूसते हैं चाँदी के सिक्के
आस्मान हँसता लेकिन धरती है रोती।
लहराते हैं खेत, चिमनियाँ उगलें सोना
मुरझाती नव उपवन में नर्गिस की पातें।
रोटी के लिए तरसता है मेहनतकश जीवन
अनगिन चाँद-सितारों की सड़ती हैं लाशें।

—सतीश मिश्र

कवि सुन्दरी से चंद्र की तुलना नहीं करता, बचपन की स्मृति को जगाता है। अब चाँद श्रम का पर्याय बनता है और इसीलिए कि जो मेहनत करता है, वही दूसरों को उजाला दे सकता है।

चाँद को देखकर कवि को धुंध में एक दूसरी ही कल्पना जागती है :

चौथी का चाँद एक टूटा-सा हौसला—
दूर तलक आँखों में धुआँ-धुआँ छाये।

—अधीर

चाँद और टूटा हौसला, कितनी अच्छी संयोजना है। अन्यत्र :

रात को गुदगुदाता पूर्णिमा का
खोल सीना मुस्कराता
जाफ़रानी चाँद
और झरते चाँदनी के फूल
स्वप्न की पतें बिछाकर—
जश्न की महफ़िल सजाते हैं —

—चन्द्रकांत देवतलि

पूर्णिमा का सीना खोलकर मुस्कराता जाफ़रानी चाँद कितना सुन्दर चित्र है। आनंद का कोलाहल-सा सुनाई पड़ता है। नये कवि के लिए चाँद बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसके हृदय में हमें चाँद से बहुत अधिक प्रीति मिलती है। चाँद-सितारों की लाशों का सड़ना बीभत्स है, परन्तु मैं उसे करुणा के अंतर्गत रखूँगा, क्योंकि जुगुप्सा नहीं जागती, करुणा जागरित होती है कि हाय क्या समझा था, और क्या हो गया ! इतने मीठे सपनों का ऐसा भयानक अंत ! क्यों ? क्योंकि लोक में अमंगल है, इसलिए मनुष्य के लिए मानो सौंदर्य के प्रतीक सड़ रहे हैं। उन्हें देखने का भी उसे अवकाश नहीं रहा है। परंतु कवि ने ज्योति में विप्लव की अगवानी भी की है तब चंद्र भी अपना महत्त्व खो देता है :

भव-दव-तरु का दीपक
फैला प्रकाश अपलक।
आलोकित धरा-गगन
विस्मित है विपिन सघन
मूक खड़े हैं तरु-गन
किरनों की पहने लक्!
फीके पड़ गये नखत
इन्दु-ज्योति क्षत-विक्षत
सकल ज्योतियाँ आनत
कम्पित तम-उर धक-धक।
विप्लव दीपक जगमग
आलोकित नवयुग-मग
शीतल जन-जन-मन-दृग,—
दीप जले जुग-जुग तक।

—अनन्तकुमार 'पाषाण'

विप्लव के दीपक के जल उठने पर ही नवयुग का मार्ग आलोकित होगा, जन-जन-मन-दृग में शीतलता छाएगी और यह कवि की कामना है कि यह दीपक युग-युग तक जले। किंतु इस गीत की अभिव्यक्ति केवल समाज के राजनीतिक रूप तक ही सीमित नहीं है। वह सांस्कृतिक पक्ष भी लेता है और प्रकृति उसका प्रतीक बन जाती है। वस्तुतः भव-दव-तरु का दीपक चंद्रमा नहीं है। वह तो इस नई ज्योति के आगे क्षत-विक्षत हो गया है और सकल ज्योतियां सिर झुका गई है। अंधकार का हृदय धक-धक कर रहा है। अभिव्यक्ति छायावादी शब्दावली में ग्रस्त है, परंतु वस्तु उसके बाहर की है। मैं जब छायावादी कहता हूं तब मेरा अर्थ यहां उस शैली-विशेष से है जिसमें ऐसे शब्द रखे जाते हैं जो केवल व्यंग्यार्थ में अपना अर्थ प्रकट कर सकें। अन्यथा वे ठीक तथ्य पर नहीं ले जा सकते। यहां मैं अलंकारों की खोज करके आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भांति घिसी-पिटी लकीर पर नहीं चलूंगा।

निराशा में चंदा का दर्जा गिरता है। "क्यों चांद कब्र बन गया, चाँदनी क्षार बन गई। मौन मरण की बाँहों में लहरें क्यों सो गई? जिंदगी की जीत क्षण-भर में हार क्यों बन गई? ओ जिंदगी! भागो मत। छाती में अब भी तुम्हारा प्यार जीवित है।"

(राजेन्द्रकिशोर)

पराजय में उल्टा ही लगता है सब। परंतु सुधा अब चांद से गीत में अधिक मानी जाती है: "प्रणय को मधुर रागिनी मिल गई है, जिस तरह स्वातिकण सीप में

सो जाता है।" (महेशचंद्र 'सरल') "जो मृत्यु के गाँव में जन्म लेते हैं आसमान उन्हें दाँव में क्या जीतेगा ? उनको लहरों और साहित्य से क्या मतलब जिनकी नैया तूफान की छाँव में होती है।" (रामकृष्ण दीक्षित 'विश्व')

विकृति के प्रति व्यक्ति में सदैव एक विक्षोभ होता है। नई आस्था सदैव पुरातन के प्रति यह सोचती है कि अब ही साहस का असली दौर शुरू होगा। इसीलिए 'आज' पर ज़्यादा ज़ोर पड़ता हुआ मिलता है : "तारों के अक्षत ले गगन न्योत रहा है। शून्य गगन आतुर होकर विस्तार दे रहा है। मन को दिन का आलोक लपेट रहा है। आज तो द्वार खुला रहने दो।" (सुमित्राकुमारी सिन्हा)

आज द्वार खुला रहने दो। अरे, द्वार खोलने की पुकार तो निराला और प्रसाद के समय से गूंजती आ रही है। आज ही क्या विशेष बात है। असल में दुख में प्रत्येक पल भारी होता है।

"विवशता, घुटन और कुण्ठा के घेरे तोड़ दो, जिनमें हम साँस ले रहे हैं।"

(बालस्वरूप 'राही')

इन दुखों के कारण ही 'आज' का इतना अधिक महत्त्व हो गया है। बार-बार अंधेरा आता है और बार-बार सूरज और चाँद आकर उजाला फैलाते हैं :

"वातायन भेदकर किरण ने फिर से जगाया। अपरिचितागत से आह्वान आया। ऐसे आंख खोलती हूं जैसे किसीने रात का पृष्ठ पलट दिया। आंख खोलती हूं जैसे विरस-सी डाल में कोंपलें फूटती है। विगत ऐसे भूलती हूं जैसे उत्ताल जल से तट शैवाल धुल जाए।" (कीर्ति चौधरी)

इसीलिए व्यक्ति किसी भी आस्था को माने, कवि होने के नाते उसकी परम आस्था मूलतः वही है जो कि मानव के स्वत्त्व और कल्याण को जगाती है : "साधना और वंदना ही मेरे नयन की पुतलियां हैं। इन्हीं से प्रकाश, विकास और सुवास मिलते हैं।" (महेशशरण जौहरी 'ललित')

दुखी के प्रति संवेदना, समाज का वैषम्य, व्यक्ति की घुटन, व्यवस्था पर व्यंग और विषाक्त वातावरण सब ही आज हमारे सामने आते हैं क्योंकि आज के दैनंदिन जीवन में उनसे कोई छुटकारा नहीं है। दलित बालक के प्रति संवेदना नहीं जता पाता कवि, उसे कुत्ते के संग जीवन बिताते देखता है और कहता है—"हम सब भी कुत्ते हैं। पर वह बालक हमे सहेगा। उसकी निष्पाप आत्मा ने पूछ-सी टेढी असंगतियों को हंसकर नकारा है। हर बार पछाड़ा है। वह उगते सूर्य से दृष्टि मिलाकर खेल-खेल में ही हमें धारेगा, संवारेगा।" (मलयज)

आगे बढ़ने से इन्कार करते-करते भी विश्वास अपना अहंकार नहीं छोड़ता, बल्कि उसे दुहराता है और पहले से भी अधिक तीव्रता से उसे प्रकट करता है। आज यही

अहंकार बोलता है—सुधा तो है, पर मेरे गीत में है। आओ समर के लिए तत्पर हो जाओ! किंतु जिसे ईश्वर में विश्वास है, वह कहता है :

यह मधुर यामिनी, चैत चांदनी
टेर रही है द्वार - द्वार
खोलो किवार, खोलो किवार।

×

दो घड़ी तुम्हारे लिए आज
प्रभु ने खोले हैं स्वर्गद्वार।

—केसरी

इस जीवन में परमात्मा ने सब तरह के दृश्य तुम्हें दिए है। सौदर्य तुम्हारी उदात्त भावनाएं जगाने के लिए है। उसकी उपेक्षा मत करो, तुम कुछ भी करना चाहते हो, उसे अवश्य करो, किंतु कभी भी यह मत भूलो कि तुम नियामक नहीं हो, सौदर्य का सिरजन करनेवाला एक और है, जो तुमसे भी ऊंचा है। तुम निमित्त हो, भले ही अपने अहंकार में 'उसे' देखने से इंकार कर दो। उसकी छवि सचमुच कहीं अधिक अपरूप है :

लगी है सुधि की रेशम डोर
झूल रहा आँखों के पलने में मेरा चितचोर
सिंधु-सी उसकी स्वप्न - हिलोर—

—केसरी

प्रभु की बात इस युग के कवियों में नहीं के बराबर पाई जाती है। यह नहीं कि सब ही नास्तिक हो गए हैं, किन्तु अब नये-नये उपमान रखे जाते है। नये-नये प्रतीकों से प्रभु को याद किया जाता है।

इसमें देश, जाति और प्रकृति सबका भी समन्वय हमे कहीं-कहीं मिल जाता है।

राजशिवपुरी की एक कविता में ऐसा चित्रण बहुत आकर्षक हुआ है। नारी-हृदय प्रायः ही समर्पण मे सौंदर्य देखता है और भारत में तो यह विशेषता है। अर्चना के जलजात इसी दृष्टि से खुले जाते हैं।

चांदनी-सा गात लिए धरती हंसती है। भारत मुक्त हुआ है। उसके आनंद से हृदय सरावोर है। पृथ्वी और आकाश दोनों मे ही दीपक जल रहे है। आकाश के दीपक नक्षत्र हैं, जो अर्चना के जलजात से दिखाई देते है। धरती एक सीप की तरह अपने में मोती छिपाए हुए है। कौमुदी से पथ लिप गया है। यह कितनी मनोहर अभिव्यक्ति है।

देशभक्ति-संबंधी कविता में चांदनी का ऐसा वर्णन हमे अन्यत्र नहीं मिला है इसलिए भी इस कविता का अपना महत्व है। भारत, 'दीप वाला देश' है :

"शलभ के संदेश लाया, दीप वाला देश !

"नित नमित नयनों ने नीरव संदेश दिए। धन्य जननी ! मुग्ध जनता ! मुक्त भारत देश ! वसुधा चांदनी-सा गात लिए हंसती है। साधना के दीप चुपचाप जल रहे हैं। वे किसी अर्चना के जलजात हैं। वे नभ का छोर छू रहे हैं। धरित्री सीप है, वे उसके प्राण के मोती हैं। कौमुदी से लीपकर वे किसीका पथ बना रहे हैं। वे निराले दीप तम की परिधि मापते हुए विश्व का इतिहास लिखते हैं। आघात, आपदा उल्कापात, विषमताएं आती ही हैं किन्तु प्रात भी हंसता है।" (कुमारी राजशिवपुरी)

मन और समाज का जो द्वन्द्व है, वह त्याग और स्वार्थ का ही झगड़ा है। एक ओर तृप्ति की खोज है, दूसरी ओर न्याय की।

"वह अहं का गीत सीख गया था, रुदन का राग सीख गया था। अर्चन-पूजन, सुख-दुःख, विरह-मिलन के प्रकरण भी सीख गया था। यह भी जान गया था कि मादकता अंतर में क्यों सोती थी !" (नीरद)

फिर भी परिणाम क्या निकला ? 'मैं' की खोज। वह पहले तो ब्रह्म का प्रतिरूप बनता था। ब्रह्म तुंगहिमालय शृंग था, मन था चंचल गति सुर सरिता। परंतु आज "मन वह रूप छोड़ चुका है। अपने आप से भी तो डर हो गया है। मन मद का आवास क्यों बना ! मैं इस 'मैं' का हास क्यों बन गया ? अपने आप से डर क्यों लगता है ?"

(विश्वंभरनाथ उपाध्याय)

अपने ही दो 'मैं' हो गए हैं। यह है मार्ग न खोज पाने का संकट। भारतीय दर्शन का अभावात्मक अहं और पाश्चात्य मुक्ति और भोगवाद के व्यक्तित्व का अहं, इन दोनों का संघर्ष ही इन उलझनों का कारण है। केवल भारतीय आधार आशाप्रद ही दीखता है।

"आज मैं विश्व-वैभव अपनी गोद में खिला रही हूं। मैं सुविगत वर्तमान मधुरस भावी को पिला रही हूं। मैं पयस्विनी बनकर भविष्य का दुलारा निर्माण करती हूं। मेरे शिशु में मानवती की रुचिर पुरातन धुन प्रगटी है।" (बालकृष्ण शर्मा 'नवीन')

इस प्रकार हम काव्य में आज अनेक कोण देखते हैं। केन्द्र एक है। धरातल एक है। उसपर केंद्र से संयोजित रेखा का-सा कवि-व्यक्तित्व है। वह रेखा झुकते-झुकते धरातल में मिल जाती है, फिर उठकर आकाश की ओर चली जाती है, फिर लौटकर वहीं आ जाती है :

वंदना को सजल मेरे गान तो हैं,
तरल स्नेह छलक - छलककर अमर तेरी ज्योति में
जलता निरंतर, अमल निर्भय !
आरती को ज्वलित मेरे प्राण तो है !

शलभ - सा उन्माद लेकर चूमने नख-ज्योति तेरी
मिट चला वह प्यार तन्मय ।
चरण में उत्सर्ग जीवन-दान तो है ।

—शकुन्तला रेगु

व्यक्ति को इतना महत्त्व काव्य में पहले नहीं मिला । पहले कवि को बाह्य आधार मिलता था । अब उसे स्वयं ही अपना आधार बनाने की मजबूरी है । यह ज़िम्मेदारी बहुत बड़ी आ पड़ी है । "मैंने तो तेरी एकाकी भक्ति मांगी थी । पर उस एकाकीपन ने जग की सारी सीमा नाप डाली । वह तो अपार सिन्धु बन गया और मै उतराती फिरने लगी ।" (विद्यावती कोकिल)

इसीलिए यह संकट आया है कि क्षण में कुछ और दूसरे ही क्षण कुछ और दिखाई देता है । इसीसे चमत्कार भी अपना संबल खोज पाया है ।

काव्य की मिठास केवल चमत्कार में नहीं रहती । अरूप को विचित्र अरूप के माध्यम से चित्रित करने पर काव्य उज्ज्वल हो जाता है ।

जहां चमत्कारमात्र ही प्रमुख रहते है, वहां भाव झकझोर नहीं करते । केवल प्रकृति के क्षेत्र में जब उनका मन सहज रूप से मिल जाता है, तब वे ऐसे नहीं रहते। अधुनिकता की बनावटी लगाम ढीली कर देने पर उनकी भाषा का अश्व हिरन की तरह नहीं चलता । ऐसे कवियों को चुनौती दी है गिरिजाकुमार ने और कहा है :

उजला पाख क्वाँर का फूला कास - सा
खिली चाँदनी रात कि कली सुहावनी,
नरम नखूनी रंग घुले आकाश मे
रची हुई है पूरनमा की चाँदनी,
उड़ती भीनी गंध हवा में डूब की
बिखरा सोई कोरे कुतल कामिनी,
खुली ओस में बिछी दूधिया सेज-सी
पानी-सी ठंडी है रितु मनभावनी ।
आसमान में भरा श्वेत रस सोम का
नयनों में मद-भरी ललोंई झूलती,
हिम के मृग भर रहे चौकड़ी चाँद में
नवल नारि-सी अलस केतकी फूलती,
उभरे रोएँ छुवा गई है चाँदनी,
सींग नुकीले चुभा गई है चाँदनी,
चंचल नयनी गोरी हिरनी चाँदनी ।

—गिरिजाकुमार माथुर

कास जैसा फूला है क्वांर का उजला पाख। नरम नाखूनी रंग आकाश में घुल गए। हवा में दूब की गंध उड़ रही है। आंखों में मद-भरी ललोंई है और चन्द्रमा रस से आकाश को भर रहा है। चन्द्रमा में बरफ के हिरन चौकड़ी भर रहे हैं। चन्द्रमा के पहाड़ों की छाया हल्के नीले-से रंग की होती है, जो हिरन-सी लगती है। चन्द्रमा श्वेत-सा है, पर उसमें हिम की सी चमक भी है। हिरन हल्के नीले हैं। हल्का नीला रंग सफेद का शेड होता है। इस प्रकार यहां कवि की बड़ी पैनी दृष्टि मिलती है। चांदनी के स्पर्श की कितनी तीखी चुभन कवि ने दी है, एक जो सिहर-भरे, दूसरी जो मन को भी भेद जाए। तभी तो एक जगह वह रोएं छुवाता है, तो दूसरी जगह सींग। यह तो बहुत ही मीठी रचना है। गिरिजाकुमार ने नगर के चित्रों में तो कृत्रिमता दी है, परन्तु ऐसे ग्राम्य चित्रों में उसके शब्द कुछ अधिक सप्राण हो जाते है। उसको रंगों का बड़ा ध्यान रहता है।

इसीकी परंपरा में कुछ ऐसे शब्द मिलते हैं जो पुनरावृत्ति में ही अपनी शक्ति रखते है, जैसे बादल तो गीला है ही परन्तु कहेंगे गीला बादल। आंख से देखने को तो बादल गीला लगता नहीं, पर रात का भीगापन दिखाना भी आवश्यक है, अतः ऐसा वर्णन करेंगे :

चाँद गीले बादलों में सो रहा है।
चाँदनी को कुछ नशा-सा हो रहा है।
नींद के फेंके गए पाँसे - झकोरे
होश किसको, क्या मिला, क्या खो रहा है !
गुदगुदी का दर्द उभरा आ रहा है,
खिलखिला बेदम ज़माना हो रहा है।

—सर्वेश्वर दयाल

वैसे गीले बिस्तर पर सोना बड़ा कठिन होता है। पर जब चांदनी को नशा हो, तो हो सकता है चांद ने भी थोड़ी-सी पी रखी हो। ऐसी हालत में गीला बिस्तर चल सकता है, क्योंकि पीकर बहुतेरे सूरमा नालियों में पड़े मिले हैं। ऐसे गीतों में उर्दू जैसी उक्ति-चमत्कार की प्रियता होती है, किंतु होते वे अच्छे ही है क्योंकि जितने खंडचित्र वे देते हैं, वे सब अपने-अपने में पूर्ण होते हैं। संध्या का परिपाटीगत वर्णन दूसरे प्रकार का होता है :

आज सायंकाल से ही
कर रहे कलरव विहंगम !
चाँदनी है या दिवस है ?
ज्योति कैसी दिव्य है यह ?
हो रहा जड़ भी विवश है !
चेतना से मुक्त है जो

फिर उसे क्यों हो न विभ्रम !
गुञ्जरित वातावरण है !
दूध से मानो, धुला
आकाश का अंतःकरण है,
स्वप्न में भी चौंक उठते
प्राण शशि को देख अनुपम !

—आरसीप्रसाद सिंह

इस गीत में न कोई विशेषता है, न कोई चमत्कार है, किंतु यह है बहुत सुन्दर ! ऐसे मौके पर बड़ी मुसीबत हो जाती है। कहां उंगली रखी जाए ! किंतु यह सौंदर्य इसकी अनुभूति में है और कहीं नहीं। 'आज' में ही एक आवेश है, और वहीं से इसमें पकड़ आ जाती है। ऐसा कल नहीं था, 'आज' ही यह बात है।

एक युवक कवि को यह चंद्रमा भी काला दिखाई देने लगता है :

नीम के पीछे उगा है
चाँद पूनम का सलोना।
हैं बगीचों में जुड़ी रंगीन कलियों की सभाएँ,
हैं विटप के एक इंगित पर लिपट जाती लताएँ,
ले रही अँगड़ाइयाँ किरणें सिहरते पल्लवों पर,
चल रहा भू पर गगन का
एक जादू, एक टोना।
एक है वह रात, जो है हँस रही घूँघट उठाए,
एक तुम हो, रह गईं जो भूमि पर आँखें गड़ाए
क्या लजाती हो भला इस चाँदनी, इस चंद्रमा से !
चंद्रमा तो है तुम्हारे
रूप का केवल दिठौना !

—रामकुमार चतुर्वेदी

अपनी-अपनी आंख ठहरी। प्रिया का मुख इतना उज्ज्वल है कि उसे नज़र न लग जाए इसलिए माथे पर लगाए काले दाग-सा लग रहा है चंद्रमा। प्रेमियों ने काले तिल को गोरे गाल पर देखकर बड़ी हाय-हाय की थी। बिहारीलाल चांदनी में राधा का तन ही नहीं देख पाया, क्योंकि वह भी गोरी और राधा भी गोरी। मगर आजकल होते तो लोहा मान गए होते ! कि चंद्रमा केवल दिठौना है ! यौवन भी कैसी रस-भरी अवस्था है, जब अपने सामने कुछ दीखता ही नहीं। इस कविता को पढ़कर मुझे भवभूति की वह बात याद हो आई जहां उसने कहा है कि सरस्वती मेरे पीछे ऐसे चलती है जैसे

अपनी भामिनी। सलोना और टोना की तुक ज़रा सहज नहीं पड़ती, लेकिन कवि ने ऐसा शब्द रखा है कि 'वाह-वाह' निकल पड़ती है। यह तो सच है ही कि उसकी प्रिया ने तो इस अतिशयोक्ति को सत्य नही माना होगा। लेकिन ब्रजभाषा के सवैयों के अंतिम चरण में जैसे कवियों ने चरमबिंदु रखे है, वैसा ही यहां भी मिलता है। अतिशयोक्ति भी काव्य में ही सुन्दर बन पड़ती है और यह उसका एक अच्छा उदाहरण है।

अब चांदनी का व्यक्ति-मानस पर पड़ता सीधा प्रभाव भी देखना आवश्यक है जहां वह कामिनी बनी दीखती है :

वह अचेतन चेतना-सी जागती जो
स्वप्न बन सोते जगत में चाँदनी
स्नेह की सुरभित नशीली साँस-सी वह
बस गई मेरे हृदय में चाँदनी।

×

फूल में ज्यों गंध भरती, बंध हरती
भर गई मन-से सदन में चाँदनी!
सब जगह सैलाब जैसी, आब जैसी
भर गई निर्झर विजन में चाँदनी।

×

लो अकूलप्रवाहिनी वह सिमट बैठी
मालती के फूल जैसी चाँदनी
कहीं मेरे स्पर्श से कुम्हला न जाए
सूक्ष्म है मेरी प्रिया-सी चाँदनी।

×

चाँदनी मधु यामिनी की कामिनी-सी
उर खिलाती, दुख भुलाती चाँदनी!
गर्विता है, रूठ जाती, मान करती,
सुधि जगा, फिर से रुलाती चाँदनी।

—नरेन्द्र शर्मा

गर्विता है वह ! मान करती हुई। परंतु यह तो उद्दीपनरूप से आई है। वह सुधि जगाती है, और रुला देती है। उसके साथ पुरानी स्मृतियां मिली हुई है। स्नेह की सुरभित नशीली सांस जैसी चांदनी, फूल में गध भरनेवाली चांदनी, मन-सदन में बंध हरकर बसनेवाली चांदनी, अकूल प्रवाहिनी होकर भी मालती के फूल जैसी सिमट बैठनेवाली चांदनी, स्पर्श से भी कुम्हला जानेवाली चांदनी, मेरी प्रिय जैसी चांदनी, यह सब

बड़ी मनोहर शब्दावली है, जो चांदनी के विभिन्न प्रभावों को प्रकट करती है। किंतु इतनी ही सीमा नहीं है। इस युग में आकर बिचारा चांद लंगड़ा भी हो गया है। वह चांदी की किरनों की बैसाखी लेकर चला आ रहा है :

देख रहा हूँ—
रजत रश्मियों की बैसाखी कर में लेकर
बढ़ता आता चाँद ज्योति के
जगमग पथ में—

—कन्हैयालाल चन्चरीक

लंगड़ा तो है, मगर है रईस। चलता है चांदी की बैसाखियां लेकर। यह है चलते-चलते ठिठका देना। 'मजाज़' ने 'बनिए की किताब, मुल्ला का अममा, बेवा का शबाब, मुफलिस की जवानी' इत्यादि कहकर चंद्रमा की वर्णना की है। ध्यान रहे बनिए की किताब से तात्पर्य बही से है, लिपटी हुई बही से, जिसके कोने नहीं दिखाई देते। वैसे शेक्सपियर ने 'ए मिड समर नाइटस ड्रीम' में चंद्रमा के कोनों को पहले ही लालटैन में घुसवाकर यह समस्या हल कर दी थी। और कहा है कवि ने :

प्रश्न : **मौन अधर**
मुखरित हो जाएँ तो रस बरसे,
लाज-भरे चारु नयन
स्यात् उठें, गिर जाए गाज कहीं
अंचल के छोर अगर उड़ जाएँ होले से
शर्माए रूपसि भी मन ही मन
कोऽसित्वम् ?

उत्तर : **एक चितेरे की कृति**
वर्तुल रेखाओं में सिमटी-सी।

—कन्हैयालाल चन्चरीक

यह उसकी दूसरी प्रश्नोत्तरी है। रस बरसता है चांद से। पर अधरों से भी बरस सकता है, अगर वे बोल पड़ें।

तो यों हम अपनी यात्रा में एक दूसरे छोर पर आ निकलते हैं। नये कवि को ओस नीली दिखाई देती है। प्रायः ओस नहीं दीखती, पर जब उसपर किसी रंग की छाया पड़ती है तो दीखती ही है। हीरे-सी वह क्यों लगती है ? किरन पड़ने से। पर नीली लगती है नीले आस्मान की छाया पड़ने से।

चांद आईना-सा भी लगता है।

चांद दही-सा भी दीखता है। यह मुझे ग्राम्यत्व दोष जैसी खटकनेवाली चीज

लगती है। कैसा भी जमा हुआ दही हो, आखिर चांद चांद है। लेकिन अपनी-अपनी रुचि भी तो है। अंधकार-भरे पक्ष में चांद का स्याह शीशा बन जाना बड़ी मौलिक सूझ है, क्योंकि कांच परदर्शी होता है। उसका दीखना बंद हो जाएगा :

चाँद हेमन्ती, हवा बहती कटीली
चाँदनी फैली हुई है ओस-नीली
चाँदनी डूबी हवा सुधि गंध लाती
याद के हिम-वक्ष से आँचल उड़ाती
चाँद के जब गोल बीसों आइनों में
मोम की सित मूर्ति-सी गत आयु आती।
हर निशा जब पूर्णिमा बनती सजीली
चाँद हेमन्ती, हवा बहती कटीली।

×

आज दिखता है दही-सा चाँद शीतल
कौन जाने स्याह शीशा, चाँद हो कल
उड़े उजली धूल बनकर चाँदनी भी
आबनूसी मूर्ति हो फिर आयु उज्ज्वल
इसलिए हेमन्त की यह घोर ठिठुरन
तन छुवन से ऊष्म तुम कर दो रसीली।

—गिरिजाकुमार माथुर

इतना ही नहीं। नये कवि को चांद अब चांदनी के बीच में ऐसा लगता है जैसे एक संगमरमर का कबूतर तैर रहा हो। ऐसी-ऐसी नई उपमाएं हमें मिलती है कि थोड़ी देर चुककर सोचना पड़ता है। संस्कृत के कवियों ने सैकड़ों बरसों में अपने युग की सारी छानबीन कर डाली। नया कवि भला पिष्टपेषण क्यों करे ?

चाँदनी के बीच पूरा चाँद
जैसे संगमरमर का कबूतर तैरता हो
क्वार के सित बादलों में
लिख कमल कोमल दलों में
बाँधकर सुकुमार
अनबींधी किरन से
भेज दो संदेश इसके
हाथ यदि चाहो—

—जगदीश गुप्त

'पूरा चांद' में जगदीश गुप्त ने इतना ही नहीं रखा है, अनबीधी किरन से उसके हाथ संदेसा भी पहुंचाया जा सकता है। सचमुच बड़ा मनोहारी चित्र है। प्रत्येक युग के कवि नये रूप सिरजते है। आज का कवि भी पीछे नहीं है। जो उपमाएं लोक में व्याप्त हैं, वे भी एक दिन ऐसी ही नई थीं। एक ग्रामचित्र है :

जुन्हाई खिली
पूनम विपंची में चाँदी के स्वर भर
गाता है निर्झर अकेला विहाग
नभ की अटारी से चंदन लुटाकर
धोता है राकेश सब दिन के दाग
सरसिज की पाँखों में दूधी किरण को
रजनी की मीठी पहुनाई मिली
जुन्हाई खिली
झुरमुट की छाया में सारस की जोड़ी
सोयी है दुबकी-सी चोंचें मिला
बगुलों की पाँतें पोखर के तट से
उड़ती है धुले-धुले डैने हिला
उजली लहर पर फिसलती लताएँ
पेड़ों की चुप परछाई हिली
जुन्हाई खिली
केंचुल के पथ पर सूने पहर में
खरहा सहमकर भरता छलांग
हँफती हुई है ये जो नौ नील गायें
ज्वारों के खेतों से आई है भाग,
ठण्डी बयारों से सिहरी हुई-सी
डोली है भीगी मकाई-तिली,
जुन्हाई खिली

—शीतलासहाय श्रीवास्तव

जुन्हाई खिल गई। चांदी के स्वर भरकर निर्झर गा रहा है। राकेश ने चदन बरसाकर दिन के दाग धो दिए है। दूधी किरण को सरसिज की पांखों में रजनी ने पहुनाई दी है। बहुत ही अच्छा कहा है। मैं उपादेयतावादियों में नही हूं जो इस कोमल कल्पना की मार्मिकता को नही देखू। कुत्सित समाजशास्त्री अवश्य इसे केवल शब्दों का खेल कहेंगे, किंतु वह इसलिए कि वे प्रकृति और मानव-मन के गहन और गंभीर संबंधों

को अपने वर्ग-विश्लेषण तक ही सीमित करके देखते हैं। उनके हिसाब से तो चांदनी भी इसलिए अच्छी है कि हमारी सांस्कृतिक परंपरा में उसे अच्छा कहा गया है।

कवि ने यहां एक के बाद एक सुन्दर चित्र उपस्थित करके दृश्य को साकार कर दिया है। स्वयं वह तटस्थ है। प्रकृति ही यहां अपने-आप में पूर्ण होकर आई है। केंचुल छोड़ गया है जहां सांप, वहां खरहे का सहम कर छलांग भरना और नील गायों का भागना, बहुत ही मनोरम दृश्य है और कवि की गहरी दृष्टि का प्रमाण है। एक और बहुरूप चित्र है :

हो रही है रजत की बरसात
नभ-सरसि में खिल रहे हैं चाँदनी के फूल
और विधु की बाहु में यामा रही है झूल
हंस शिशु-से उड़ रहे हैं अभ्रदल सुकुमार।
श्वेत चूनर ओढ़कर मुस्का रही है रात।
सरोवर में तिर रहे हैं चाँदनी के ख्याल
मूँद पलकें सो रहे हैं शतदलों के बाल,
चाँदनी में डूब बेसुध सो रहा संसार
कमलदल में मुख छिपाकर सो रहा है प्रात,
जलधि में बन मिट रहे हैं वारि के लघु शैल
दूध-सा अमृत गया है जड़ धरा पर फैल
मोतियों से हो रहा है अवनि का शृंगार,
क्षितिज के परिरम्भ में है क्षितिबंधी मधुस्नात।

—त्रिभुवननाथ चतुर्वेदी

चांदी-सी बरस रही है और चांदनी के फूल आकाश के ताल में खिल रहे हैं। चंद्रमा की बांह पर रात फूल रही है। बादल हंस के शिशुओं जैसे हैं। रात सफेद चुनरी ओढ़े है। दूसरा चित्र है—चांदनी के सांप ताल में डोल रहे हैं। सबेरा कमलदल में मुंह छिपाकर सो गया है। जगेगा तो ऐसे जैसे कमल खिल जाता है। ज्वार में उठती लहरें छोटे पर्वतों-सी लगती है। एक अन्य कवि ने कहा है :

"चांद क्षितिज-तट पर छिपता जा रहा है। प्यार का कोमल कुमुद मुरझा रहा है। आनंद की नई रजतवीणा तोड़कर जैसे किसीने भूमि-तल पर फेंक दी है, और मन की बांसुरी हाथ में लेकर कोई वेदना का राग गा रहा है।" (जितेन्द्रकुमार)

परंतु जीवन के संघर्षों के बोझ ने जिन्हें कटुता की सीमा तक पहुंचा दिया है, वे अब उदासीन-से हो गए हैं, और सबके प्रति अहं-भरे हुए विद्वेष से ग्लपयित हो गए हैं। उनका गला रुंध-रुंध जाता है। सोचते हैं कि रूठ जाने से काम चल जाएगा। सपने ऊंचे

थे, लेकिन सत्य हो नहीं पाते। तब वे अपने को सबसे कुछ अलग बना लेने की चेष्टा करते हुए भी दिखाई देते हैं कि मुझे साधारण मत समझो। कहते हैं :

चाँदनी मेरा करेगी क्या !

×

मैं निपट सीमेंट का हूँ पन्थ,
मेरे लिए भी है वही राही परम हित
सम्पूर्ण जीवन का
उसीको माध्यम बना मैं जान सकता हूँ
कि छाया दे रहे हैं पेड़
खुशबू दे रहे हैं फूल,
थपकी दे रही है चाँदनी

×

मेरे हृदय हो तब तो !
चाँदनी मेरा करेगी क्या !

—भारतभूषण अग्रवाल

सीमेंट के पथ की यह हृदय के अभाव में लिखी गई कविता कितनी मज़ेदार है। छाया, खुशबू, थपकी, सब ऐसे जाने जा रहे है, जैसे अनुभव किसीका नहीं किया जा रहा है।

अब तो बिचारा चांद कुछ जली-कटी सुनने लगा। यह तो मान लिया गया कि उसमें कुछ आकर्षक अवश्य है। एक कवि ने उस ज्योति के फूल को देखा। कुम्हलाया पड़ा था। जगत् ने उसकी सुरभि ले ली और काम निकल गया तो उसे भूल गया। ऐसा सदैव होता है। लेकिन बिचारा चांद निर्वाण पा गया तो कोई बात नही, उसकी साधना तो सफल हो ही गई।

आज कुम्हलाया पड़ा है ज्योति का यह फूल
ले सुरभि आया जगत इसको गया है भूल।
सफल इसकी साधना यह पा गया निर्वाण
बुझ गया पर खींच लाया जगत में सुविहान
हो गया निश्चिन्त रवि को सौंप बुझती ज्योति के कणमात्र।

—तेजनारायण काक

क्योंकि वह जगत् में बुझने पर सबेरा ले आया। और अपनी बुझती ज्योति के कणमात्र उसने रवि को सौंप दिए, वह निश्चित हो गया। मर गया।

इतनी-सी रही आखिर चंद्रमा की महत्ता !

किन्तु चन्द्रमा अब भी हृदय को खींचता है; कल भी खींचेगा। यह तो कवि हृदय की अवस्था-विशेष की बात है कि किस समय उसे कैसा-कैसा लगता है। पर चांद अजेय है चांदनी भी अजेय है, वर्ना इतने सब लोग उसके बिना अपना काम क्यों नहीं चला सकते ?

ऐसा ही एक कवि अग्निपथ पर चलते समय चांदनी से बिदा मांगते कहता है :

मैं अनल पथ का पथिक हूँ
चाँदनी ! मुझको बिदा दे।
मधु मिलन के मद-भरे
स्वर बीन में भर-भर बजाए
स्वप्न के जग में अनेकों
राग की रच-रच सजाए
आज टूटे तार
रूठा है मधुर संयोग हमसे
खो गया संगीत अब तू
रागिनी ! मुझको बिदा दे।

×

एक आया था प्रवासी
खग, दिया तूने बसेरा
रैन बीती ढल चला तम,
आ रहा फिर-फिर सबेरा
छोड़ना ही अब पड़ेगा
नीड़ फिर तेरा विहंगिनि
देख, शशि धूमिल हुआ,
मधुयामिनी मुझको बिदा दे !

—जगतप्रकाश चतुर्वेदी

संघर्ष ने नये कवि में उथल-पुथल कर दी है। वह मजबूर है कि उसे सुदरता प्यारी है, किंतु मनुष्य इतना दुखी है आज, कि उसे प्रकृति की शोभा निरखने की तन्मयता ऐसी लगती है, जैसे वह अपनी ही जाति के प्रति विश्वासघात कर रहा है। तभी तो वह इतना डरता जाता है।

एक दिन क्या ऐसा आएगा जब कवि का यह भय दूर हो जाएगा ? नये कवि को इसके लिए अपनी मानस-भूमि को ठीक करना होगा, इसमें चन्द्रमा का कोई दोष नहीं, वह तो निरंतर रूप की हिलोरें उठाता रहा है। और आज भी उठा रहा है।

संवेदना और स्वानुभूति

मनुष्य प्रकृति का अंग है, और अंग होकर भी उसे जीत लेना चाहता है। किंतु दूसरी ओर उसका समाज स्वयं बहुत दुःखी है। यह एक द्वन्द्व है। वह प्रकृति का आनन्द लेता है, तो मनुष्य का दुःख वह कहां मिटा पाता है! यदि वह समाज की विषमता में ही जकड़ा हुआ रहता है तो प्रकृति के बारे में वह लिखता ही क्यों है? आखिर उसका प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण क्या हो? यदि प्रकृति एक रहस्य है, तो कवि उसे रहस्य के रूप में ही देख सकेगा। यदि प्रकृति एक निरंतर चलता रहनेवाला क्रिया-व्यापार है, तो उसका चित्रण मनुष्य के हृदय से क्या संबंध रखेगा? आनन्द वह यदि उससे प्राप्त करता है, तो उस आनन्द से लोक को क्या लाभ? यदि दलितवर्गों को भी प्रकृति के चित्रण में आनन्द मिलता है तो क्या वह मनुष्य को उसकी विषमताओं के यथार्थ से अलग कर देना नहीं है? ऐसा काम क्या अंततोगत्वा यही प्रमाणित नहीं करता कि कवि वास्तव में उच्चवर्ग के हाथ में खेल रहा है? यदि समाज के ही चित्रण में कवि डूब जाता है, प्रकृति के खेलों का सौंदर्य इसलिए नहीं देखता कि उसके पास तत्काल अन्य और अधिक महत्त्वपूर्ण समस्या है, तो क्या वह मायकोवस्की की भांति ही केवल नागरिकता में ही फंसा नहीं रह जायेगा? ऐसे लोग जो तत्काल को ही सार्वकालिक मानते हैं, यह भी मानते हैं कि मनुष्य का मनुष्य से पहला संबंध है। प्रकृति को रहस्य के रूप में क्यों रखा जाए, जब विज्ञान निरंतर उसके रहस्यों को खोलता जा रहा है। ऐसे समय में प्रकृति की उपासना करना मनुष्य की प्रगति की अवहेलना करने के समान है। किंतु अन्य कवियों को यह जीवन की एक यांत्रिक-सी व्याख्या मालूम देती है। वे मनुष्य की चेतना को अधिक व्यापक बनाना चाहते हैं और मनुष्य-समाज के भीतर ही उसे बंद नहीं कर देना चाहते। वे प्रकृति के विराट कार्य-व्यापार को देखना भी चाहते हैं। इन्हीं अनेक समस्याओं ने नये कवियों को प्रकृति के संबंध में एक वेदना दी है, जो कवि-जीवन के विभिन्न कार्य-व्यापारों के माध्यम से प्रस्फुटित हुई है। इस नई चेतना का एक रूप यों हैं:

लचक-लचक कर चलने वाली हवा अनोखी
लहर बन गई नई चेतना के सागर की!

नया सबेरा जन्म ले रहा चहल-पहल है;
वन-प्रान्तर—सब मुखर, मर्मरित और गुंजरित;
पत्र-पत्र में स्पन्दन, कम्पन कली-कली में,
नये रक्त का है यह मांसल शिशु प्रकाश का।
यह क्रन्दन, चीत्कार—, नहीं यह कहीं करुण है।
यह तो शिशु का जन्मजात अधिकार तरुण है।

—जानकीवल्लभ शास्त्री

नई चेतना का सागर लहरा रहा है। नये सवेरे का जन्म हो रहा है। सब ओर एक नई लहर-सी छाई हुई है। यह लोक का करुण क्रंदन वास्तव में करुण क्रंदन नहीं है। यह तो शिशु का जन्मजात अधिकार है। इसी भावना से कवि को प्रकृति में आनंद की अनुभूति होती है। प्रकाश का यह मांसल शिशु नये रक्त का प्रतीक है।

जानकीवल्लभ की सदैव एक विशेषता है कि वह जब लिखता है तब प्रायः ही स्थायी मूल्य की रचना प्रदान करता है। यह जागरण का दृश्य भी इसीलिए एक ओर तो अपना तात्कालिक प्रभाव रखता है, किंतु इसमें एक सार्वकालिक संदेश भी है।

जिन कवियों को यह ध्यान है कि वे मानव-जाति की अंतिम पीढी नहीं हैं, उन्हें यह आक्रोश नहीं घोटता कि कल ही वे सारे मनुष्य-समाज को सुधार डालें। वे मनुष्य के मंगलमय विकास में तो आस्था रखते है, किंतु अहंकार नहीं करते कि वे ही बुद्धि के एकमात्र स्वामी है। तभी उनमें तुलनात्मक रूप में अधिक स्वस्थ दृष्टिकोण पाया जाता है।

अब होली आ गई है। आज के दिन सब एक-दूसरे के गले लगते है। लोक में एक दिन इसलिए रखा गया है कि मनुष्य सब समान हैं। जब ऐसा दिन आता है तब लोक में आनंदोत्सव मनाया जाता है। होली का प्रारंभ लोकायतों द्वारा हुआ ही इस दृष्टि से था, किंतु मैं उस ऐतिहासिक पक्ष पर नहीं जाऊंगा। नया कवि प्रिया-मिलन का प्यासा है :

आई होली की साँझ मिलन की वेला
पर मेरे-तेरे बीच बहुत है दूरी।
धरती भीगी दिन-भर स्वर्णिम किरणों से
भीगे रँग-रँग कर अरुणिम साँझ-सकारे
अब मधुर फाग की छींटों से अनुरंजित
निशि-भर अम्बर-पट पर चमकेंगे तारे
दो भिन्न दिशाओं में हम दोनों बंदी
होगी न कभी क्या निठुर अवधि यह पूरी।

—जगतप्रकाश चतुर्वेदी

भारतीय परंपरा में वैसे तो पत्नी-मिलन की परंपरा है, परंतु प्रेम-मिलन भी कम नहीं है। इसीलिए स्वकीया का महत्त्व ही कार्य रूप में प्रयोग करनेवालों ने राधा-कृष्ण के परकीया प्रेम का रस खूब लिया है और एतराज करनेवालों को आत्मा-परमात्मा का नाम लेकर चुप कर दिया है। हमारा नया कवि किसी दूसरे की पत्नी को नहीं चाहता, कुमारी-प्रेम में रत है। समाज उसे घुसने नहीं देता। मजाज के शब्दों में :

हदें वह बाँध रखी हैं हरम के पासबानों ने
कि बिन मुजरिम हुए पैग़ाम भी पहुँचा नहीं सकता।

जहां तक हिंदू समाज का साधारण मानसिक स्तर है वह तुलसीदास के काव्य के लिए उपयुक्त है, जिसमें समाज के अनेक पक्षों का धार्मिक विवेचन है। इश्के-मिजाजी पहले भी थे, लेकिन उन्हें केवल मनोरजन के लिए लिया जाता था। अब अंग्रेजी पढ़े युवकों ने व्यक्तिपक्ष को पकड़ा। साधारण जीवन में अब तुलसीदास का सस्ता संस्करण मैथिलीशरण गुप्त है। तो नया कवि अपने पाठकों में मध्यवर्ग से नीचे नहीं उतर पाता। निम्न मध्यवर्ग में भी नहीं, क्योंकि दैनिक जीवन ऐसा घिरा हुआ है, अभी तक अपने धार्मिक कार्य-कलाप के अधकचरे विश्वासों में कि उसका नये कवि और उसकी आधुनिक मान्यताओं से पूरा मेल नहीं बंधता।

दास-जीवन में कवि ने स्वतंत्रता को प्रमुखता दी।

धूल उड़ती है नगर में
साँझ मटमैली उतरती,
और दिन की हड्डियों की
राख है नभ में बिखरती !
काँपती है सभ्यता,
दीवार पर दीवार गिरती
और टूटी मज़ारों पर
आँसुओं की धार गिरती !
बज रहे घड़ियाल मंदिर
गूंजते हैं आरती से,
आज मेरा गीत प्रेरित
है स्वयं माँ भारती से !

—जगदीश

दिन की हड्डियों की राख नभ में उड़-उड़कर बिखर गई। सभ्यता कांपने लगी और पुरानी दीवारें ढहाने लगीं। लेकिन दीवार पर दीवार का गिरना जिस गति को बताता है, वह काव्य-सत्य है, लोक-सत्य नहीं। आज भी स्वतंत्रता, आधुनिकता पढ़े-

लिखों या मध्यवर्ग के ऊंचे स्तर की बात है, उसका लोक जीवन में तादात्म्य नहीं है। विधवा-विवाह, घूघट तोड़ना, दहेज-प्रथा मिटाना, छुआछूत-विरोध, जातिवाद-विरोध, आज की भी समस्याएं हैं, यद्यपि लेखकों ने इन्हें घिसा-पिटा विषय समझकर इनपर लिखना भी छोड़ दिया है। यों परिवर्तन हुआ अवश्य है, इसे कौन अस्वीकार करता है ? नया कवि पर्व-त्यौहारों पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भांति नहीं लिख सकता, क्योंकि वे मध्य-कालीन बातें हैं, हिंदुओं की बातें हैं। कवि हिंदू-परिधि की संकुचित सीमा के बाहर मानववाद की बात करता है। ग्राम-जीवन अभी उसी दायरे में है। इस प्रकार वैषम्य और भी बढ़ा। देशभक्ति का मसला आम था। उसका प्रभाव भी अधिक था अतः उसकी गाड़ी चल निकली। प्रकृति को भी अपने विक्षोभ में रंगकर देखा जाने लगा।

समाज में ऊंच-नीच का भेद भयानक है। कवि है दरिद्र। हवा भी अब साहूकारिन हो गई क्योंकि ज़िंदगी की हर सांस का मोल चुकाना पड़ रहा है। कवि और कहे भी क्या ?

साहूकारिन हवा रोज़ देती है साँस उधार में
मेरी बड़ी फजीती है इस कंचन-पटे बज़ार में
आसमान मेरी माटी पर बेमतलब नाराज है
कोई नहीं बताता आखिर इन सबका क्या राज है,
पैरों में सौ-सौ मन की ज़ंजीर है,
और तुम्हारी नई - नई तकदीर है,
मेरे पास तुम्हारे गाने
लायक गीत नहीं हैं।
बो देता हूँ रोज़,
सितारे खा जाते हैं रात को
चाँद नहीं सोने देता है,
मीरा के आघात को
बूढ़े पतझर से मेरी
साँसों की भाँवर डाल दी
इससे ज्यादा और हँसी क्या
हो सकती कंगाल की !

—मुकुटबिहारी सरोज

कंचनपटे बज़ार में कवि से ज़्यादा फजीती हो भी किसकी सकती है। परमात्मा का भरोसा था, सो अपना कसूर क्या है। यह तो हमें बताया ही नहीं गया। लेकिन उधर से सुनवाई बंद हो गई है। इस जीवन और वैषम्य का रहस्य क्या है, क्यों यह दुःख दिए

जा रहे हैं, यह पता नहीं चलने पाता। सितारे भी दगा करने पर उतारू हैं। चांद सोने नहीं देता, क्योंकि जवानी तो हर हालत में जवानी है। और देह और मन का हाल यह है कि असमय में ही पतझर छा गया है। जिसकी जड़ों में पानी न पहुंचे, उसका और होगा भी क्या ! जो कुछ है एक गरीब की हंसी उड़ाई जा रही है। किसीमें भी सहानुभूति नहीं।

तब एक विश्वास और बोलता है :

चांदी के सांपों-सी बल खाई नदियों को
कल-कल, छल-छल के उस पार—
कि, देखो !
पर्वत की उस स्याह ऊँचाई पर से कोई झाँक रहा है,
उठ सकती किस हद तक ऊँची
इस धरती की कुचली मिट्टी,
लाल रंग से आसमान पर आँक रहा है।

—नवरत्न स्वर्णकार

आशा बहुत बड़ी है। दूर पर जहां परिश्रम का फल दिखाई दे रहा है, जहां अपने अरमान पहुंच रहे हैं, जिसे हम एक ऐसी ऊंचाई समझते हैं, जहां तक पहुंचना श्लाघ्य है, वहां तक कवि का विश्वास उठता है। इस धरती की कुचली मिट्टी कितनी ऊंचाई तक उठ सकती है। देख रहा है प्रकाश का प्रतीक कि मनुष्य की गति कहां तक हो सकती है। वह मनुष्य जो कि कुचला पड़ा है, उसका उत्थान कहां तक संभव है ! प्रायः ही माटी आज मानव और जीवन का प्रतीक है। कल तक इस माटी को भौतिक-भौतिक कहकर इसे तिरस्कृत किया जाता था, क्योंकि मनुष्य को आत्मा के रूप में देखा जाता था। आज कवि के दृष्टिकोण में यह बहुत बड़ा परिवर्तन आया है कि माटी को वह अत्यधिक महत्त्व दे रहा है। आत्मा क्या है ? माटी की ही चेतना है। उसे माटी से अलग करके कोई देखना नहीं चाहता। यदि शंकराचार्य होते तो न जाने कितना शोक करते। तुलसीदास होते तो इस बात पर सिर धुनते कि जो सरस्वती राम का जप करने को मिली वह माटीस्तोत्र गाते हुए नहीं थक रही है। आज के कवि को यह बहुत करके लग रहा है कि उसके अस्तित्व में महत्त्व हो या नहीं हो, परंतु उसका अपमान अवश्य हो रहा है। सारांश में मैं कहूं कि आज उसका अहंकार पुराने कवियों की अपेक्षा कहीं अधिक है क्योंकि वह सब-कुछ अपने लिए चाहता है, जबकि पुराना कवि मानता था कि यह सब अपना नहीं है, हम तो एक सराय में आकर बसे हुए मुसाफिर हैं। दूसरा कवि कहता है :

लहर सागर का नहीं शृंगार
उसकी विकलता है,

अनिल अंबर का नहीं खिलवार
उसकी विकलता है;
विविध रूपों में हुआ साकार,
रंगों से सुरंजित,
मृत्तिका का यह नहीं संसार
उसकी विकलता है।
गंध कलिका का नहीं उद्गार
उसकी विकलता है;
फूल मधुवन का नहीं गलहार
उसकी विकलता है;

×

भावनाओं का मधुर आधार
साँसों से विनिर्मित
गीत कवि-उर का नहीं उपहार
उसकी विकलता है।

—बच्चन

कवि को यह सृष्टि वेदना से भरी हुई लगती है। जिस प्रकार कवि का गीत एक व्याकुलता का परिणाम है, किंतु है वह सुन्दर, उसी प्रकार उसे चराचर में जो भी सुन्दरता दिखाई दे रही है उसे भी वह एक व्याकुलता समझता है। यहां गति के आयाम को भी समझ लेना आवश्यक है। गीत क्यों फूट निकलता है? संवेदना को दूसरे तक पहुंचाने के लिए और अहं के ऊपर पड़े बोझ को हटा देने के लिए, अपने विकास के लिए, किसी प्राप्ति तक पहुंचने के लिए, एक असंतोष को संतोष में बदलने के लिए, एक अतीन्द्रिय चेतना को घुटन में से निकालकर उसे मूर्तकल्याण की ओर पहुंचाने के लिए। मूलतः सुन्दर सत् और शिव की ओर बढ़ने के संघर्ष का वह प्रतीक है। कवि को लगता है कि सारी सृष्टि ही यह कर रही है। अकेला मानव ही ऐसा नहीं है, जोकि दुखी हो। सब ही किसी आलोक की ओर जा रहे है। जो कुछ वे हैं, उससे तृप्त नहीं है। प्रत्येक अपने संघर्ष में सौंदर्य को ही अभिव्यक्ति दे रहा है।

बच्चन एक मिठास देता है। बहुत गहरी बात कहते हुए भी वह सरलता को नहीं छोड़ता। अंदरूनी बात समझ में कम ही आए पर अधिकांश लोग उसके चमत्कार में ही सिर हिला डालें, ऐसे गीत हिंदी में उसके बाद नीरज ने ही लिखे हैं।

प्रकृति का सुरम्य-रूप देखते हुए कवि अपनी अवस्था को देखता है :

घिसे हुए पीतल-सी पांडुर
पूस मास की धूप सुहावन
स्तनपायी नीरोग गौर-छवि
शिशु के गालों-जैसी मनहर
पस मास की धूप सुहावन
फटी दरी पर बैठा है चिर रोगी बेटा
राशन के चावल से कंकड़
बीन रही पत्नी बेचारी
गर्भ-भार से अलस-शिथिल
है अंग-अंग,
मुंह पर उसके मटमैली आभा,
छप्पर पर बैठी है बिल्ली
किसके घर से जाने क्या कुछ खा आई है
चला-चलाकर जीभ स्वाद लेती होंठों का
सब कुछ है, कोयला नहीं है
कैसे काम चलेगा बोलो ?
चावल नहीं सिझा सकती है
रोटी नहीं सेंक सकती है
भाजी नहीं पका सकती है
नरम-नरम ऊनी लिबास-सी
पूस मास की धूप सुहावन।

—नागार्जुन

घिसे पीतल के रंग की-सी धूप। बहुत सुन्दर चित्र है। एक स्वस्थ बालक के गालों जैसी पूस की धूप। और फिर वह आता है घर की ओर। वहां कोयला नहीं है। बिना कोयले के रेल का इंजन नहीं चलता। नागार्जुन की कविता कैसे चले ? अग्नि ही नहीं है। पूस की धूप का कवि क्या करे ? प्रकृति की पहली मांग है पेट की भूख मिटाना। दूसरी मांगें बाद में आती हैं।

जीवन के दैनिक संघर्ष इतने कठोर हो गए है कि कवि घुटा जा रहा है। भूखे कवि को पड़ोस में कुछ चाट आई बिल्ली कितनी सुखी लग रही है कि वह बड़े ध्यान से उसको निहारकर उसका पूरा वर्णन करता है। जब यह समस्या नहीं रहेगी, तब अवश्य इस कविता का महत्त्व कम हो जाएगा, किंतु आज तो इसके तीखेपन में शक्ति है, यह बिलकुल ज्वलंत बात है। कवि की दृष्टि एक ओर नहीं, सब ही ओर होनी चाहिए। यहां

कवि प्रकृति के ही दो रूपों को दिखाने में लगा हुआ है।

प्रकृति स्वयं भी सुन्दर है। पीली-पीली सरसों देखकर कवि की कल्पना जाग उठती है। उसे लगता है, हरी पृथ्वी पर आकाशगंगा अपने तारों के साथ उतरकर चमक रही है :

सरसों फूली पीली - पीली
हरित धरा पर सुरगंगा-सी
तारावलि बिखरी चमकीली
दृश्य रम्य नैनों को भाया
सुखमा की थी अनुपम माया
चंचल मन उसने भरमाया
रूप अमर सरसों ने पाया
मानो देखी यौवन - काया
सत्यरूप में जीवन - छाया
उसी समय तरु-पल्लव टूटा
आँखें थीं फिर गीली-गीली
अंतर दृष्टि खोल री आली
लख ले सरसों सुखमावाली
तरु का रूठ गया वनमाली
लुप्त हुई इसकी हरियाली
खाली है अब जीवन - प्याली
ऋतु ने भी फिर दृष्टि फिराली
इस नश्वर यौवन के मद में
क्यों होती आली गर्वीली।

—कमला चौधरी

हरे आकाश को कवि-हृदय नीले श्यामल आकाश जैसा मानता है। उपमा में औद्भुत्य है। यहां जीवन की ओर विचारक दृष्टि है। उसे एक ओर सौंदर्य दीखता है तो दूसरी ओर विनाश का चलता हुआ क्रम जिससे उसका मन द्रवित हो जाता है। किंतु जब वह गहराई से देखता है तो उसे लगता है कि यौवन बहुत क्षणभंगुर है। वह तो यों ही चला जाता है। अतः यौवन का गर्व उसे व्यर्थ-सा दिखाई देता है।

एक विशेष बात यह है कि एक ही समय में हमें विषय-वैविध्य में भी एकात्म मिलता है, और एकात्म होते हुए भी दो बिलकुल अलग-अलग दृष्टिकोण भी दिखाई देते हैं। इसका कारण है विवेक पर निर्भरता ही। पहले समयों की भांति सब कुछ पहले से माना नहीं है। भक्त कवियों में चिंतन भी भाव था, और आज मान्यता और उसकी

आस्था दोनों के साथ-साथ चलने के कारण दो प्रतिष्ठापनाएं संग-संग चलती हैं, जिसका फल होता है विचार और भाव का साथ-साथ दिखाई पड़ना। कभी-कभी हम व्यापक में भी संकोच को देखते हैं :

प्रतीक्षा की बहुत जोहा बाट
जेठ बीता, हुई वर्षा नहीं,
नभ यों ही रहा खल्वाट !

×

आज होगी, सजनि, वर्षा, हो रहा विश्वास
हो रही है अवनि पुलकित ले रही निःश्वास
किन्तु अपने देश में तो
सुमुखि, वर्षा हुई होगी एक क्या कै बार
गा रहे होंगे मुदित हो लोग खूब मलार
भर गई होगी अरे वह वाग्मती की धार
उगे होंगे पोखरों में कुमुद, पद्म, मखान···

—नागार्जुन

आकाश का खल्वाट रूप अच्छी अभिव्यक्ति है। खल्वाट में दो भाव हैं। एक तो यह कि यहां से एक समृद्धि उजड़ चुकी है, और दूसरी यह है कि अब यहां कुछ जमेगा भी नहीं। खल्वाट में कुरूपता तो है, परंतु नीरसता भी है। कवि अब अपने देश की याद करता है। यहां वह संकुचित हो जाता है, क्योंकि देश और जन्मभूमि को मिलाना ठीक नहीं है, और फिर एक भूखण्ड की प्रशंसा निश्चय ही यह भी भाव जगाती है कि दूसरा भूखण्ड बुरा है। और कवि आकर वहां फंस गया है। इस कविता का रस वही ले सकता है, जिसके यहां वर्षा जल्दी हो जाती हो। सौभाग्य से अभी कवियों में यह होड़ नहीं चली है यद्यपि इसका सूत्रपात कुछ गर्वीले कर चुके हैं। इस आत्मप्रशंसा से हमारे व्यापक दृष्टिकोण को धक्का पहुंचता है, अतः यह श्लाघ्य नहीं है। वस्तुतः जो यहां सुंदर है, वह है कवि का वर्षा का वर्णन और वर्षा की अनुभूति से जन्म लेनेवाला उसका आनंद।

'एक क्या कै बार' में ताल-पोखर लबालब दीखते हैं और वर्षा ऋतु का सारा शृंगार सामने आ जाता है।

पुराना कवि सुंदर को ही अपनाता था। यद्यपि अब भी अधिक विविधता हमारे यहां नहीं आई है, फिर भी ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं।

'बबूल' एक ऐसी ही कविता है ! बबूल पर वसंत आया और वह हरा हो उठता है :

अरे अचानक
जो बबूल के रक्तहीन कंटक-नख सूखे थे
अब नये रुधिर के आए,
निज कोमलता में शरमाए।
और झेंपती हुई पत्तियाँ छोटी-छोटी
सूखी काली डालों पर गुपचुप आ बैठीं।
ज्यों मेहनत के धूल-भरे कर, काली टाँगें
त्यों सूखा खुरदरा तना, वे काली डालें
जिसकी इस वसन्त-श्री पर ही लज्जित।

सूखे जीवन में बहार आ गई। जो बबूल पहले नीति के दोहों में आता था और जिसे तुच्छ माना जाता था, उसके ही शरीर में अब यौवन भी संकोच लाया।

मेहनत के धूल-भरे हाथोंवाले श्रमिक बबूल पर जो स्फूर्ति आई तो अब :

एक अकूल कंप में डूबी शाखाएँ सुपने में हँसतीं।
पुलक-पुलक उठते हैं पीले फूलों के दल
रस के एक भँवर में घिर कर
आत्मविसर्जन व्याकुल प्रतिपल

—गजाननमाधव मुक्तिबोध

रस के भंवर में आत्मविसर्जन की अभिव्यक्ति दीपदान की परंपरा में से आती है। स्नेह से दीप बहती धारा पर छोड़े जाते है और वे कहीं डूब जाते हैं। शाखाएं सुपने में डूब गई हैं। बबूल यहां कितना आकर्षक लगता है। कवि की आंख की सुदरता ही वास्तव में इतने सौंदर्य का सृजन करती है। एक-एक कविता वास्तव में अपना महत्त्व रखती है।

कोई कवि महाकवि हो तभी उसकी रचनाओं का सांगोपांग अध्ययन हो, यह ठीक नहीं है। हमें तो उस सबको देखना चाहिए जो कि है, सुंदर है। इसी दृष्टि से यह हीरे हाथ में आ पाए हैं।

तो प्रकृति का यह मानवीकरण अपने ढंग का नया है क्योंकि इसमें अमूर्त को नहीं, एक मूर्त को ही उपमा में प्रस्तुत करके उसका साधर्म्य दिखाया गया है।

प्रकृति के बहुविध कार्य-व्यापारों में संध्या का भारत में बहुत प्रभाव पड़ता है क्योंकि वह शीतलता लाती है :

दो चिड़ियाँ हैं उड़ी जा रही सांध्य गगन में
अस्फुट स्वर से प्रकट कर रहीं जो स्फुट मन में

संग-संग बहु-रंग मधुर फल-दल-आस्वादन
वन-विहार पांखें पसार लघु भार पवन-तन
अव्याहत, निश्चित, शान्त अपनी दिनचर्या
किंवा आगामिनी यामिनी की प्रिय चर्चा
या कि वधिक के फंदे से बचने का कौशल
अथवा सोच-विचार रहीं—आने वाला कल
कौन कहे, मुंह खोल रही, क्या बोल रही हैं...
मानव-मन-सा होगा उनका भी चञ्चल चित ?

—जानकीवल्लभ शास्त्री

सहज जीवन का कितना कोमल वर्णन है। ये दो पक्षी भारतीय दर्शन में पहली बार उपनिषदों में आते हैं। एक मत से वे आत्मा के ही दो रूप हैं, दूसरे मत से वे आत्मा और परमात्मा हैं। किंतु जानकीवल्लभ के पक्षी कीट्स की एक जाड़े की ऋतु में पत्ते गिरे वृक्षों की याद दिलाते हैं। कीट्स ने कहा है—क्या इन वृक्षों को भी याद आती हैं अपनी पीड़ाएं ? वही भाव बोलता है कि क्या इनका मन भी मनुष्य जैसा चंचल होगा ? कवि अपने जीवन की चिंताएं देखकर पक्षियों के जीवन से तुलना करता है। उसे वे निश्चिंत लगते हैं। बहुत ही सूक्ष्म रूप से कवि जीवन के उद्देश्य के बारे में पूछ रहा है कि भविष्य क्या है ? क्या स्वाभाविक रूप से जीवित रहना ही काफी है, या मनुष्य के रूप में जो यह प्राणी अपने को इतना अधिक महत्त्व देता है, वही प्रमुख है ? क्या प्राणी-मात्र अपने को सुरक्षित रखने की चेष्टा में लगा हुआ नहीं है ? व्यापक है यह दृष्टि जो आगामी कल में भी यही समस्या रखेगी क्योंकि इन प्रश्नों को मनुष्य बहुत दिन से सोचता चला आ रहा है।

आनन्द और चिंता जीवन के दो रूप है। एक है अपने अस्तित्व का पूर्ण आनन्द अनुभव करना, दूसरा है उसे बनाए रखने का प्रयत्न। वस्तुतः यह प्रयत्न भी आनन्द की ही प्राप्ति का एक साधन है, एक प्रतिरूप है। प्रयत्न बिना जीवन नहीं है। सब बहे जा रहे हैं, किंतु अपनी इकाइयों में भी वे उतने ही तल्लीन हैं, जितने अपनी सामूहिकता में। एक कवि पूछता है :

बोल-बोल नभ मौन,
गुनहगार है कौन ?
जीनेवाला या जीने की चाह !
दीवाने मन ठीक नहीं है
कभी किसीको छलना
मृत्यु बहुत भखी है मेरे

प्राण सँभल कर चलना।
सोच-सोचकर जीने वालों
को होती हैरानी
मौत अकेली होकर कैसे
है सब पर दीवानी
पत्थर काट दिया, लेकिन खुद
बही न जल की धारा
डूब गया इंसान, किन्तु कब
डूबा भला किनारा।

—रमानाथ अवस्थी

कितनी हृदयग्राही व्यंजना है! कवि कितनी मधुरता से, वेदना और विवशता से पूछता है कि यह जीवित रहने की तृष्णा ही क्या वास्तव में अपराधिनी नहीं है? मौत अकेली है? नहीं, वह सबके लिए अलग-अलग रूप में विद्यमान है। बहुत ही आकर्षण है इन पंक्तियों में। एक अथाह धारा है। वह धारा भी सीमित है, मृत्यु भी सीमित है। ठीक वैसे आइन्स्टाइन ने कहा है कि विराट है यह पृथ्वी के चारों ओर का शून्य, परंतु विराट वह होते हुए भी, वस्तुतः सीमित ही है। मनुष्य की हस्ती ही क्या है? वह तो डूब जाता है किंतु यह मृत्यु जो काल के किनारों में बंधी हुई है, वह अभी तक चलती चली जा रही है। जीवन इतना दृढ़ है जैसे पत्थर। किंतु समय के तीरों में बंधी धारा सबको काट देती है। इसीलिए प्राण को संभालना चाहिये, क्योंकि मृत्यु बहुत भूखी है। यह ऐसा सत्य है जिसे न कहकर किसीको छलना उचित नहीं है।

क्योंकि मनुष्य अपने-आप में कुछ नहीं, उसमें जो एक जिजीविषा है, जो प्राणि-मात्र में है, वही असल में उसे इतना नाच नचा रही है। भक्तों ने इस प्रश्न को दुःख के रूप में ग्रहण किया था कि भवसागर में दुःख है, नया कवि दूसरे कोण से प्रश्न को देखता है। यह व्यक्तिरूप ही वेदना की कसक लिए समाजपक्ष में दूसरे रूप से आता है:

गीत का आकाश जिसमें भाव-चंदा खिलखिलाता
भावना की दूध-गंगा
कर्णकूलों को बना पावन विहँसती
ले करोड़ों के अपरिमित सौख्य का उन्माद!
स्वप्न के तारे छिटकते, स्वरों के सागर लहरते,
और जगते युग-युगान्तर के पड़े मानव नया उत्साह लेकर,
एक नूतन विश्व रचते!
और जलते शहीदों की याद के शुचि दीप

इतिहास के उन स्वर्णहर्म्यों पर विपुल !
उच्च वह प्रासाद यौवन का गुलाबी लिए स्वप्नोन्माद,
जिनकी जड़ें सिंचतीं मनुज-शिशु की विपुल शोणित राशि से !
बजता पियानो, प्रेम का फिर स्वांग होता,
और मेरी लेखनी की सूखती मसि
डुबोकर अपने कलेजे के लहू में मैं मनोहर गीत लिखता !

—अनंतकुमार पाषाण

अब सत्ता का प्रश्न इतना नहीं रहता, जितना यह भाव जागता है कि जीनेवाले जी क्यों नहीं पाते ? गीत के आकाश में भाव-चंदा हंसता है। वस्तुतः यहां प्रकृति नहीं है, किंतु यह प्रकृति का ही रम्य रूप सामने लाता है। सागर, नक्षत्र, स्वर्गगा, सब ही हमें मिल जाते हैं। इसे शैली के रूप में नया ही समझना चाहिए क्योंकि यहां उपमान ही प्रमुखता प्राप्त करता है, अन्यथा इसमें कोई विशेषता नहीं है। शहीदों की याद के दीप, शोणित और शोषण, प्रेम का स्वांग और लहू में डूबी कलम, यह सब बाद में तब ही अपना प्रभाव दिखा पाते हैं जब वह पहला चित्र हम आत्मसात् कर लेते हैं।

कविता में रंगीनी इतनी अधिक है कि वह आक्रोश नहीं जगाती, विस्मय जगाती है और इसलिए इसकी शैली के अनुरूप ही इसमें विषय का भी चमत्कार है।

समाजपक्ष का यह रूप प्रत्येक कवि में प्रायः मिल ही जाता है, क्योंकि यह तो युग का प्रभाव है। सीधे-सीधे जो कह देते हैं, उनमें ऐसा सौंदर्य नहीं आता, दूसरे प्रकार का मिलता है।

सौंदर्य ही मूलतः केन्द्र है। दर्शन, मनन और चितन, मूलतः उसीको लाकर प्रस्तुत करने की चेष्टा में लगे रहते हैं, कवि कहता है :

किसी अधखिली आँख की ज्योति पीकर
अरी डाल तेरा खिला फूल होगा।
किसी बूँद की ज़िंदगी सोचता हूँ
नदी की लहर में कभी मौन सोई
कभी हँस पड़ी, चाँदनी से गले मिल,
कभी बादलों का हृदय छेद रोई,
मगर अंत में बूंद, शृंगार तेरा
नदी की नियति पर बँधा कूल होगा।

जीवन का यह संघर्ष बताता है, कि जीवन ही से जीवन को प्रश्रय प्राप्त होता है और यह गुणात्मक परिवर्तन अपनी मात्रात्मकता के भेद से नए-नए रूप धारण करते

हैं, क्योंकि अंततोगत्वा सब ही निर्जीव से जीव के रूप में बदले हैं, उनमें एक तार अवश्य पिरोया हुआ है :

मगर देखता हूँ सुबह को अचानक
किरन की कला से कली खिल गई है
निरंतर बढ़ी जा रही उस नदी को
अमर राशि जल-सिंधु की मिल गई है,
इसी भाँति मैं सोचता हूँ किसी दिन
धरा वायु होगी, गगन धूल होगा—

—शिवबहादुर सिंह

सृजन के रूप परस्पर एक-दूसरे पर आश्रित हैं और उनकी सार्थकता उनकी गति में ही। एक के स्पर्श में दूसरे के जीवन का उद्देश्य दिखाई देता है। नदी की नियति पर बंधे हुए कूल के रूप में बूंद का शृंगार होना बहुत मनोहर कल्पना है।

कवि इस सृजन में भी विनाश को नहीं भूला है। यद्यपि यह निराशा है किंतु सत्य है। इस दृष्टि से हमें सर्वत्र निराशा को बुरा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि संहार एक सत्य है। भारत में तो संहारक को भी शिव माना गया है।

किंतु कवि का सबसे बड़ा कष्ट उसका अनुभूति-प्रवण होना है। जो सबको नहीं रुलाता, वह उसे व्याकुल कर देता है।

कल्पना आती दुपहरी में हमारे पास
और कहती—क्या तुझे दूँ स्वर्णराशि? विलास?

×

फिर न कहना, विश्व में मैं रह गया हतभाग्य
द्वार से शत बार मेरे लौटता सौभाग्य।
उठो मुझसे माँग लो इस जन्म की सब साध
आज मैं दूंगी तुझे सब शक्तियाँ निर्बाध।

×

कल्पने, मैं माँगता हूँ आज तुझसे मुक्ति

—दुर्गाप्रसाद

कल्पना ही मनुष्य को आशा देती है और उसमें ही जीवन की सब साध अपने को सफल समझती है। वास्तव में वही निर्बाध शक्ति भी देती है। व्यक्ति यदि अपने को अभागा कहे तो वह भूल है। जिसके पास कल्पना है, उसे सौभाग्य नहीं छोड़ता। परंतु उसमें एक रहस्य और भी है। वह है उसका वेदना-पक्ष और भावुकता के कारण वह हृदय को बहुत ही बोझिल बनाती है। काल, विश्व और सृष्टि के प्रति अपने उद्गार प्रकट

करते हुए अंगरेज़ी कवि शेली ने भी इस प्रकार का भाव व्यक्त किया है। पंत ने भी इसी को 'अश्रु से उपजा होगा गान' इत्यादि कहा है, यद्यपि वहां वेदना व्यक्तिगत लगती हुई भी लोक-पीड़ा की अनुभूति के रूप में ही आई है।

बहुत ही प्यार हो गया है जिससे, बहुत ही समीप है जो, उस कल्पना से कवि मुक्ति मांगता है। तो क्या वह सचमुच मुक्ति मांगता है? नहीं। वेदना की अति में वह इस प्रकार केवल कसक उठता है। कल्पना का रूप क्या है? वह है :

नीरव निशीथ, झुकता-सा नभ
उठती-सी वसुधा पुलक भरी
मैंने सीखी कवि - कला, अरे
उस पृथ्वी - स्वर्ग - स्वयंवर में
वह एक स्वप्न ! हा हंत !
आज कैसे वह स्मृति - आघात सहूँ
इस उमड़ी मधुऋतु में कोकिल
कैसे पतझड़ की बात कहूँ
मैं क्या गाऊँ, सामने देख
वह नियति व्यंग्य परिहास किए
हँसती है और कल्पना में
अपना अतीत - इतिहास लिए
यह मानव का मरघट काला
दिशि-विदिशि सिसकता दुख अथोर,
उड़ जा कोकिल ! उड़ रे किशोर !

—केसरी

स्मृति कल्पना का एक आधार-रूप है। स्मृति परस्पर संयोगजन्य प्रतिच्छाय है, जो एक-दूसरे पर पड़ती है। जिस प्रकार अणुओं का एक समूह जल बनकर अणुओं के दूसरे समूह आकाश और तीसरे समूह बादल तथा इसी प्रकार अन्य प्रकार के अणु-समूह वृक्ष-पादपादि का अपने भीतर प्रतिबिंबित करता है, तो वह केवल अपने गुण के कारण। वह अचेतन है। इसी प्रकार स्मृति मस्तिष्क में रहती है और वह अणु-समूह की भौतिक प्रक्रिया का ही एक चेतनस्वरूप—एक प्रतिच्छाया ग्रहण करने का माध्यम है। समस्त कल्पना का आधार वह स्मृति है, चाहे वह व्यक्तिगत हो, अथवा व्यक्तिगत न होकर सर्वात्म हो। मानव को यह कल्पना ही रुलाती है, क्योंकि उसे अपने अतीत के प्रति मोह हुआ करता है। एक न एक दिन मनुष्य जाता ही है। पृथ्वी और स्वर्ग के

स्वयंवर को देख कविकला सीखनेवाला हृदय आनंद की कचोट को नहीं सह सकता जो उद्दीपन बन जाती है।

कुछ कवि इसीको दूसरे रूप में लेते हैं। वे अब दुःख नहीं चाहते। उसे छोड़ नहीं पाए हैं, परंतु जानबूझकर उसे देखना नहीं चाहते।

एक प्रतिध्वनि
गूंजी दिशि-दिशि में उस क्षण :
रूठ मत मेरे प्यारे मन !
रही हैं अमित अवस्थाएँ
ढही हैं अगणित आस्थाएँ
गही हैं फिर नव संस्थाएँ
विश्व तो है ही परिवर्तन !
फटते चीर भूमि का उर
नई आस्था से ही अंकुर
देख फिर तू क्यों पीड़ातुर
बनेगा अंकुर शीघ्र सुमन !
रूठ मत मेरे प्यारे मन,
तुम्हीं हो इस निर्धन के धन !

—राजीव सक्सेना

बुद्धि और हृदय के संघर्ष का यह रूप एक ही प्रतिध्वनि से व्याकुल हो जाता है। तब मन कहीं और कर्तव्य कहीं और देखकर कवि अपने मन से कहता है कि मेरी बात मान। लेकिन परंपरा का पला मन है हठीला, तो कवि उसे समझाता है—तू रूठ मत। यह संसार ही ऐसा है कि इसमें परिवर्तन ही परिवर्तन है। सुमित्रानंदन पंत को परिवर्तन देखकर घंटों ऊहापोह हुआ था, परंतु इस कवि ने बड़ी ही सरलता से सोच लिया कि इस संसार में मनुष्य की अनेक अवस्थाएं रही हैं, अनेक आस्थाएं ढह चुकी हैं और फिर उनकी जगह नई-नई संस्थाओं ने ले ली है। पृथ्वी का हृदय चीरकर ही अंकुर निकलते हैं, ऐसे नई आस्था भी हृदय में से निकलती है। यह अंकुर जब पौधा बन जाएगा तो फिर इसका फूल निकलेगा। सब कुछ है लेकिन अंत में भी मन को फुसलाना पड़ता है। कवि कहता है कि हाय मुझ निर्धन के पास तेरे अतिरिक्त और है ही क्या ! जो तू भी रूठ गया तो मैं कहीं का नहीं रहूंगा। यह है प्रकृति का मनुष्य के कर्तव्य से संघर्ष, जिसमें अप्राकृतिक रूप से दमन होने पर यह कसक जन्म लेती है। प्रकृति अपनी सुकुमारता मनुष्य के भीतर भी रखती है, चाहे मनुष्य उसे स्वीकार नहीं करना चाहे। मनुष्य के दुःख से प्रकृति परिचालित नहीं होती। प्रकृति जीवन है, किंतु चेतन वह मनुष्य

की भांति नहीं। वेदना का जो स्वरूप मनुष्य देखता है, आवश्यक नहीं है कि प्रकृति में भी वैसा ही हो। 'रेणु' में कवि ने अपनी आकुलता को इतिहासों में सराबोर करके भी देखा है, किंतु इसका अंत उसका नया मार्ग नहीं, पीड़ा ही है। धूल भी तो अपना महत्त्व रखती है :

मनमानी किसी मंथरा की मैं दारुण एक कहानी हूँ
साकेत वासिनी रही कभी अब पंचवटी की रानी हूँ
जब गौरव-गिरि के सिर-किरीट बन हीरा-सी मैं जड़ी रही
अब किरणों के पथ अधरों की हमशीरा-सी मैं खड़ी रही
जब रत्नपीठिका शिव की त्रिभुवन की साधना - शिला थी मैं
उस समय अरी भोली जगती ! तू ले बेसुध-सी पड़ी रही !

×

रे वृद्ध विश्व ! रे जरठ जीठ ! कुछ तो बचपन की बात बता
मेरा कैसा था प्रात ! और यह कैसी भीषण रात हुई !

×

यह अंतिम प्रहर निशा का फिर मैं उषादीप नूरानी हूँ
क्षण अग्नि - परीक्षा ! फिर तो मैं साकेत - पुरी की रानी हूँ।

—केसरी

धूलि ! धूलि ही ! मनुष्य के इतिहास की साक्षी है ! वह प्राचीन है। मनुष्य की देवकल्पना से भी प्राचीन। किंतु वह भी अपने विषय में कितना जानती है ! उसका आदि कहां है ? कवि ने बहुत ही सशक्त कविता लिखी है, जैसे बहुत कम मिलेंगी। इस एक कविता में कितने उतार-चढ़ाव आकर समा गए हैं कि देखते ही बनता है। धूलि के कितने आवर्तन हैं जो अपने साथ स्मृति के कितने-कितने प्राकार धारण नहीं किए हुए हैं ! काल, सत्ता और मनुष्य की ममता, उसकी वासना, सबका ही यहां तादात्म्य हो गया है, क्योंकि कवि ने यहां उसे अपना बिंबधारी बनाया है, जिसका कि सारा ब्रह्माण्ड एक प्रसारमात्र है। मनुष्य के जीवन-मरण ने उसे हंसाया है, रुलाया है। उसीने अपने लोक के अतिरिक्त अनेक लोकों की उससे कल्पना करवाई है और अपने ही बनाए विश्वासों के रहस्य और रोमांस में मनुष्य ने विभिन्न रसों की अनुभूति पाई है। किंतु प्रकृति में उसने एक साहचर्य पाया है। सब कुछ के बीच में रहता हुआ भी जैसे वह उसके बिना कुछ भी नहीं है। वह प्रकृति को भी अपनी वेदना की सहचरी बना लेना चाहता है :

नन्हे-नन्हे भोले-भोले ओ अनबोले तारो, बोलो
मेरे सूखे सूनेपन में अपना मधुमय कलरव घोलो

चट-चट चटक रही हैं कलियाँ कुञ्ज-कुञ्ज में चुपके-चुपके
जाने कौन कह रहा है क्या अलि-गुञ्जन में छिपके-छुपके !
कुछ खुलकर कहने - सुनने को मेरा भी जी ललक रहा है
और अधर-पुलिनों को छूकर अमृत, हलाहल छलक रहा है,
इस नीरव निशीथ में, जगमग नभ की ज्योत्स्नामय छाया में
खोए - खोए - से हो जाते प्राण न जाने किस माया में
जो मेरा ही प्राप्य, उसे चाहूँ यदि, यदि तो पाप नहीं है
कहो, कहो हे देव, मुझे मिलता जो, वह अभिशाप नहीं है।

—जानकीवल्लभ शास्त्री

जब कोई पास नहीं रहता, तब भी मन तो चुप नहीं रहता। सच तो यह है कि अकेलेपन में ही बोलता है। मनुष्य किसी दूसरे से ही अपनी व्यथा बांटकर जीवित रहता है। इसीलिए, यह जानते हुए भी कि ये तारे नहीं बोलते, वह उनसे ही कहता है कि जब सबसे उसे निराशा मिली है तब वे ही उसके सूनेपन में कुछ आनंद दें। प्राण ऐसे में जाने क्यों खोए-खोए-से हो जाते है। प्रकृति में ऐसी शक्ति है। अपना प्राप्य भी आज मनुष्य को मिल नहीं रहा है। इसीलिए यह सारी व्यथा है।

और जब व्यक्ति देखता है कि वह अकेला है तो प्रकृति में भी अपने जैसे प्राणियों को देखता है, जो उसे समान वेदना का स्वरूप दिखाकर सांत्वना देते हैं। हारिल पक्षी जब उड़ता है तो पंजों में तिनका लिए रहता है, जैसे शून्य गगन में भी पृथ्वी को अपने पास रखता है। कवि यहां तादात्म्य पाता है और कहता है :

उड़ चल हारिल लिए हाथ में
यही अकेला ओछा तिनका—
ऊषा जाग उठी प्राची में
कैसी बाट, भरोसा किनका !

शक्ति रहे तेरे हाथों में
छुट न जाय यह चाल सृजन की
शक्ति रहे तेरे हाथों में
रुक न जाए यह गति जीवन की !
ऊपर - ऊपर - ऊपर - ऊपर
बढ़ा चीरता चल दिङ्मंडल
अनथक पंखों की चोटों से
नभ में एक मचा दे हलचल !

तिनका ? तेरे हाथों में है
अमर एक रचना का साधन—
तिनका ? तेरे पंजे में है
विधना के प्राणों का स्पंदन !

तू मिट्टी था, किंतु आज
मिट्टी को तूने बाँध लिया है
तू था सृष्टि, किंतु स्रष्टा का
गुर तूने पहचान लिया है !
तिनका पथ की धूल, स्वयं तू
है अनंत की पावन धूली—
किंतु आज तूने नभ-पथ में
क्षण में बद्ध अमरता छूली।

—अज्ञेय

किसीका भरोसा नहीं। अकेले चलना है। शक्ति अपने पास होनी चाहिए, बस किसी भी तरह इतना हो कि जीवन की गति न रुक जाए। ऊपर, और ऊपर उठना है। तिनका क्या है ? रचना का साधन है, वह विधना के प्राणों का स्पंदन है। यह व्यक्ति मिट्टी है, किंतु जब आकार प्राप्त हो जाता है तब वह मिट्टी का स्वामी बन जाता है। सृष्टि का अंग होकर भी, वह स्रष्टा बन जाता है, क्योंकि वह नया निर्माण करता है। अनंत की पवित्र धूलि है, और सारा खेल धूलि का है, किंतु जब व्यक्ति उठता है, तब अमरता को छू लेता है।

किंतु व्यक्ति के पीछे जो महाकाल लगा हुआ है, वह उसके साहस को चुनौती है। अमरता एक भूल ही-सी दीखती है उसे, क्योंकि उसकी विशालता भी अंततोगत्वा एक छोटी-सी सीमा है :

महा स्वप्न में कल्पना जागती है
निशा चुप, दिशा चुप, गगन चुप खड़ा है।
निशा जा रही है, उषा आ रही है
विपल, पल, कला को घड़ी खा रही है,
तिमिर चल रहा है ढके साँस मेरी
गगन पी रहा है हृदय की अँधेरी

×

महाकाल के प्राण केवल सजग हैं
नियम में बँधे ज्योति के चित्र खग हैं

प्रतिश्वास - निश्वास की सृष्टि केवल
गगन में सतत उड़ रहे प्राण केवल;
सुनाई मुझे दे रहा मूक चेतन—
समावृत पुलक में महाप्राण का स्वन,
अलक्षित, अबाधित, प्रतिक्षण, अचंचल
नए सृष्टि के प्राण युग ले, नया बल
नई चेतना में बदल सब रहा है!
नई सृष्टि के पृष्ठ में छप रहा है
क्रिया - विक्रिया में बदलता सभी को
महाकेन्द्र का बिंदु आनंद भी चुप
दिखाता, बदलता, चलाता, नियम में
सतत सृष्टि का सूत्र क्रम चुप खड़ा है—

—उदयशंकर भट्ट

जो कुछ है, महाप्राण है। वही सबके पीछे है। युग भी जब बदलता है, तब वह एक करवट भर होती है। यह जो बहुकृत्य-बहुकरणीय जीवन है, वह सब उसीके नियम में बंधा हुआ है। महाकेन्द्र का बिंदु है तो आनंद, किंतु वह चुप है। वह नियम से क्रम-सूत्र में सबको बांधकर चला रहा है। यहां व्यक्ति छोटा-सा लगता है, परंतु वह असल में बड़ा हो गया है, क्योंकि तब उसे अपने सामने सब खोया-सा लगता था, अब पाया-सा लगता है। जीवन कठोरता और संघर्ष से बढ़ता है :

कली निगाह में पली
हिली - डुली कपोल में
हृदय - प्रदेश में खुली
तुली हँसी की तोल में।
गरम - गरम हवा चली
अशान्त रेत से भरी
हरेक पाँखुरी जली
कली न जी सकी—मरी।
बबूल आप ही पला
हवा से वह न डर सका
कठोर ज़िंदगी चला
न जल सका—न मर सका।

—केदारनाथ अग्रवाल
हि २-१०

जैसे कली का जीवन कोमल होने के कारण शीघ्र ही समाप्त हो जाता है, परंतु वह सहज नहीं मरता तो दुःख उठाता है और स्वयं ही अपने बल पर जीवित रहता है, उसी प्रकार यह मनुष्य भी है। यद्यपि कवि ने यहां प्रच्छन्न ढंग से वर्ग-संघर्ष की मान्यता को बल दिया है कि उच्चवर्गीय कला संरक्षण में पलने के कारण अशक्त है, और लोक की विद्रोह-भरी आकांक्षा को जीवंत रखनेवाली कला सशक्त है, किंतु वह इसे इतना प्रकट नहीं करता, जितना इस सत्य को कि मनुष्य की धारणा को जीवित रहने के लिए संघर्ष करना ही आवश्यक है। क्या कवि कली का हलकापन दिखाकर उसकी अवहेलना करके सौंदर्य के एक मूर्त आधार को ही कम नहीं कर देगा, यदि हम मान लें कि वह अपनी संकुचित राजनीतिक भावना में ठीक है ? हमें यह नहीं देखना है कि कवि चाहता क्या है, हम तो यह देखते हैं कि कविता क्या कहती है !

व्यक्ति, समाज और सृष्टि के संघर्ष को हम यहां इस रूप में पाते हैं कि अपनी-अपनी सत्ता में सौंदर्य है। जीवन के अनेक रूप है। अब यह कि कौन-सा श्रेष्ठ है, यह कवि के अपने दृष्टिकोण पर निर्भर है। प्रकृति और मनुष्य का द्वन्द्व ही उसे इस जगह ले आया है, जहां अपने को जीवित रखने के लिए वह यदि असुन्दर में सुन्दरता देखता है, तो उपयोगितावाद के आधार पर सौंदर्य की शाश्वत भावना के प्रति भी संदेहास्पद हो उठता है। और सब कुछ होने पर भी वह अभी अपनी मंज़िल तक पहुंचा नहीं है :

फूल खिल-खिलकर सदा मुरझा रहे
आज विस्मृति में पड़े मधुमास है
झूम मस्ती में हवाएँ जो बहीं
आज वे ही बन गयी निश्वास हैं
आज यौवन की सभी अँगड़ाइयाँ
हो रही अपनी व्यथा में चूर हैं,
आ गई मंज़िल मगर वे दूर हैं।

—कुलदीप

मनुष्य की अपनी भावना ही सबको प्रतिबिंबित करती है। हास है तो सब हंस रहा है; दुःख है, तो सब ही रो रहा है। प्रिय या प्रिया के रूप के आधार पर ही सही, परंतु जो कुछ उसका प्राप्तव्य है, वह अभी उसे मिल नहीं पाया है। अपनी विवशता की कुरूपता यदि मनुष्य प्रकृति पर लाद देगा तो क्या पाएगा वह ? क्या इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि मनुष्य ही कुरूप नहीं बनता, प्रकृति में भी कुरूपता होती है, तो क्या यह भी एक अर्द्ध सत्य नहीं है ? सौंदर्य अपने-आप में नहीं, दो संसर्गों के क्षण के ही परिणाम में जन्म लेता है। आज के मनुष्य को अपनी विकृत दृष्टि को छोड़ना ही पड़ेगा और यह याद रखना पड़ेगा कि उपनिषदों के कवियों ने जब साम गान सुनना प्रारंभ

किया था तब सूर्योदय से सूर्यास्त, मेघोत्थान से मेघ-वर्षण, बल्कि सृष्टि के समस्त रूपों में एक ही संगीत सुना था। क्या इस हाहाकार को हम उसकी तुलना में उदात्त कह सकते हैं? अवश्य ही इसमें एक बात है कि संतकालीन उपेक्षा नहीं है। एक कवि ने बहुत ही सुन्दरता से इस संघर्ष के प्रति कहा है :

मिट्टी से व्यर्थ लड़ाई है।
नीचे रहती है पांवों के
सिर चढ़ती राजा-रावों के
अंबर को भी ढँक लेने की
यह आज शपथ कर आई है।
सौ बार हटाई जाती है
फिर आ अधिकार जमाती है,
हा हंत, विजय यह पाती है,

×

सबको मिट्टीमय कर देगी
सबको निज में लय कर लेगी,
लो अमर पंक्तियों पर मेरी
यह निष्प्रयास चढ़ आई है।
मिट्टी से व्यर्थ लड़ाई है।

—बच्चन

मिट्टी से कोई जीत नहीं सकता। यह उत्थान, पतन और परिवर्तन इसी धरती के खेल हैं। हम मनुष्य भी इसीके अन्तर्गत हैं। अतः अपना अभिमान, कौशल, सब हम इसी के भीतर ही पाते है और छोड़ जाते हैं। यहां कवि को दुःख नहीं। उसने एक बहुत बड़ा सत्य इतने पास से अनुभव कर लिया है।

सारांशतः हम कह सकते हैं कि नये कवि को प्रकृति के प्रति एक नहीं अनेक प्रकार के दृष्टिकोण हैं। उसके आधार भी नये हैं। कहीं उसमें आक्रोश है, तो कहीं समर्पण भी। परंतु वह सर्वत्र मूलभूत रूप से मनुष्य का ममता-भरा हृदय लिये हुए है। उसकी कसक उसकी वेदना के कारण है, जो उसे अनेक-अनेक प्रकार की अनुभूतियां देती है। और हम परिणाम में यही कह सकते हैं कि नया कवि प्रकृति से और अधिक तादात्म्य चाहता है, परन्तु वह उसका रूप निश्चित नहीं कर पा सका है। वह एक नया पथ चाहता है।

प्रकृत धर्म और दर्शन

किधर जाऊँ ?

पूछता है मनुष्य ।

प्रकृति से संघर्ष करता हूं कि मैं छोटा ब्रह्मा हूं, तो क्या इसमें अभौतिकता देखूँ ? या एक-एक करके इसके रूपों को जानता चला जाऊं ?

और फिर पूछता है उसका विवेक :

मनुष्य ! तेरा रहस्य खोलना ही क्या प्रकृति की सार्थकता है ? जब तू इस पृथ्वी पर नहीं था, तब इसकी क्या सार्थकता थी ? और तू नहीं रहेगा तब क्या होगी ?

यहूदी, ईसाई और इस्लामी तथा ऐसे मतों ने सृष्टि का क्रम मानकर भी उसके अंत तक की ही कल्पना की है, इसीलिए वे कब्र बनाकर अंत की प्रतीक्षा करने की भावना मानते हैं। परंतु हिंदू मानता है निरंतर्य, एक चक्र। बहुत दिन की प्रतीक्षा वह नहीं मानता, हाथ के हाथ सबका कार्य-कारण देखता रहा है वह । मनुष्य को उसने सृष्टि के अंतर्गत अन्यमतों की अपेक्षा अधिक माना है । इसलिए यह विचार भारतीय चिंतन में पहले नहीं मिलता । वहां तो विराट सृष्टि और विराट ध्वंस मिलते हैं । प्रलय अंतिम नाश है, परंतु उसके बाद भी एक सृष्टि है । नये कवि में यह परंपरा से उतर आई भावना तो अब भी है, परन्तु उसका 'आज' इतना बड़ा है और वह उसे इतना ही महत्त्व देने को विवश है कि 'नई' आस्था अभी तक वह पूर्णरूपेण खोजकर निकाल नहीं सका है ।

समाज, स्त्री-पुरुष-संबंध, अब हमें प्रकृति के व्यापक क्षेत्र में मिलते हैं, क्योंकि यौन संबंध मूलतः प्रकृति के अन्तर्गत ही आना चाहिए । यहां हम इसकी विवेचन करते हैं । नया कवि कहता है :

है आज प्रलय का आवाहन
बज-बज उठती है रणभेरी
तुम मुख मलीनकर बार-बार
अब व्यर्थ लगाओ मत देरी
दो विदा, न यों अकुलाओ प्रिय,
भर-भरकर आंखों में पानी

मेरा पथ मत रोको रानी !
तुम भी रणचंडी बन जाओ
मैं क्रांति-कुमारी का अनुचर
हो ध्वंस-प्रलय का राग प्रबल
दो मन्त्र फूंक ऐसे सत्वर
इतिहासों के भी पन्नों में
हो जाए अगर यह कुरबानी
मेरा पथ मत रोको रानी।

—शिवमंगल सिंह 'सुमन'

संग्राम-वेला है। अतः अब वीर वेश धारण करो मेरी प्रिये ! बलिदान क्षण में स्वार्थ की रागिणी मत गाओ। परन्तु जब नया कवि स्त्री को इस रूप में देखत है तब क्या वह यह कहना चाहता है कि स्त्री ही बंधन है ? तब तो वह प्रकृति के एव सहज सत्य को ठुकराना चाहता है। इस दृष्टि में और ब्रह्मचारियों के उस स्त्री-वर्जन मे भेद ही क्या है, जोकि हम मध्यकाल से सुनते आ रहे हैं ? परन्तु यदि यह उसकी अपनी प्रिया की अपनी बात है। तब हमें इसमें रस मिलता है। महाभारत में विदुला ने अपने पुत्र को युद्ध के लिए उकसाया था। कवि भी उकसा रहा है।

स्त्री के प्रति नये कवि का दृष्टिकोण अभी तक उसे पुरुष की दृष्टि से देखता है। यह सहज ही है, और 'मानवी' के रूप में उसे स्वीकार करने पर भी वह उसे अलग तो देखता ही रहेगा। स्त्री भी स्वतंत्र होने पर जब बोलने लगेगी तब वह क्या कम बोलेगी ?

पुराने कवि से उसमें भेद है कि वह लोक-जीवन की ओर प्रवृत्त होता हुआ मिलता है। नायिका-भेद के पारखी इस रूप को किस वर्ग के अन्तर्गत रखेंगे यह प्रश्न अवश्य विचारणीय है :

लहँगा समेटे गाँठ तक
पहने गिलट के गुड़हरे
खुरपी लिये, खँचिया लिये
अनुराग अंचल में भरे
छूकर कृषक सुकुमारियों को
विधुर विस्मित वात था
कैसा मधुर सुप्रभात था।
मिर्चा, पनेथी और डेली
ले नमक की साथ में
हल एक कंधे पर धरे

हँसिया लिए निज हाथ में
किस ओर जाएगा पथिक,
यह तो अभी अज्ञात था !
बासी लिए रोटी बड़ा
भाई वहीं जब था खड़ा
छोटा उठा मुँह टोकरी से
दूध कहकर रो पड़ा
मैं कँप उठा था और टपका
एक पीला पात था !

—शिवमंगल सिंह 'सुमन'

कालिदास का मेघ भी सुंदरियों से खेलता था। उन्हें डराता था, उनके कटाक्षों से जीवन सफल करता था। वह भी पसीने से भीगी मालिनों और किसानों की वधुओं को आराम देता था। सुमन का प्रभात भी किसान-कन्याओं को छूनेवाले वात के कारण सुन्दर हो गया है। किन्तु उसका ध्यान किसी प्रिया के पास संदेसा पहुंचाने में नहीं है। उसे मनुष्य की भूख सता रही है और इसलिए प्रभात को वह नहीं देख पाता। यद्यपि वह बहुत सुन्दर था। उसकी दृष्टि फिर भी प्रतीक रूप पीले पात की ओर जाती है, जो जराजीर्ण था। वह मृत होकर गिरा या करुणा का अश्रु बनकर, दोनों ही अवस्थाओं में वह अपना समान प्रभाव छोड़ गया।

स्त्री और वह भी जो कृत्रिमता से दूर कवि का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती है, क्योंकि वहां उसे सहज जीवन की झांकी मिलती है :

खड़ी खेत में मुसकाती है किसी भील की रानी !
इसकी बाँहें नहीं कमल की नाल सरीखी कोमल,
इसकी बाहें पुष्ट नीम की शाखाओं-सी श्यामल !
कनक कटोरे नागरिकाओं को ही रहें मुबारक
विंध्या के शिखरों-सा उन्नत है इसका वक्षस्थल !
इसकी आँखें भीत मृगी-सी नहीं विकल या चंचल
इसकी आँखों में संध्या के धीर, साँवले बादल !
इसकी चितवन में हैं तीखे तीर न तेज कटार
एक ज्योति है, छू लेती है जो प्राणों के तार !
हंसगामिनी या गजगामिनि इसे नहीं कह सकते,
इसकी गति जंगल के झरने-सी अल्हड़ मस्तानी

—रामकुमार चतुर्वेदी

नायिका-भेद की सुकुमारता को कवि पुड़िया में बांधकर फेक देता है। उसे नागरिकाओं के कनककटोरे नहीं भाते, विंध्या के शिखर पसंद आते है। यह तो खैर पुरु की वही मनोवृत्ति है जिसमें पुरुष ही सौंदर्य का मूल्यांकन करनेवाला बनता है, किन्त सत्य यह भी है कि स्त्री के पक्ष ने सौंदर्य के क्षेत्र में पुरुष की दृष्टि के फलस्वरूप या नारं की प्रदर्शन-प्रियता के फलस्वरूप, या अपने प्राकृतिक महत्त्व के फलस्वरूप अपना स्थान बना ही लिया है। वह उसे पुराने शृंगार से अलग करके देखता है, और उसके मानवं रूप को आगे लाकर देखने की चेष्टा करता है जिससे उसे उसकी शक्ति का अनुभव हो वह जानता है कि :

अखबारों में इस रानी के चित्र न छप पाएँगे,
इतिहासों के पृष्ठ न इसका लेखा बतलाएँगे,
यह मुमताज इसी जंगल में घुटकर रह जाएगी,
ताज महल की जगह खेत की मिट्टी रह जाएगी !
चिंताओं से मुक्त खड़ी वह आज आम के नीचे,
वहीं बौर-सी झर जाएगी एक दिवस अनजानी।

—रामकृष्ण चतुर्वेदी

यहां कवि अपने-आप ही अपना विरोध करने लगता है। क्या चाहता है वह ? अखबार में चित्र छपना, इतिहास में नाम आना और ऐसे यश को क्षण-भर पूर्व वह कृत्रिम कहता था। शायद उसका ध्येय यह कहना है कि असल में ऐसी श्रमजीवी स्त्री को समाज में महत्ता अधिक मिलनी चाहिए जो मिल नहीं पाती। किंतु अखबार में नाम न छपने से कवि शायद घुटकर मरे, भीलनी को यह अभाव नहीं कचोट सकता क्योंकि वह तो आम के नीचे चिंताओं से मुक्त खड़ी है। बौर-सी अंत में अनजानी-सी झरकर वह यद्यपि करुण जगाती है किंतु शाश्वत जीवन का सत्य होने के कारण यहां केवल कोमलता जागती है बहुत सुन्दर का वर्णन करके अन्त में यह कहना कि यह सुंदरता मर जाएगी खटक तो जाती ही है। इसमें सुन्दरता के आकर्षण से मंथित हृदय मिलता है। एक दार्शनिक की दृष्टि अधिक मिलती है।

'कृषक बालिका' के वर्णन में कवि ने ग्राम का पूरा चित्र ही जगा दिया है। सहजने का पेड़ फूल उठा। एकदम हमें प्रकृति रमणीय-सी दिखाई देती है और हमें आशाप्रद लक्षण भी दीखते हैं, जिनमें नये उत्साह का संचरण है :

पेड़ फूला सहजने का
पत्तियों-फूलों में लग गई होड़
बढ़ गए फूल, अब फलियाँ आएँगी,
वायु का ठंडा झोंका शिशिर का दूत

जमुना के उस पार लहलहाते हरे खेत
उठता है एक स्वर···

×

पानी देती-देती, निराती-निराती
थक गई होगी वह कृषक बाला : ग्राम युवती
जिसके क्वारेपन में शरमाता-मुस्काता होगा
यौवन-धन, जाड़ों की नरम-गरम धूप
क्षण-भर बिलमा होगा उसका मन
कल्पना-निभृत निकुंज में
छट चले हैं ये स्वर के मधु-दूत लालसा की ऊष्मा ले
प्यार की मदिर सुरभि ले,
प्रतीक्षा की अकुलाहट का सन्देशा मुझे दे रहे
जाओ ठण्डे पवन झकोरे दूर मुझे परवाह नहीं है आज तुम्हारी
मत सहलाओ मेरा माथा तप्त
नहीं चाहिए मुझे सहजने, तेरे ये सब फूल—
दिखावट : सुरभिरहित,
मैं खिचता जाता हूँ जमुना के पार, उस पार
लहलहाते खेतों के बीच जहाँ से स्वर उठते हैं

—शत्रुघ्नदत्त दबे

किंतु पहला चित्र टूटते ही कवि कुछ व्याकुल-सा हो जाता है। कृषक बाला : ग्राम युवती की थकान, उसका यौवन, धूप, जाड़े की नरम-गरम धूप, क्षण-भर विलमता उसका मन···और फिर वह देखता है कि उसका माथा तप्त हो उठा है। सहजने के फूलों में सुरभि क्यों नहीं है, यह सवाल सामने आ खड़ा होता है। वे सफेद फूलों के झौंर अब उसे अच्छे नही लगते।

लोक-जीवन भी कवि के मानस की अवस्था के अनुकूल ही अपना स्थान काव्य में प्राप्त कर पाता है। तो ये नये चित्र वस्तुतः पथ का अन्वेषण ही हैं। अपने-आप में जो चित्र पूर्ण है, वे अपने आकर्षण के कारण ही। अधिक सुषमा है उन कविताओं में, स्वानुभूति ने बाह्य चित्रण को हटा दिया है। 'ग्रामवधू की बिदा' में कवि एक संपूर्ण चित्र खींचता है। यह सारे चित्र मध्यवर्गीय जीवन के चिपचिपे ढोंग से बाहर जाने के प्रयत्नों को प्रस्तुत करते हैं। बिदा की घड़ी अब आ गई है और वधू जा रही है :

बिदा की घड़ी है कि ढप ढप ढपाढप
बहे जा रहे ढोल के स्वर पवन में

वधू भी जतन से सजाई हुई-सी
लजाई हुई-सी पराई हुई-सी
खड़ी है सदन में
कि घूँघट छिपाए हुए चाँद को है
न जग देख पाता,
मगर लाज ऐसी कि पट-ओट में भी पलक उठ न पाते;
हृदय में जिसे कल्पना ने बसाया
नयन देखना चाहते हैं उसीको,
मगर जो सदा भृंग-सी डोलती थी कि पट-ओट में भी
लजाकर वही दृष्टि भू पर गड़ी है बिदा की घड़ी है।
सभी गाँव की भीड़ की भीड़ आकर जुड़ी है
रुँधे कंठ मंगल-भरे गीत गाते
धड़कते हृदय धीर धीरज बँधाते
कि गृह-काज के खुरदुरे-से नरम हाथ
ढक ढक ढपक ढक्क ढोलक बजाते
सहेली सखी घेरकर बैठ जातीं
कभी हैं हँसाती, कभी हैं रुलाती,
निकट खींच चाची, बुआ, भाभियाँ अंक में भींच लेतीं,
नए रीति-व्यौहार की तौज-त्यौहार की सीख देतीं
वयोवृद्ध ममता लुटी जा रही है न कुछ बोल पाती—

—राजनारायण बिसारिया

लोक-जीवन के ये चित्र सहज स्नेह को अधिक जीवित रखते हैं, क्योंकि इनमें कचोट कम है। अपने बहुरूप चित्रण में ये चित्र जैसी कविताएं हमें कुछ आकर्षित अवश्य करती हैं। इनमें नयापन है।

किंतु आज के ये नये प्रयोग हैं उसी पथ की खोज के परिणाम, क्योंकि बार-बार कवि अपने को नये प्रभात के सामने खड़ा हुआ पाता है। वह जैसे और रुकना नहीं चाहता। प्रकृति के ही रूपों में वह आह्वान को भी देखता है। मानो नाव तभी चलती है, जब तूफान उसे बुलाता है। दुर्दम पौरुष ही इस वीरता का आधार है। नया पथ बनाने चलता है कवि, लहरों पर भी नहीं रुकना चाहता :

कि जब तूफान आया है
हिलोरों ने बुलाया है,

तुम्हारी नाव क्या तट से बंधी रह जाएगी
लहर को काटकर अपना निराला पथ बनाने को
नये संघर्ष में संजीदगी से डूब जाने को
बड़े विश्वास से पतवार को हमने चलाया है
तुम्हारी नाव क्या मझधार से घबराएगी।
नई आशा नई हिम्मत नये संसार वाले हम
नहीं जिसको सुना तुमने वही हुंकार वाले हम
हमारी दृष्टि में निर्भीक साहस ही समाया है
तुम्हारी आँख क्या नीचे झुकी रह जाएगी ?

—वीरेन्द्र मिश्र

वह नये संसार का रहनेवाला है। उसमें नवीन साहस है। जैसे बालक को सब कुछ नया-नया-सा लगता है, नये कवि को भी वैसी ही अनुभूति होती है। यह जाति के जागरण का चिह्न है। पुरानी जाति से यह दृष्टि प्रायः ओझल-सी हो जाती है। तो यह है नया साहस। प्रकृति आह्वान की भी उतनी ही सहारा है, जितनी वह पलायन की।

कवि-हृदय इतने में ही सीमित नहीं है। वह अपने चारों ओर की सृष्टि को भी नवीन स्फुरण से भरा हुआ देखना चाहता है :

नई गति दो पवन को और
सागर को नया-सा ज्वार दो
वही सपना धरा को दो
जमाने का नया जो द्वार हो !
समय की बाँसुरी सोई
नये स्वर की नयी झनकार दो !
नई पीढ़ी ! न सोओ लोरियों में
यह सबेरा है नया
हँसा वह भोर का सूरज
अँधेरे का समन्दर पी गया।
अँधेरे में डुबा देते हमारी
नींद के झोंके हमें
खुमारी में न पी लेगा
भला निर्माण को विध्वंस क्या?
सुनहरी जगमगाती पूर्व की
रेखा किरण के जाल में

गगन के छोर बाँधे हैं
विहङ्गम ने परों के पाल में
सजाकर ओस के कन
मुस्कराए दूब के अंकुर नए
अथक गति से बहे निर्झर
प्रलय की लय समेटे चाल में

—कुमारी रमासिंह

नया सबेरा आ गया है। नयी पीढ़ी जाग रही है। पुरानों से कहने से लाभ ही क्या है, क्योंकि वह तो जर्जर है और अब वह अपने को बदलेगी भी क्या ? सूर्य है कि अगस्त्य ऋषि ! आया और अंधकार के समुद्र को पी गया ! प्रभात का यह वर्णन सचमुच सुन्दर है। गगन के छोर विहंगम ने परों के पाल में बांध दिए हैं। सुन्दर है यह कल्पना। ऐसी है यह नयी महागति। इसने प्रलय की लय को चाल में समेट लिया है।

आनंद के आवेश में कवि को सब कुछ सुन्दर-सा लगने लगता है। नीरज के सशक्त वर्णन में ओज बहुत मिलता है। वह वर्षा-वर्णन करता है :

लो वह आई पुरवाई, छाई वह बहार,
वह चमकी बिजली, वह मोरों ने किया शोर,
वे लगे झूमने खेत, थिरकने लगे बाग,
वह कली जी गई, गली हो गई वह विभोर,
वह गाने लगी आम की डाल-डाल झूला
वह लाल लजा हो गई कुमारी कोयलिया,
वह नची बैल की घण्टी, वह छमकी पायल
वह मस्त बजाने लगा मुरलिया साँवलिया।
बौछार पड़ी वह, भींग गई वह नई बहू,
वह बादल गरजा, वह साजन ने गही बाँह,
वे जुगनू चमके, किलक उठे वे ग्वाल-बाल,
वह कजली बोली, वह बिरहा कर उठा 'आह'।
रे बाँध सका है कौन समय के सावन को
वह एक साथ लाखों स्वर में लहराता है
जो उसे क़ैद करता है, बादल के समान
मिट्टी पर गिरकर खुद मिट्टी हो जाता है।

—नीरज

पुरवाई आई और बहार छा गई। कवि के शब्दों में ऐसी मार्मिकता है कि सिह-

रन-सी छा जाती है। गति इतनी है कि ध्वनि निकलने लगती है जैसे कालिदास के मेघ-दूत में शब्द, कहीं-कहीं क्या, प्रायः ही ध्वनि गुंजाने लगते है। नीरज की विशेषता है उसकी भाषा की सरलता। समय के सावन की कल्पना भी नयी है। यहां कवि मेघ और क्रांति को मिला देता है, किंतु यहां वह विरोध भी उत्पन्न करता है। बांधनेवाला भी गिरकर माटी हो जाता है, और बादल भी। प्रतिक्रिया और क्रान्ति का एक-सा अंत ठीक नहीं जंचता। किंतु कविता में यह भावना उतनी ग्राह्य नहीं है, जितना है उसका सजीव चित्रण, कवि के अपने सत्य में और काव्य के सत्य में भेद है। काव्य का सत्य इसीलिए सुन्दर बन पड़ा है कि उसमें जीवन का बिंब सुंदर रूप से उतर आया है। प्रकृति के दुर्दम रूप को भी जीत लेना आज मानव की आकांक्षा हो गई है :

प्रलय में, तिमिर में, न तूफ़ान में भी
कदम ये रुके हैं न रुक पायेंगे ही।
न मैं चाहता मुक्ति को प्राप्त करना,
न मैं चाहता व्यक्ति का रूप धरना,
सभी विश्व मेरा, सभी प्राण मेरे
चलूँगा सभी विश्व को साथ घेरे,
सभी स्वप्न हैं देखते एक मंज़िल
सभी जागरण में निहित एक ही दिल
भटकते हुए भी उधर ही चलेंगे
अटकते हुए भी उधर ही चलेंगे
जहाँ फूल-सा विश्व खिलता रहेगा
लहर पर जहाँ शशि मचलता रहेगा
जहाँ एक ही जाति होगी धरा पर
जहाँ एक नर पाँति होगी धरा पर
जहाँ संघ में प्राण अनुरक्ति होगी
वहाँ प्रेम होगा—वहीं शक्ति होगी,
वहाँ स्वर्ग होगा मनुज के हृदय में
किसी दिन कभी तो पहुँच जाएँगे ही।

—उदयशंकर भट्ट

प्रलय, तिमिर, तूफान, इनमें न मनुष्य के पग बंधे हैं, न रुकेंगे ही। प्राचीन और मध्यकालीन कवियों ने भी इस सत्य को और प्रकार के शब्दों में अभिव्यक्ति दी है। किंतु इतना व्यापक रूप हमें कम मिलता है। सकल संसार की शांति की कामना तो बहुत प्राचीन कवियों ने भी की है। नया कवि सर्वत्र जागरण की प्यास देख रहा है। वह ऐसा

संसार चाहता है जो फूल-सा खिला हुआ हो। अब वह मनुष्य-मात्र को समानता के क्रोड में ले आना चाहता है। वह मनुज के हृदय में स्वर्ग चाहता है।

इस प्रकार आज प्रकृति-वर्णन में एक क्षेत्र बढ़ गया है कि वह सुदर को अपने भीतर मिलाना चाहता है। उद्‌बोधन के ऐसे रूप पहले हमें नहीं मिलते। प्रभात उमंग देता है। पावन तो वह पहले भी था, आनंददायक था, किंतु सृजन का ऐसा प्रतिरूप संभवतः इतना नहीं था, जितना वह अब हो गया है :

नई उमंग जाग री, नया विहान आ गया !
पवन हृदय - हिलोर-सा नवीन गीत गा गया।
नवीन रीतियाँ चलें, रिवाज हों नये - नये,
नये प्रशस्त लक्ष्य के समाज हों नये - नये !
विकल अधीर विश्व को नवीन शक्तियाँ मिलें !
तिमिर प्रसार लुप्त हो कि रूप-रश्मियाँ खिलें !
सुवर्ण राशियाँ लिए
नया दिनेश छा गया !

—शान्ति सिंहल

प्रकृति के विषय में जैसे संत कवि बीच-बीच में नीतिपरक उपदेश संजोते चलते थे, नया कवि नये समाज शास्त्र की बारहखड़ी को जोड़ता चलता है। वाल्मीकि रामायण में भी श्री रामचन्द्र के आदर्श राज्य में होनेवाले सुखों की परिकल्पना की गई। तुलसीदास ने भी अपना यूटोपिया अलग ही रचा है। नयी कविता में अंधकार और प्रकाश, दो रूपों के द्वन्द्व हैं। वे हैं जड़ता-चेतना, या कुरीति-सुधार, प्रतिक्रिया-क्रांति; और ऐसे ही अनेक प्रतीकों में प्रकृति के रूप हमारे सामने आते है।

यह एक गति-गीत है। गति-गीत में सदैव ओज रहता है और एक विशेष कथ्य भी। ऐसी कविताएं लिखी गई हैं और इनका अपना ही एक महत्त्व है। विशेषकर इसलिए कि पुराने साहित्य में इनका नितांत अभाव-सा मिलता है। गीतात्मकता इनकी एक और विशेषता होती है, जो सामूहिक रूप से काम में लाई जा सके। दुर्भाग्य से ऐसे गीत जनता में नहीं उतर पाते, क्योंकि भाषा प्रायः ही जनता की समझ में नहीं आ पाती। अब यह विवाद कि जनता का स्तर उठे, या भाषा और सरल हो, बहुत ही विवादास्पद है, अतः हम इसपर इस समय कुछ नहीं कहेंगे। घुटन भी इसी तरह काव्य में स्पष्ट दीखती है :

हर दिशा में आज छाई साँझ है गहरी
उदासी से मटीले हो रहे इंसान के चेहरे।
झुके मस्तक, निगाहों से बरसती बेबसी;

खामोश पथ पर सभ्यता, संस्कृति पुनीत—
आदर्श का बोझा उठाए जा रही दुनिया !

×

वही सुपना रहा है छल कि 'हम ऐश्वर्यशाली पूर्वजों के पुत्र
जिनकी कीर्ति थी अनुपम, हजारों दास-दासी
मेघचुम्बी भवन उन्नत, हाथी, अश्व, सुन्दर रथ,
रुपहले छत्र, सुनहरी झालरों से युक्त !'
वही सुपना रहा है छल कि 'हम औलाद हैं'
उन शहंशाहों की, नवाबों की
कि जिनके महल आलीशान; बरसता था विभव जिनमें
हरम में बेगमातों, लौंडियों से औ' गुलामों से
चुहल रहती सुबह से शाम, झमकते घुंघरुओं की छुम
अदा अंदाज, नखरे नाज, नाजुक हाथ
साक़ी की कँटीली तीर-सी नजरें, ललकते लब
और वे मय के छलकते जाम ।

—देवेन्द्रनारायण वर्मा

तो यह बहुत स्पष्ट है कि अब प्रकृति चित्रण में मनुष्य और उसका समाज प्रमुख स्थान ले चुका है। प्रकृति के वर्णन से कब कवि हमें कहां लाकर ठहरा देगा, हम इसके बीच में कोई रेखा नहीं खींच सकते। वह क्या अनुभव करता है, वही उसकी विशेषता है। तो यहां हम यह कह सकते हैं, प्रकृति को गौण स्थान मिला है, पथ की खोज के कारण, क्योंकि अब प्रकृति अपने-आप में कुछ नहीं। वह तो मनुष्य के सुख-दुःख की छाया से ग्रस्त है। अतः यह भी कहा जा सकता है, आज प्रकृति को उद्दीपन के रूप में प्रायः देखा जाता है, यह बात और है कि उद्दीपन के आधार बदल चुके है। वे व्यक्तिपरक से बढ़कर समाजपरक होने की ओर उन्मुख हैं।

'ऋतुसंहार' में नयी दृष्टि का भेद स्पष्ट होता है। कालिदास के 'ऋतुसंहार' से आज का कवि कितनी दूर हो चुका है। भावना के क्षेत्र में उसमें भी वही 'रति' है, परंतु बात करने का ढंग ही बदल गया है :

मेरे हाथ के अबीर से यह अभी तक लाल है
और, बेली की कोढियों की मेरी माला से अभी तक सुगंधित
तकियों के बीच में पड़ा यह लम्बा बाल
प्रिये, तेरे वियोग में मुझे डँस रहा है।

कालिदास की सघन केश-राशियां आकर एक बाल में सिमट गई हैं। और यह

बाल भी बहुतों की ज़िंदगी में आया ज़रूर होगा।

वही शिद्दत, वही दुपहर, वही कछमछ, वही शोले—
वही ठण्डी बयार !
प्रियतमे, बस तू नहीं है, और वो बात नहीं है।

विरह की वेदना ही है यह भी। किंतु इसमें पुरानी तड़पन निश्चय ही नहीं है।

तूने जो वह हरसिंगार की माला टाँग दी थी
उसका एक-एक सूखा कण उड़ गया
पर हमारे सोने के घर की दीवाल पर काँटी से आज भी लटका है
मकड़ी की डोर-सा पतला उसका तागा।

कालिदास ने मकड़ी की डोर-सा पतला तागा कभी नहीं सोचा।

शरद के और फागुन-चैत के बीच
उफ, कैसी यह सन् से लग रही सर्दी !
तेरे ओठों से जैसे कि निकला था,
'कल जाऊँगी !'

बिदा का बहुत मार्मिक चित्र है, किंतु इतना वैचित्र्य है इस कविता में कि इसके कवि मदन वात्स्यायन ने जो रस इसमें पाया होगा, वह साधारणीकरण के अंतर्गत नहीं आ पाता। शरत् और चैत के बीच की सर्दी काटनेवाली होती है, ठिठुरा देती है। पाला मार जाती है और ठंडी हवाएं उसमें बहती हैं। शीत के पवन की निर्दयता को देखकर शेक्सपियर ने कहा था, 'कुछ भी हो, मनुष्य का, विश्वासघात, कहीं अधिक क्रूर होता है।' वात्स्यायन ने 'जाऊंगी' में उजड़ती दुनिया देखी है तभी उसका मन भी बस ठंडा पड़ गया है। परंतु इतना सब सोचने पर ही इस कवि को आनंद आता है। क्योंकि ऐसी बिदाएं कम ही होती हैं।

अब ताली बजने की-सी थिरकती आवाज की यह कविता देखना उचित है जिसमें प्रकृति की सुंदरता को श्रम के सुंदर फल से मिलाया गया है :

नान्हीं नान्हीं पतियन मोती - बूँद छिटके
खेतवा की हरी-हरी दुबहरी मेड़िया।
सीस धरे लाली लाली मखमली टोपिया,
कुहुँकै वहाँ पै खड़ी सारस की जोड़िया।
कोहँकि - कोहँकि करै विधना से बिनती
चोंच बाइ ऊपर उठाय गरदनियाँ।
नीके - नीके रहै खेतहारिन किसनवाँ
हरी - भरी रहै खेतिहरि कै किसनियाँ।

धनि - धनि प्रभु तोरे बदरा - बदरिया
धनि-धनि हल-बैल धनि-धनि खेतवा।
धनि खेतिहारिनि औ' धनि है किसनवाँ
जाके बल लह-लह ऊसर क रेतवा॥
अबकी तो औरीतना चलत बयरिया
मचलि-मचलि जात खेतवा के धनवाँ॥

×

अब न पसीना बही बिरथा बेगार जइहाँ,
अब न लगनवाँ मा बिकि हैं गहनवाँ।
सब आसा पूरी करी हरा-भरा खेतवा
अबना बिदेसै जाइ मोरा यू किसनवाँ॥

—चंद्रभूषण त्रिवेदी

मध्यकालीन कविता में ऐसे सुन्दर चित्रण हमें सेनापति में अवश्य मिलते हैं। शब्द-लालित्य के अतिरिक्त जो भाषा का चमत्कार सेनापति ने साथ में रस्सी-सा बंट दिया है, उसके कारण वह हाथ में अरसती है। यहां सहज वर्णन है। सत्यनारायण के धोए-धोए पात और नज़ीर के खेतों के-से ये खेत सुहावने हैं। हिंदी की बोलियों में कितनी सामर्थ्य अभी दबी पड़ी है यह स्पष्ट प्रकट होता है। किंतु अंत में कविता में कृषक-स्तवन-सा आ जाता है। और प्रकृति मानो मनुष्य की जय बोलने लगती है। कवि यह नहीं भूल पाता कि यह सब मनुष्य का रचाया हुआ सौंदर्य है जिसके बल ऊपर भी लह-लहा रहा है। जैसे—'पंगु चढ़ै गिरिवर गहन।' भगवान की दया है, वैसे ही यह मनुष्य की मेहनत का नतीजा है। कविता के अंतिम भाग में किसान का पेट के लिए विदेश जाना करुणा जगाता है और लगता है कि कवि की वेदना बहुत सार्थक है। जायसी के 'दीठि दंवगरा' और कालिदास के 'खेतों' से इसकी तुलना करिए :

यह अषाढ़ का पहला दिन गिर चुका दौंगरा गहरा
धुले हुए सब पेड़, प्रकृति का आंचल फिर से लहरा।
उमड़ी सोंधी गंध मटैली तपन मिटी धरती की,
आज खिल गई मुरझाई कलियाँ किसान के जी की।

किसान के जी की कलियां खिलीं। पेड़-पत्ते साफ हो गए। धरती से सौंधी गंध उठने लगी और तपन मिट गई। और चिंता के रूप में घर और प्रकृति दोनों साथ-साथ मिलते हैं :

बाँह-बाँह में चलते जाते मँहगू के भी सपने
जबकि कटेंगे धान सुनहले दिन भी होंगे अपने

गौना देना है सोना का वह हो गई सयानी
दादा की है फटी मिर्जई, कितनी हुई पुरानी।
कर्ज चुकाऊँगा पर पहले, धमकाता है बनिया
लेनी मुझे एक धोती भी, अधनंगी है भुनिया···

—सुरेन्द्रकुमार दीक्षित

'सुनहले दिन' के साथ 'धान कटेंगे' का प्रयोग अपने-आप 'धान' के साथ 'सुनहले' को जोड़ देता है, और इसकी सफलता है। बाकी लोक की व्यथा का चित्रण है। धान का वास्तविक सौंदर्य आज है क्या ? अंत में तो धान की उपयोगिता खाद्य पदार्थ के रूप में है। खीर और तर मालों की तो पुराने कवि भी गा गए हैं। नया कवि भी गाता है। तो पुराने और नये का एक भेद है कि पुराने में दारिद्र्य-प्रधानता नहीं थी, आज के में उसकी प्रधानता है। दुःख क्या है ? उसके प्रति युग-युगांतर में मनुष्य के विभिन्न दृष्टिकोण रहे हैं। हम यह नहीं कहते कि भारत की लाख-लाख जनता जो ग्रामों में बसती है, उसका मध्यकालीन दृष्टिकोण बदल चुका है। अवश्य ही कवियों में काफी-सा परिवर्तन दृष्टिसुलभ है। यह वास्तव में युग को मूर्त करने के कारण होता है जैसे :

श्रावणी वातास डोले क्षिप्र पंख पसार
खोलते सुर पर न क्यों उर के सुरंग सितार ?
पंक में शतदल खिलाते गंधमय अरमान
क्यों न मानव-कुसुम करते स्नेह-अर्घ्य-प्रदान?
प्रकट करती आसुरिकता विश्वग्रासी रोष
सभ्य युग के उन्नयन में घृणा का आक्रोश !
वज्र-अस्थि दधीचि की पर खोल देगी द्वार—
मुक्ति का; कर ध्वंस दुर्जय दम्भ का प्राकार।
कौंधती काली घटा में दामिनी को देख
स्याहियों में जिंदगी की अग्निपंखी रेख !
शृंखला की कुण्डली में दमकती शमशीर
रंगभीने कुमकुमों का बंकनोंकी तीर।
बज उठा डंका नपुंसक शान्तता को चीर
गढ़ रहा युग स्वयं नूतन सृजन की तस्वीर।

—रामइकबालसिंह 'राकेश'

सावन की हवा पंख पसारकर डोलने लगी है। प्रकृति को देखकर जैसे वर्डस्वर्थ ने कहा था कि इन लताओं-कुसुमों को देखकर मुझे बड़ा दुःख होता है कि, हाय मनुष्य ने मनुष्य को क्या बना दिया है, मनुष्य ने मनुष्य की क्या अवस्था कर दी है, मनुष्य क्या

हो गया है, इसी प्रकार कवि प्रकृति से प्रेरणा लेना चाहता है। सभ्य युग के उन्नयन में घृणा का आक्रोश देखकर वह यह कहता है कि बलिदान मुक्ति दे सकता है। स्याहियों में ज़िंदगी की आग के पंख की-सी रेख बहुत सुंदर कल्पना है, जो काली घटा में चमकती हुई दामिनी के लिए की गई है। युग स्वयं अपनी तस्वीर गढ़ रहा है। यह युग एक नया 'पात्र' है, जिसका नये स्वरों से गायन किया गया है। इसका रूप क्या है? एक भावना-मात्र। नयी कविता का यह नया 'नायक' है। जिस प्रकार पुराने और मध्ययुगों में नायक के साथ प्रकृति वर्णन होता था, उसी प्रकार इस नये 'नायक' के साथ भी होता है। वह कितने ही प्रकारान्तरों से होता है।

वह ग्राम, लोकचित्रण से लेकर, उद्‌बोधन और नवचेतना के गर्जनों के अतिरिक्त हमें व्यक्तिपक्ष में भी मिलता है। कहीं-कहीं हम प्रकृति में नीति परकता सदृश दर्शन की झलक भी पाते हैं :

यदि फूलों की सुषमा चाहो
सीखो पत्थर बनकर रहना
यदि मानस की सीमा चाहो
सीखो बंधन बनकर रहना
मैंने दो चिह्न बनाए हैं
जिसमें चाहे उँगली धर दो।

—शिवबहादुरसिंह

फूलों की सुषमा के लिए पत्थर बनना और सीमा प्राप्त करने को बंधन बनना, दोनों ही विरोधी तत्त्व हैं। दर्शन के क्षेत्र में दोनों उचित है। जो मुक्त है, वह असीम है अतः अनंत दाह है। जो केवल कोमल है, सुदर है, वह जीवन की स्थिरता और संघर्ष से दूर है। अतः यद्यपि फूल और पत्थर का कोई संबंध नहीं है, फिर भी बात बैठ जाती है। यह प्रकृति का नये ढंग का चित्रण है। अलंकारशास्त्रियों को भी नयी कविता से संतोष अवश्य हो सकता है :

वर्ण-वर्ण मेरी कविता के नाविक बन-बनकर आते हैं
औ' कल्पना-तरणि में पग रख पंथी पार उतर जाते हैं।
इस गतिमय धारा के बदले अब मृत तट का नाम न लूँगा।

सतसैया के दोहरे—नाविक के तीर थे। अब वर्ण ही नाविक हैं और कल्पना की नाव में वे पांव रखकर पार उतर जाते है। कवि को यह धारा पसंद है, क्योंकि उसमें उसकी नाव तो चलती है। मुर्दा किनारे को तो वह नाम भी नहीं लेना चाहता।

उपनिषद् में यह झगड़ा आता है कि आंख, नाक, कान और प्राण में कौन सबसे बड़ा है। ऐसी कल्पनाएं जिनमें व्यक्ति और परमात्म के द्वन्द्व हैं, पुराने युगों में देवता

को ही ऊंचा स्थान देती रही हैं, यद्यपि हमें लोक-हितकारी 'प्रोमिथियस' आदि का भी जय-जयकार मिलना आवश्यक है। यहां एक विवाद उपस्थित होता है और सारी प्राकृतिक शक्तियां अपना महत्त्व प्रकट करती है :

अवनि बोली—
मैं तुम्हारी चेतना हूँ ठोस
आग बोली—
मैं तुम्हारी जिंदगी का जोश
गगन बोला—
मैं करूँगा कल्पना साकार
पवन बोला—
मैं तुम्हारी प्रगति का आधार
नीर बोला—
मैं सजलता-तरलता-गतिवान
पुरुष बोला—
तुम सबों का, किंतु, मैं भगवान।

—ब्रजकिशोर नारायण

इन सबपर मनुष्य विजयी होता है, क्योंकि वह सबको अपने शासन में मानता है। एक दार्शनिक मत है कि मनुष्य है, तभी उसे मस्तिष्क की शक्ति के कारण सकल सृष्टि का अनुभव होता है। यदि वह न रहे तो कुछ भी नहीं है। इसी तरह की अति उग्रता में जो मनुष्य को इतना उठाने का यत्न होता है, उससे शांति नहीं मिलती, बल्कि स्वयं अपने ऊपर आश्चर्य-सा होता है। उदात्त बनानेवाला साहित्य विनम्रता सिखाता है, अहं का विस्तार नहीं करता, और करता है तो उसे सर्वात्म में मिलाकर। युग का जो प्रभाव मैंने अभी बताया उसीने यह चमत्कार उत्पन्न किए हैं। कुछ यह मध्ययुगीन साहित्य में भाग्यवादी मानव के निराशावाद की अति की प्रतिक्रिया भी है। इसलिए भी कुछ 'ज्यादा प्याज' खाई जा रही है। इतना होने पर भी अपनी नवीनता के कारण चित्र सशक्त है और गति की ओर बढ़ने की प्रेरणा अवश्य देता है।

प्रकृति में 'जीवन' एक नयी वस्तु बनकर जुड़ गया है। इसे प्रकृति के कक्ष के अतिरिक्त और कहीं रखा भी नहीं जा सकता, क्योंकि यह अनुभूति का विषय है, अतः दर्शन में इसे समाया नहीं जा सकता। जीवन के प्रति कवि में बड़ी गहरी आसक्ति है :

किन्हीं भारी दो शिलाओं की अँधेरी सन्धि में
गहरी-सुदीर्घ दरार के उस मृत्तिका-सुरभित निभृत में डूब,
यों जिसने सहज अति दूर से ला बीज अर्पण

कर दिया वह धन्य वनवासी समीर !
हरित द्युति जीवन-शिखा की एक मीठी आँच
अंतर में सँजो निज नवल अवयव प्रति दिवस
है दीर्घ करता जा रहा जो सत्य उसको
नमित—अन्तर वंदना ।
किन्हीं भारी दो शिलाओं की अँधेरी सन्धि में
उगते हुए उस सत्य को जिसने प्रखर उर-रश्मि के आघात से,
जिसने हृदय-एकत्र जीवन की सकल अनुभूति की
व्याकुल-सजल बरसात से गंभीर-महिमापूर्ण श्री-मय वृक्ष में
यों सहज परिणत कर दिया
उस रक्त-रश्मि विहानवाले ज्ञान-गुरु के सूर्य को
उस विकल जल-विस्तार-जल-विस्तार वाली
गहन मन बरसात को मेरे हृदय की किन्हीं नीरव
दो शिलाओं का कृतज्ञ प्रणाम है ।

—गजानन माधव मुक्तिबोध

माटी के निभृत में डूबकर वनवासी समीर ने लाकर बीज धर दिया। हरा रंग जीवन की दीपशिखा की मीठी आग है। उस जीवन को कवि वंदन करता है। इसी प्रकार कवि के मन में भी दो शिलाएं हैं, किंतु भीतर ही बरसात है और वह जीवन-शिखा भी है। यह कवि का पूर्ण तन्मय रूप है। नये उपमान, नयी चित्रात्मकता, नयी शब्द-योजना, सब ही बहुत आकर्षक है। यों पीछे की पंक्तियों में गहनता अधिक है जिसने कविता को बोझिल बना दिया है, किंतु यह कविता भारी शिलाओं के स्वर से ही आरंभ होती है, इसलिए इसका भारी होते जाना अधिक सौष्ठव ही लिए है। बरसात है जीवन की सकल अनुभूति। मैं समझता हूं कि 'सकल अनुभुति' और 'सजल बरसात' के स्थान पर यदि कवि 'सजल अनुभूति' और 'सकल बरसात' लिखता तो कविता की प्रेषणीयता कहीं अधिक सक्षम हो जाती। जीवन के प्रति यह ममता भी अपने आधार सर्वत्र ढूंढता हुई दिखाई देती है :

चढ़ती जमुना की धारा में लो कूद गया तैराक वीर
कायर हो शंका करते हैं उसने कब सोचा कहाँ तीर !
नागिन - सी प्रलयंकर लहरें उठती हैं डसने आसमान
सब स्वयम् निगलने को बढ़तीं करतीं भीषण रण घमासान !
विड्मण्डल थर - थर भयकातर लहरों पर फेनों के पहाड़

वे उसे निगलने को धाई अगणित भीषण मुख फाड़ - फाड़।
पर भय कैसा, चिंता कैसी, डर से डरता है कौन धीर!

—नरेन्द्र

सन् १९३४ में लिखी हुई यह कविता बड़ी ही साहसिका है। कायर ही डरते हैं। वीर तीर की चिंता नहीं करते, कूद पड़ते हैं। लहरों पर फेनों के पहाड़ है। कभी धीर क्या डर से डरता है?

नरेन्द्र में हम प्रकृति के कमनीय से लेकर, दुर्दम चित्र तक पाते है। प्रणय की भी उसमें बड़ी लोच झलकती है। नरेन्द्र में भी बड़ी सरसता है।

धरती से नरेन्द्र ने बहुत प्यार दिखाया है। नरेन्द्र में आडम्बर नहीं। आज भले ही उसका मूल्यांकन नहीं हुआ हो, परंतु एक दिन वह अपना स्थान हिंदी के अच्छे कवियों में पाएगा। शृंगार, क्रांति और दर्शन, ये तीनों तो नरेन्द्र के अच्छे विषय है ही, प्रकृति-चित्रण में नरेन्द्र ने बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया है। छायावादी शैली के नाम से जो अनेक कवियों की शैलियां आज मानी जाती हैं उसमें से भाषा को निकाल लाने वालों में नरेन्द्र का एक विशेष स्थान है।

धरती और जीवन का प्रेम नरेन्द्र में कृत्रिमता लिए हुए नहीं है, कि ऐसा युग की पुकार है अतः उसे अपना विषय बनाना आवश्यक ही है। धरती एक बाला के रूप में हमारे सामने आती है। अब हम दो चित्रों को एकसाथ देखते है। धरती भी, ग्रामबाला भी। ये दो चित्र मिलकर बहुत ही कमनीय बन जाते हैं। मुझे आश्चर्य यह है कि आलोचकों ने अभी तक इस श्रेष्ठ रचना का मूल्यांकन नहीं किया :

इसके खेतों में खिलती है
सींगरी, तरा, गाजर, कसूम—
किससे कम है यह पली
धूल में सोना धूल-भरी धरती!
शहरों की बहू-बेटियाँ हैं
सोने के तारों से पीली
सोने के गहनों में पीली
यह सरसों से पीली धरती!
सिर धारे कलेऊ की रोटी
ले कर में मट्ठा की मटकी
घर से जंगल की ओर चली
होगी बटिया पर पग धरती

कर काम खेत में स्वस्थ हुई
होगी तलाब में उतर, नहा
दे न्यार बैल को, फेर हाथ,
कर प्यार, बनी माता धरती !
पक रही फ़सल, लद रहे चना
से बूँट, पड़ी है हरी मटर
तीमन[1] को साग और पौहों
को हरा[2] भरी-पूरी धरती
हो रही साँझ, आ रहे ढोर,
हैं रँभा रहीं गायें - भैंसें
जंगल से घर को लौट रही
गोधूली बेला म धरती !

—नरेन्द्र

एक भी पंक्ति व्यर्थ नहीं है। पूरी धरती है, पूरा ग्राम-चित्र है, ग्राम-जीवन है। एक 'सकलत्व' हमें यहां कितनी गहराई से मिलता है।

आज का कवि हठ को भी आगे रखता है। प्रकृति के ही रूप में उसे सौंदर्य नहीं मिलता। अपनी मनचाही हो जाए तब ही उसे आनंद आए, तब ही उसे सुन्दरता भी दीख पड़े। यों मनुष्य तो दीन-हीन हो, परंतु प्रकृति सुन्दर-सी हो, तो भी वह हृदय कहां से मिलेगा उस रूप से, जो रूप का प्रभाव डाले। तभी वह कहता है :

जब सजी बसंती बाने में
बहनें जौहर गाती होंगी
कातिल की तोपें उधर
इधर नवयुवकों की छाती होगी
तब समझूंगा आया बसंत !
युग - युग से पीड़ित मानवता
सुख की साँसें भरती होगी
जब अपने होंगे वन - उपवन
जब अपनी यह धरती होगी
तब समझूंगा आया बसंत !
जब विश्व - प्रेम मतवालों के
खूँ से पथ पर लाली होगी

१. तरकारी। २. हरा चारा।

जब रक्त - बिंदुओं से सिञ्चित
उपवन में हरियाली होगी
जब सब बंधन कट जाएँगे
परवशता की होली होगी
अनुराग - अबीर बिखेर रही
माँ - बहनों की झोली होगी
तब समझूँगा आया बसंत !

—शिवमंगलसिंह 'सुमन'

धरती जब अपनी होगी तब कवि को लगेगा कि उसका वसंत आ गया। अर्थात् मनुष्य का सुख आने पर ही वह प्रकृति का वास्तविक आनंद ले सकेगा। बलिदान से पवित्र, और त्याग की गरिमा से विभवान्वित जीवन ही वास्तविक सुन्दरता को जन्म दे सकेगा। यह सत्य है कि ऐसी कविता का तत्त्व अधिक स्थायी नहीं होता, किंतु इसकी तल्लीनता, इसके समर्पण का सत्य, क्या सहज ही अपना प्रभाव खो सकते हैं। दुःख के रूप बदलते जाते हैं। दुःख बना रहता है किसी न किसी रूप में तो विद्रोह की आत्मा ही परिचालित करती रहती है। 'मंसूरी' पर लिखी गई कविता में कवि ने स्पष्ट किया है कि प्रकृति और मनुष्य का यह समन्वय युग के ऊपर ही निर्भर है। युग एक गंगा है, जिसके साथ बहना अनिवार्य है :

यह वर्षा की बाढ़ किनारों को कटना होगा ही।

×

युग की गंगा बही जिधर तुमको बहना होगा ही।
अब जन के प्रताप को भामाशाह सौंप दे पूंजी
उसकी सारी शक्ति अभावों के मुगलों से जूझी
युग के साथ बदल जाने में ही कल्याण निहित है
जय जनता के तुमुल घोष में आधी दुनिया गूँजी।
सत्ता से लड़ने को मचलेगी युग की मजबूरी।

—श्रीराम शर्मा 'प्रेम'

यह युग आज लड़ने को मचल रहा है।

जनता जाग रही है। इस जनता में किसान है। किसान के प्रति तभी कवि को इतनी सहानुभूति है। इसीके लिए कवि ने भी धरती को प्यार किया है। किंतु इतना सत्य है कि यह सारे ग्राम-चित्र ग्रामवासी को नहीं मोहित कर सके हैं, क्योंकि नागरिक दृष्टि से जो लिखा गया है, वह मध्यकालीन ग्रामीण जीवन से अपना संतुलन नहीं कर पाया है। ग्राम बहुत पीछे है अभी। नये कवि का स्वर उसके लिए इतना नवीन है कि

वहाँ उसकी पकड़ नहीं हो सकी है। और वह भी तब जबकि नये कवि ने अपने विषय को बहुत सहज बनाकर प्रस्तुत करने की भी चेष्टा की है।

जो कविताएं बोलियों में लिखी जाती हैं, उनकी प्रेषणीयता कुछ सीमा तक अधिक होती है, परंतु उपर्युक्त सीमा उसपर भी लागू होती है। कवि इस धरती का नया मालिक किसान को मानता है :

बहु मन गलगल खेतवा कै रनियाँ
अब भा है धरती क मालिक किसनवाँ !

×

कारे - कारे छाय रहे भोर के बदरवा,
सँग - सँग झूमि रही सँवरी बदरिया।
धानन के खेतवा निरावत किसनवाँ,
मीठे - मीठे गीत गावै चन्दामुख तिरिया।
बदरिन मइहाँ जैसे गोट लागि सोने कै
तैसी खेतिहारिन कू ओढे है चदरिया।
हौले - हौले रमकि रही है पुरवइया,
झुकि - झुकि झूमि रही रस की बदरिया।
झम - झम झमकत खेतवा के धनवाँ
जैसे उठै जमुना माँ चंचल लहरिया।
पौरुख हरेट देखि मगन किसनवाँ
लहर - लहर करै धना कै चदरिया॥

—चंद्रभूषण त्रिवेदी

काले बादलों के साथ सांवरी बदरिया घूम रही है, धानों के खेत में नराब हो रहा है। खेत के धान झमझम ऐसे झमक रहे है जैसे जमुना में चंचल लहरें उठती हैं।

किसान काव्य में आया था करुणा के जागने पर किंतु 'युग' उसका साथी बन गया। दया का स्थान 'अधिकार' ने ले लिया। और फिर मानवीय शक्तियों के विकास ने सिर उठाया। मनुष्य का वैभव, उसका गुरुत्व सामने आया। उसमें जो भी सृजन-कर्ता है उसकी महिमा गाई गई। उसीमें किसान को भी स्थान मिला।

हल मनुष्य का आयुध बना, और इस नाते उसने संज्ञा पाई ब्रह्मा के सर्जनरत हाथ की।

बाधाएं पर्वत कहलाई, प्रतिक्रिया को अंधकार कहा गया, और नवयुग का पर्याय बना उगता सूर्य। ढलता सूर्य गत युग का प्रतीक बना। इस प्रकार प्रकृति के बहुत से रूप अपने गुण-साम्य के कारण एक विशेष चित्र देने लगे, जैसे नाथ संत-युग में उन्होंने

पनी एक विशेष शब्दावली बना ली थी। तभी कहा है :

…वह यह पहाड़ सामने व्योम का वक्ष चीर
देता दहाड़ पृथ्वी पर ऐसा कौन लाल
चोटी का छूना दूर रहा बस चरण-स्पर्श
कर सकता होगा भस्म, भभकती अग्नि-ज्वाल।
…उन चरणों पर जो छाप छोड़ देगा अपनी
वह अपनी विजय - लकीरों में अक्षय होगा
मैं अपने गारुड़ पंख काट लूँगा उस दिन
मेरे स्वर में उसका ही विजयी स्वर होगा।

×

पर लघु हल ने आकर समक्ष दी ठोंक ताल—
स्वीकार मुझे ललकार तुम्हारी महाकाम
ओ कंस देख, मैं कृष्ण तुम्हारा महाकाल।
यह कह हल्की-सी अपनी नोंक गड़ा ही दी
हो गया सुन्न विकराल गरजता यह पहाड़
फिर हल की गति गरजती नहीं सिरजती चली
खेतों की क्यारी काट, दूर्व के उगे झाड़।

—देवनाथ पांडेय 'रसाल'

एकदम पहाड़ उठता-सा दिखाई देता है और फिर स्पष्ट ही उसकी दहाड़ भी दिखाई देती है। पर छोटा-सा हल आता है और कृष्ण की तरह पहाड़ को कंस बना देता है। हल गर्जन नहीं करता, सर्जन करता है, क्योंकि वह खेत उगाता है। हम वस्तुतः हैं प्रकृति के बीच ही में।

प्रकृति का एक रूप है उसका अपना सौंदर्य। दूसरा है उसका मानव से संबंध। यह संबंध एक ओर आत्मा-संबंधी है, दूसरी ओर है समाज-संबंधी। इस दूसरे के भी दो पक्ष है। एक में प्रकृति केवल प्रतिबिंब है, दूसरे में वह प्रेरणा भी है। प्रेरणा में दो पक्ष हैं। एक में शक्ति मिलती है, दूसरे में चिंतन। नये काव्य में हमें प्रकृति के ये रूप स्पष्ट मिलते है।

सृजन और संहार के दो रूपों में ब्रह्मा और महादेव थे। उनको अनेक प्रकार से दार्शनिक रूप दिया गया था। वे जीवन के बहुविध जालों का प्रतिनिधत्व करते थे। आज केवल उतना ही नहीं है। अब उस सब पर मनुष्य की आत्मा को जगाया जा रहा है।

धूलों में फूलों का वसंत बगरता है। माटी का आनंद आज अपना महत्त्व अधिक रखता है। माटी का विस्मय बहुत बड़ा हो गया है :

सोना - सोना चम्पा - चम्पा में चमक उठा
धूलों में फलों का बसन्त छा गया हुलस
मिट्टी की सोंधी - सोंधी महक लगी उड़ने
सरिता की धारा में जीवन छा गया सरस।
जौ-गेहूँ की स्वर्णिम बाली
लहलहा उठी
उतरे विहंग के दल के दल
गायन करते;
आमों के पल्लव, दूब,
किरण की शुचि पाती
हल की पूजा में जुटे
एक पल में अपने।
मानव की आत्मा का प्रकाश युग - युग से हल
जिसकी नोंकों में सामवेद मुखरित ललाम;
जिसकी मुस्कानों में पलती सभ्यता चरम,
उस हल को करता है पहाड़ झुक-झुक प्रणाम !

—देवनाथ पांडेय 'रसाल'

यह जो अन्न है, जिसकी उपनिषदों में महिमा गाई गई है कि हे अन्न ! तू ब्रह्म है ! वह नये युग में दूसरे शब्दों में अपनी अभिव्यक्ति पा सका है। अब अन्न को ब्रह्म का रूप तो नहीं माना जाता, परंतु उसके महत्त्व को पहले से कहीं अधिक ऊंचा उठाने का प्रयत्न किया गया है। सारी सृष्टि के अंदर एक शक्ति है। वह शक्ति मनुष्य में भी है। मनुष्य की शक्ति उसके श्रम में है। हल उसी श्रम का एक प्रतीक है। तो जब वह हल गेहूं उगाता है तब दूब, पत्ते, किरन, हल की पूजा में जुटते है। पत्ते आम के हैं। परंपरा ने उन्हें मंगलमय माना है। दूब भी मंगल-चिह्न है, और रुंदकर भी न मरनेवाली हरियाली है। किरन अंधकार को हरती है। तो हल की पूजा करते हैं—मंगल-परंपरा, अक्षय जीवन और आलोक। इस हल से ही सभ्यता पलती है। इस हल को पहाड़ भी प्रणाम करता है क्योंकि इसकी गरिमा उसकी विराट काया से कहीं अधिक बड़ी है। इस प्रकार हल के रूप में मानव की आत्मा को ही उसकी संपूर्ण महत्ता याद दिलाकर सबके ऊपर बिठाने का प्रयत्न हो रहा है।

एक ही प्राकृतिक व्यापार के हमें भिन्न-भिन्न रूपेण वर्णन प्राप्त होते हैं :

दूर गगन में टूट रहा है एक सितारा !
अंधकार की छाती पर

खिंच रही एक रेखा प्रकाश की।

×

देख टूटता एक सितारा—
डब-डब नयन हुए नभ के अगणित तारों के,
ओस बने आँसू अपार गिरते धरती पर !

दोनों चित्र टूटते तारे के है। एक ओर तो अंधकार की छाती पर प्रकाश की रेखा खिंच जाती है। दूसरी ओर आकाश रोता है और पृथ्वी पर ओस गिरती है। दोनों ही पुरानी उपमाएं हैं, किंतु अपने संयोजन के विविध संदर्भों में उनका प्रभाव पड़ता है। इसके साथ ही मनुष्य की वेदना का उल्लेख आता है। मानव अपनी जाति से करुणा की आकांक्षा करता है, किंतु उसे मनुष्य पर ही पूर्ण विश्वास नहीं है :

नहीं एक भी नयन बहाता होगा आँसू
इन आदम के बेटों के इस मूक निधन पर।

कवि अत्यंत खेद से पशुता को ही ऐसी मानवता से अच्छा बताता है, जिसमें मानवों का पारस्परिक स्नेह मिट गया है, क्योंकि स्नेह बिना मनुष्य की श्रेष्ठता के उजागर नहीं हो पाती :

पशुता ही अच्छी ऐसी मानवता से तो
मानव ही जिसमें मानव को न रहा प्यारा!

—रामकुमार चतुर्वेदी

अब हम काव्यक्षेत्र मे एक प्रतिस्पर्धा देखते है। वह है नयी शब्दावली में पुराने प्रतीकों का आना और अपने चित्रों से वह सचमुच अच्छे भी लगते हैं।

प्रभात का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि यह पृथ्वी शून्य में निराधार है। चंद्रमा पश्चिम की झील के किनारे अपने हिरन खोल देता है। हिरन और चंद्रमा का संबंध लोकगीतों की-सी मिठास रखता है। अब एक ओर पृथ्वी को निराधार शून्य में कहने का दृष्टिकोण शीघ्र ही रोमांटिक-सी लगनेवाली अभिव्यक्ति को अपना लेता है। किंतु यहीं उसका चमत्कार है। पहली बार भी उसे विज्ञान के कारण नहीं, बल्कि एक असंभव सत्य होने के कारण ही उसे रखा था :

मेघों से लिपटी वसुमति शून्य
में निराधार है···
ओ पृथिवी के निवासियो !
जब सप्तऋषि ध्रुव की
परिक्रमा करते हुए आकाश उतर जाते हैं

जब चन्द्रमा,
पश्चिम की झील के किनारे
अपने हरिण खोल देता है,
कभी दक्षिणा और कभी उत्तरा
बनकर सुबह की हवाएँ
नील गायों की भाँति खेतों में
मुंह मारने लगती हैं,
और जब अंडे सेकती हुई फूली-फूली
लाल बड़े फूलों-सी मुर्गियाँ, बाँग सुनाने लगती हैं,
सोने का एक अश्वत्थ बीज
आकाश अपने ठिठुरे हाथों से गाड़ने आता है।

—नरेशकुमार मेहता

सुबह की हवाएं नील गायों की तरह खेतों में मुह मारती हैं। मुर्गियां लाल बड़े फूलों-सी दिखाई देती हैं। आकाश के हाथ ठिठुर गए है। वह एक बीज गाड़ने आता है। बीज है अश्वत्थ बीज। यानी पीपल का। अश्वत्थ शब्द ही अपने साथ बहुत बड़ी परंपरा लिए हुए है। वेद में यक्ष जिसके मध्य में रहता है, और यातुधान उसको देखता है, वह अश्वत्थ बीज है। उपनिषद् में भी अश्वत्थ का उल्लेख है जो ऊर्ध्वमूल है। गीता का अश्वत्थ तो प्रसिद्ध ही है। यह अश्वत्थ निरंतर भारतीय चितन में अपना स्थान रखता आया है। बोधि द्रुम होने के कारण इसने आदर बौद्धों में भी पाया है। परंतु नरेशकुमार ने उसे अपनी दृष्टि से आलोक का बीज माना है। प्रकारांतर से आलोक भी दर्शन के अश्वत्थ का ही एक पर्याय है। कवि ने इस पक्ष को नही लिया। उसकी अपनी कल्पना है और जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, यह नये चित्रों में पुराने चित्रों का नवीनीकरण है।

नरेश के शब्द बहुत चुने हुए होते है और वे जो प्रभाव चाहते हैं, वह स्पष्ट सामने आ जाता है :

दोपहर तक सोने की पत्तियाँ
फूलों और फलों से लदा
सोने का वीर्यवान
अश्वत्थ बन जाता है···
उसकी छाया में हमारी
घास गरम होती है
हमारे पशु उसके नीचे बैठकर
जुगाली करने लगते हैं

और हम समुद्रों में पोत
आकाशों में विमान
और पृथिवी पर पैर रखकर
चलने लगते हैं···
ओ पृथिवी के निवासियो,
वह सोने का अश्वत्थ है
वह सूर्य है।

—नरेशकुमार मेहता

नरेश की सार्वभौम दृष्टि है। समुद्रों के जहाज, आकाशों के विमान आदि जैसे सब एक ही परिवार के कार्य-व्यापार हैं, क्योंकि सारी पृथ्वी के निवासियों का एक परिवार है। वह सोने का अश्वत्थ वृक्ष असल में सूर्य है जो आकाश में से फूटा है और उसकी पत्तियां सोने की हैं, अर्थात् किरणें हैं।

और यहां हम एक और चित्र देखते है। आकाश के उगे वृक्ष से हम पृथ्वी पर आलोक पाते हैं। इस प्रकार यह शून्य जो हमारे बीच से लेकर सूर्य तक है, यह ऐसा लगता है जैसे घर के आले में रखे दीपक से हमारे पास आने तक के बीच के फासले में फैला हुआ अंतराल हो। हम नरेश की दृष्टि को व्यापक मानते हैं। उसमें प्रसार है। समय उसे गहराई भी देगा। चरागाहों का कवि जिस प्रकार प्रकृति के प्रति एक सौहार्द्र रखता था उसी प्रकार यहां भी मिलता है।

नरेश की शैली में एक गद्यात्मकता है। वह उसके बात करने के तरीके मे है, जैसे वह सीधे-सीधे कह रहा है। और यहां तो वह सचमुच ही कह रहा है। यह असंदिग्ध है कि काव्य की श्री उसकी किसी भी प्रकार की लय में अधिक उभार पाती है, क्योंकि उसके बिना भाव का उभार नहीं आता। निबन्धकार अज्ञेय जो भी सप्रयास कविता लिखते है, उनमें वे इसका ध्यान रखने का प्रयत्न करते है और काव्य का आभास दे ही जाते है।

अश्वत्थ बीज से मधुवन में आते ही फिर 'युग' के दर्शन होते है। अब हम देखते हैं कि वह जागृति की विद्युत अपनी धमनियों में लिए हुए मिलता है:

मधुवन में आते ही बहार
हर कुसुम स्वतः खिल उठता है,
हर मधुप स्वतः खिंच आता है,
तितली शृंगार सजा लेती
पिक-बैन गीत बन जाता है!
यह है मधु ऋतु की माया, तो

तुममें जागृति की विद्युत है,
उठ ए नव युग के अग्रदूत !
उठ ए स्वदेश - श्री के सुहाग !
नव युग आया, नव युवक जाग !!

—रतनलाल साधु

कहां कालिदास की झंकारती मेखला पहने नितंबिनी युवतियों का मादक वसंत, कहां मादक वसंत में युवक और वह भी नवयुग का प्रतीक। प्राचीन कवि पुरुष अधिक था, स्त्री के क्षेत्र में, नया है पौरुष का प्रतीक युग के क्षेत्र में। यह एक बहुत बड़ा भेद है। प्रश्न आता है मनुष्य के स्थायी भाव का। युवती के प्रति 'रति' अब भी विद्यमान है। क्या युवक और युग के प्रति भी बनी रहेगी ? फिर प्रश्न है कि पुरुष दृष्टिकोण से स्त्री में जो अनुरक्ति है, क्या स्त्री को भी वह उतनी ही आकर्षक लगती है ? क्या आज की बदली हुई नैतिक भावनाओं में भी कालिदास की ऐसी उक्तियों का वही प्रभाव पड़ता है ? मै समझता हूं नहीं। आज उस स्थूलता से कवि-हृदय तुलनात्मक रूप में सूक्ष्मता को अधिक महत्त्व देता है। युग कौन-सा युग है ! प्रत्येक युग नया है और प्रत्येक युग के प्रति मानव को अपनत्व की ममता होती रहेगी। जैसे उपनिषदों के चितन से समस्याओं के बने रहने से हम अभी तक प्रभावित होते हैं, मैं समझता हूं कि युग के प्रति होनेवाली आस्था में ये कविताएं अपना स्थान रखेगी। अवश्य ही इनका अस्तित्व मानव के सर्वांगीण विकास को पूरी तरह से ढंक नही सकेगा।

युग के प्रति नरेन्द्र ने दूसरा चित्र दिया है। स्थायी भावों में इन चित्रों को किस रस के अंतर्गत माना जा सकता है, यह अभी तक प्रश्न ही है। कहता है :

आँज रही है आज अमावस्या नयनों में काजल
निश्चय नया चाँद कल उगता देखेगा जगती - तल !
शिव के मस्तक का आभूषण नये चाँद का अंकुर
यह जितना शोभाशाली है, है उतना ही निष्ठुर।
एकदंत के एकदंत - सा राहु - ग्राह से निर्भय
उन्नति का रथ - चक्र बनेगा वक्र चन्द्र निस्संशय !
नई ज्योति की असि बन, शशि बन आएगा नवयुग कल!

—नरेन्द्र

अमावस्या का काजल पारना क्या अर्थ रखता है ? काले में काला क्या दीखेगा ! परंतु इससे हम यही तात्पर्य निकाल सकते है कि अमावस्या उतनी काली नहीं, जितना उसका अंधेरा है, यह भी खींच-तान करके ही। नया चांद अवश्य ही नवयुग बन जाएगा। इन कविताओं को रस की दृष्टि से हमें वीर रस के अंतर्गत रखना होगा, क्योंकि आखिर

तो यह उद्‌बोधन, ये घोषणाएं, सब हमें ऊर्जस्वित करने को ही तो हैं। हां, इन्हें विषय की दृष्टि से हमें समाज के विकास में सहायता देनेवाला जानकर भी, मूलतः प्रकृति-चित्रण में ही रखना होगा। इसका कारण यह है कि इनमें प्रकृति के चित्रों की भरमार है और यहां यदि इसे निकाल दिया जाए तो ये कविताएं अपना कोई मूल्य नहीं रखतीं। प्रकृति चित्रण का उद्देश्य यद्यपि समाज, युग और उत्थान की ओर प्रेरित करना है, परंतु है क्या वह अपने स्वरूप मे ! प्रकृति-चित्रण ही। नये ढंग से नई उपमाएं दी गई है। दास संस्कृति का विरोधी कवि नन्दकिशोर देखने योग्य है। वह जीवन की निर्बाध गति दिखाना चाहता है और कहता है :

ढल गई साँझ
आ गई रात।
निकल पड़ीं धीवर बालाएँ
कंदील सँजोये,
लिए हाथ में दीपित।
सीता और द्रौपदी ऐसी।
चारों ओर घिरे सागर से
द्वीप मरोनी की धरती पर।
गहन रात के
अँधियारे में
काली लहरों की छाती पर
जाल डालने
नन्हीं-नन्हीं लिए डोंगियाँ
सागर के झंझावातों पर
गति के
निर्भय चरण समान—
चल पड़े दीप,
जीवन-नौकाएँ।

—नन्दकिशोर

धीवर बालाएं हाथ मे दीपित कंदीलें संजोए निकल पड़ी हैं। वे सीता और द्रौपदी जैसी प्रदीप्त है। यहां स्त्रियां तो संघर्ष में अपराजिता और पतिव्रता बन जाती हैं, और कंदीलें अंधकार मे आलोकिनी बनी रहने के कारण दृढ़ प्रतिज्ञ। नौकाएं चल पड़ती हैं, जाल डालने के लिए। पुराने कवि कभी धीवर स्त्रियों के लिए सीता और द्रौपदी का प्रयोग नहीं करते। देव ने नायिका-भेद में केवल ब्राह्मणी के प्रति श्रद्धा दिखाई है,

बाकी स्त्रियां—हर जाति की—उनको पूज्य नहीं दिखाई दीं। अतः जाति-प्रथा का खण्डन, मानव की सामान्य स्वीकृति इस युग की एक और देन है। मनुष्य के कार्य-व्यापार में प्रकृति को बांधकर जब चित्रण किया जाता है, तब एक संपूर्ण चित्र-खण्ड आकर उपस्थित होता है।

प्रकृति को रूपक के तौर पर लेने से प्रायः कवि एक ही बात को दुहरा-दुहराकर लिखते हैं, क्योंकि समय का चरण तो अभी बहुत तेज़ी से बढ़ता हुआ लगकर भी वास्तव में उतना बढ़ा नहीं है जितने की आशा थी और कवि को बार-बार उसीका सामना करना पड़ता है :

अंधकार अपार भू पर व्यापमान
अंधकार अपार छाया आसमान
अंधकार सशक्त केवल अंधकार
कहाँ जीवन का विपुल विस्तार
हास-विलास
छा गए बादल, छिपे तारे, ढँका आकाश
कहाँ शेष प्रकाश
व्यर्थ दृष्टि अदृष्ट जिससे सृष्टि साज
हो रही है घन - तिमिर में वृष्टि आज
नवल अंकुर, नवल जीवन, नव समाज
हो रहा निर्माण, नाश, विकास, ह्रास—
स—हास !
आज का यह तिमिर करता शक्तिदान
समझने मानव लगा है शक्ति - ज्ञान
स्वत्व, जीवन, प्रगति, सामञ्जस्य, मान,
हो चला संघर्ष इससे जगत—
का अधिवास !

—त्रिलोचन शास्त्री

केवल अंधकार सशक्त है। अंधकार, अंकुर, प्रकाश, सब अब अपना महत्त्व उतना नहीं रखते, जितना पहले रखते थे। मानव का स्वत्व आगे आया है। इसका कारण है युग। युग यद्यपि एक प्रतीक है, परतु समस्या बनी हुई है। एक ओर इसकी प्रतिक्रिया हुई कि बार-बार वस्तु को दुहराने से काव्य नही बनता। दूसरी ओर हठ चला कि इसको चित्रित करना ही आवश्यक है। इस द्वन्द्व में किसीने भी लोक-जीवन की गहराइयों में अभी तक चरण नहीं रखा। व्यापक जीवन प्रतीकों के रक्षण में नहीं फलता-

फूलता। उसे समस्या का बाह्य समाधान नहीं चाहिए। अभी तक कोई 'व्यक्ति रूपगत पात्र' उठकर नहीं आया। 'प्रतीक पात्र' अवश्य ऊपर उठे हैं।

प्रतीक के कारण यद्यपि उद्‌बोधन हुआ, जागरण हुआ, किंतु हाथ जिसे छू सकें, ऐसा मानव नहीं मिला। प्रश्न है वह कौन व्यक्ति हो ? आज राम जैसा कौन है जिसने इस युग के आदर्श को पूर्णतया ग्रहण कर लिया हो ? रवीन्द्रनाथ भी पात्र खोज लेता है :

धरणी को छेद चलीं
भूधर को भेद चलीं
जंगल - कछार
पेड़ - पल्लव - पसार

×

काल के प्रसार में
सारे संसार में
दल की दल चींटियाँ
हैं उमड़ के बढ़ रही
कतार पर कतार पर कतार···

—वीरेश्वरसिंह

चींटियां ही सही। सुमित्रानन्दन पंत ने इसका श्री गणेश किया था। किंतु उनकी कविता अंत में उपदेशात्मक हो गई है। वीरेश्वरसिंह ने चीटियों का कितना सुंदर वर्णन किया है। यह चींटी श्रम का प्रतीक होने के कारण सामूहिक जीवन का भी प्रतीक है और इसलिए उसका मानव से सादृश्य है। इसीलिए यह कविता हमें अपनी ओर खींचती है। और 'काल के प्रसार में, सारे संसार में' कहकर कवि विश्वमानव का अंकन करता है। वह संपूर्ण मानव का चित्रण करता है चीटियों का 'पात्र' उठाकर ! क्या ही अजीब बात है, लेकिन है तो बात ही।

चीटियों के समाज में मनुष्य के समाज की भी अभिव्यक्ति होती है। चकवा, चकोर की जगह चींटी आई है। उसकी दुर्दमनीय शक्ति को देखते हुए कवि अवाक्-सा रह जाता है। शब्दों में हमें रंग मिलते है। 'धुंआधार कतार' कहकर कवि एक ओर गति, दूसरी ओर शक्ति, तीसरी ओर चींटियों की चाल और चौथी ओर उनके रंग को ला खड़ा करता है। यह सब एक शब्द 'धुंआधार' का प्रताप है। 'एक मील की अटूट काजरी लकीर' बहुत सुंदर अभिव्यक्ति है। मानो कवि विहंगम दृष्टि से दूर से देख रहा है :

कतार की कतार धुआँधार
चींटियां अपार

हैं अगम उमड़ चली सहस हजार
दल सँवार
जा रही हैं आज
कहीं दूर, दूर, दूर !
एक मील की अटूट काजरी
लकीर
एक लक्ष्य जा रहीं अदम्य
राह चीर—

×

राजा है कोई न कोई है रंक
चींटी की दुनिया में चींटी निश्शंक !

×

रोकेगा कौन भला इनका दल ?
एक-एक चींटी में एक-एक गज का बल। —वीरेश्वरसिंह

इन चींटियों में ऊंच-नीच नहीं। अपनी दुनिया में चींटियों को शंका भी नहीं है, चींटी में गज का बल होना जायसी की नागमती की आहों से कौओं के काले पड़ जाने के समान होते हुए भी, अच्छा प्रभाव छोड़ता है, क्योंकि दल शब्द में ही शक्ति निहित मानी जाती है।

यह सामूहिक रूप से जो प्रकाश और अंधकार का निरन्तर संघर्ष चल रहा है, वह आखिर क्यों ? यह संघर्ष है या मनुष्य इसकी कल्पना करने लगा है ! नहीं। सत् और असत् के रूप में यह धारणा तो पहले से ही विद्यमान है। जिसे आधुनिक काव्य का 'गतिरोध' कहते हैं, वह वस्तुतः एक विशेष शैली के बाहर न निकल पाने की असमर्थता ही है। कुछ ऐसा विचार हो गया है कि इस शैली-विशेष के बाहर निकलकर जो कुछ लिखा जाएगा वह काव्य नहीं हो सकेगा। रहस्यात्मक भावना तथा नए उपमानों का शोध इसी शैली के अंतर्गत हो सकता है, ऐसी मान्यता-सी बन गई है। किंतु शैली-विशेष ही काव्य की श्रेष्ठता का पर्याय नहीं हो सकती। यह सत्य है कि युग-विशेष के प्रभाव से निकलना सहज नहीं है। किंतु युग में भी व्यक्ति की अपनी विशेषता होती है। वह हमें अवश्य मिलती है ! कवि का चिंतन मुखर हो उठता है :

मिट्टी के तिमिर गर्भ में तुम
सोए बनकर जब ज्योति-बीज
तब हृदय विधाता का जाने
क्यों करुणा से उठ्ठा पसीज ?

मिट्टी ने निगला नहीं तुम्हें
तुम रह न सके निष्क्रिय निरीह !
दो तत्त्व विरोधी मिले, जगी
जीवन गति, निद्रा गई छीज !
गतिमय जीवन का जन्म,
आदि में तम प्रकाश का रतिरहस्य !
ओ जग जीवन के स्वर्णशस्य !
जीवन की गति का ध्येय यही
मिट्टी बन जाए ज्योतिपुंज
मरुभूमि चेतनाहीन जगे
बन-बनकर नन्दनवन निकुंज !
पर ईश्वर को यह इष्ट नहीं
हो जीवनक्रम आधारहीन;
ईश्वर के भी, पर सत्य बिना
होंगे नंदनवन स्वप्न लुंज !
इसलिए लड़ाई पग - पग पर
पर जीवन जीतेगा अवश्य !

—नरेन्द्र

दो विरोधी तत्त्वों के मिलन से तीसरी का जन्म होता है। इसे मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी धारणा में प्रतिपादित किया है। नरेन्द्र के अनुसार जड़ का चेतन बनते जाना ही माटी का ध्येय है। वह यह मानता है कि ईश्वर जीवनक्रम में एक आधार देता है। सत्य के बिना वह ईश्वर भी लुंज हो जाएगा। इसीलिए उसने सत् और असत् का यह संघर्ष रखा है, ताकि निरन्तर कसौटी पर सोना निखरता चला जाए। योगी अरविंद की भी ऐसी ही मान्यता थी। मैं समझता हूं कि यह मानव का सीमित दृष्टिकोण है। वह अपने सीमित ज्ञान से इस तरह प्रकारांतर से अपनी तुष्टि करता है कि भले ही वह सृष्टि-क्रम में बहुत बाद में आया है, परन्तु वह बहुत चेतन और परिमार्जित है। अतः विधाता की इच्छा ही परिमार्जन की है। कौन जानता है कि यह पृथ्वी विराट सृष्टि में क्या महत्त्व रखती है ! परन्तु हम तो अपने को ही महत्त्वपूर्ण मानकर संघर्ष करते हैं :

अँधेरा बहुत, ज्योति की चाह है
लिया सूर्य को लील गहरे तिमिर ने !
नखत जगमगाए निशा के शिविर में !
मगर दीप इतने नहीं पी सके तम—

बड़ी बेबसी, खो गई राह है।
गुफा कालिमा की निगलती चराचर।
गरम साँस यह काँपती-सी बराबर!
गगन पर किरण मालिका तिलमिलाती—
घुटन बढ़ रही, मृत्यु का वाह है।
लगी आँख, सपने बहुत रँग दिखाते।
खुली आँख सुपने स्वयं टूट जाते।
धुली कल्पना जब हुई दृष्टि धूमिल
बहे रंग, खाका हुआ स्याह है।
अंधेरा बहुत, ज्योति की चाह है।

—कुमारी रमासिंह

प्रकृति का भय भी मनुष्य को बहुत सताता रहा है और अब भी उसका आतंक मौजूद है। ज्योति की चाहना आज बहुत बड़ी तृष्णा है। मध्ययुग का व्यक्ति यह नहीं मानता था कि वह प्रकृति के संबंध में अंधकार में डूबा हुआ है। प्रकृति को वह परमात्मा की महिमा के रूप में मान चुका था। उसकी अद्‌भुत शक्ति भी उसीके चमत्कार के रूप में मानी जाती थी। आज का मनुष्य अपने को अंधेरे में मानता है। उसके दीप इतने सशक्त नहीं हैं कि वे अंधेरे को पी जाएं। यह मनुष्य की विवशता है। वह केवल कल्पना में सुख पाता है, यथार्थ बहुत कठोर है।

मनुष्य का स्वप्न बहुत सशक्त है। वह स्वप्न में रहता है तो उसे "अपने चलने के साथ रवि, शशि किरणों के पंख सजाए चलते नजर आते हैं। पृथ्वी, झरने, सरिताएं, तरु-लतिकाएं, कानन और नया जीवन, सब उसे अपने साथ चलते हुए दिखाई देते हैं।" (उदयशंकर भट्ट) इस स्वप्न को हम मनुष्य की बलवती आशा कहना ही अधिक उचित समझते हैं, क्योंकि उसीसे उसे आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलती है।

हो सकता है कि आगे बढ़ने का अर्थ कल बदल जाए, किंतु आज उसका यह दृढ़-विश्वास-सा हो गया है कि वह विकास कर रहा है। कवि हृदय इसे देखता है और व्यक्तिगत जीवन में उसके मन में संशय भी हो उठता है:

सुनहले सपन की रजत घाटियों से
विसुध तन, विसुध मन चला आ रहा हूँ,
अमृत दान करने चला पंथ को मैं
मगर पंथ ही से छला जा रहा हूँ।

क्या मनुष्य चल रहा है, या राह ही उसे छलती चली जा रही है? दार्शनिक इस प्रश्न को सुनकर गूढ़ चिंतन में डूब जाता है! वैज्ञानिक अपने सीमित जीवन को ही

आगे रखता है। परन्तु कवि कहता है :

रहे देखते सब गगन के नखत डर
लगी नित्य फाँसी नयन के तखत पर
मरे अश्रु हर बार मन्सूर बनकर
यही सुख मिला है मुझे दूर रहकर
भला दूर से भी कहाँ दूर जाऊँ
यहाँ दूर रहकर मिला जा रहा हूँ—

—शिवबहादुरसिह

वह व्यक्ति है। उसने बलिदान, तप और कष्ट से जीवन बिताया है। वह अपने को रेले से बचाता भी रहा है, किंतु वस्तुतः वह दूर रहकर भी दूर नहीं है।

कवि कैसे कह दे कि यह धरती केवल धूलि है। यह तो उसे रोज़ गोद में खिलाती है! वह संपूर्ण सृष्टि को मिथ्या भी कैसे कह दे, उसे तो हर एक कली देखकर शर्माती है। ज्ञान का सोचना-समझना, परखना उसका काम नहीं है। उसे तो इस मिट्टी का कण-कण प्यारा है। उसे जग से प्यार है, जीवन के क्षण-क्षण से प्यार है। तृण-तृण पर उसने अपना स्नेह उतारा है। (नीरज)

सारी सृष्टि से कैसा प्यार है। क्या कहीं पुरानी कविता में भी प्रकृति के प्रति ऐसा प्यार जीवंत होकर कभी उभरा है ? संघर्ष हैं, वेदनाएं हैं, दर्शन की विरक्ति है, अनुभूति का प्यार है। वह कहता है—सब चलता जा रहा है···

वसन्त एक दूत है, विराम जानता नहीं
संदेश प्राण को सुना गया, कहीं पता नहीं
वसन्त एक वेग है, वसन्त एक गान है
जगत् - सरोज में सुगन्ध का मधुर विहान है
कि प्रीति के पराग का वसन्त एक जागरण
वसन्त की पुकार है—धरा सुहागिनी रहे
प्रभा सुहासिनी रहे कली सुवासिनी रहे
कि जीर्ण - शीर्ण विश्व का हृदय सदा तरुण रहे
हरीतिमा मिटे नहीं कपोल चिर अरुण रहे
कि जन्म के सुहास का रुके नहीं कहीं सृजन।

—रामदयाल पांडेय

सब कुछ चल रहा है। वसंत, आनंद और उल्लास है। "जब सावन कोयल की बांसुरी बजाता है तब कवि को कोई सांवरिया याद आ जाता है। उसे खेत से नई फसल अपनी धानी चनर उड़ा-उड़ाकर अपने पास बुलाती है। उसके तन का रोम-रोम तब गा

उठता है और उसकी सांस-सांस कविता बन जाती है। जब वसन्त तितली के पंख लगाकर उड़ता है और तरु-तरु पर कुंकुम पराग बिखराता है, तब उसे धूलि की दुलहिन का सुहाग 'अक्षर' से भी अधिक अक्षर जान पड़ता है। कल-कल ध्वनि करती नदियों के पास जाकर उसके प्राणों की पायल स्वयं छनक उठती है।" (नीरज)

कैसा प्यार है। ओ धरती ! तेरा पुत्र है यह मनुष्य ! तुझे कितना प्यार करता है ! वीर भोग्ये वसुधरे ! यह दुर्दम पौरुष तुझपर कितना न्यौछावर है ! किंतु जीवन की सार्थकता क्या है ! क्यों है यह जीवन ? कवि करुण स्वर से पूछता है :

मणि शय्या पर बालाओं का प्यार
या लहरों का विष-मन्थन कर स्वीकार
क्या पाएँगे प्रभु, हम क्या पाएँगे ?

×

जिस दिन यह सारा आकुल प्रणयोन्माद,
रह जाएगा केवल पिछला अभ्यास,
जिस दिन साँसों में साँसें होंगी लीन,
पर मुर्दा होगी मन की सारी प्यास,
उस दिन होगा फिर यह सिद्ध
वैयक्तिक सीमा में बद्ध—
जितना झूठा है यह दुःख
उतना ही झूठा है सुख
सुख-दुख इन दोनों के पार
क्या पाएँगे प्रभु, हम क्या पाएँगे ?

—धर्मवीर भारती

क्या होगा प्रभु ! जीवन का सार क्या है ! वैयक्तिक सीमा में बद्ध सुख और दुःख दोनों झूठे हैं। इनके पार क्या है ?

समस्त प्रकृति कवि को कोई प्रेरणा नहीं देती। अब तक का प्रणयोन्माद एक पिछला अभ्यास बनकर रह जाएगा !

जीवन का रहस्य प्रकृति के अंतर्गत ही आता है यहां, उसे हम दर्शन के अंतर्गत नहीं ले सकते। क्योंकि यहां मनुष्य के जीवन का प्रश्न नहीं, उसका सृष्टि से तादात्म्य प्रमुख है। वह देखता है :

"मदिरा-सी मादक रात, गगन में चांदनी की झीनी उज्ज्वल साड़ी पहने मुस्करा रही है। उसके आंचल से लहराती-इठलाती आती मंद पवन तन को छूकर मन में सिहरन-भर रही है। भ्रमरों के शिशु उपवन में अठखेली कर रहे हैं। तितली की राजकुमारी

रंगों में सजकर फूलों से आंखमिचौनी खेल रही है। लेकिन बीमारी और भूख के दानव से लड़ता मानव इतना अवकाश ही कहां पाता है कि वह इन मादक रातों की मस्ती में डूब सके।" (पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश')

यह है समस्या का द्वन्द्व ! हम क्या पाएंगे ! हम चाहें तो भी क्या कर सकते हैं ?

किंतु मेरी समझ में ये दोनों ही दो विशेष अति हैं—अवस्थात्मक निषेध हैं—परिस्थितिजन्य विकार हैं।

कवि इससे कब डरता है कि रहस्य उसे अज्ञात है :

जिस तरह यह किरन नूपुर - किंकिणी सुन
शान्त सर में खिल रहे जलजात हैं।
उस तरह जीवन तुम्हारे भेद की बातें
अँधेरे में पड़ी अज्ञात है।

—शिवबहादुरसिंह

वह प्रकृति का रूप देखता है। वहां वेदना नहीं दीखती तो वह ही अपने दुःख में क्यों डूबा रह जाए ? 'स्वार्थ अहंकार की दानवीकारा' (वीरेन्द्रकुमार जैन) है। परंतु मनुष्य उससे सत्ता के स्रोतों को मुक्त कर रहा है। यह तो है समाज का रूप। जहां प्रकृति की कमनीयता का प्रश्न है, वहां अभी अज्ञात, अज्ञात ही है :

जिस तरह उस याद की धुँधली लकीरों
से लिपट कर सो रहे आघात हैं
उस तरह जीवन तुम्हारे भेद की बातें
अँधेरे में पड़ी अज्ञात हैं।

—शिवबहादुरसिंह

लेकिन जिसका मन पुलकित है उसे रहस्य के प्रति ही उदासीनता है। जीवन की तृप्ति कहती है कि "हे सखी ! अब रस बरस रहा है और मैं भीग रही हूं। जब आनंद होता है तब अद्रव भी बहता है। जब रस सीझ जाता है, तब मैं भी रस में तनिक-तनिक कर सीझती हूं। यह राह के शैल, शिखर, वन, झाड़ी रोक नहीं पातीं। पर्वत छीज जाते हैं परंतु मैं नहीं छीजती।" (विद्यावती कोकिल)

इस प्रकार मनुष्य की अवस्था ही प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण बनाती है। आनंद के ये स्वर कैसे भी विरल है, किंतु संपूर्णतः साहस ही प्रधानतः मिलता है। "पलकें ज़िंदगी के लंगर खोलकर तूफान में हरदम क्षितिज के छोर तक जाकर सुबह की बाट जोहती हैं।" (जगदीशचन्द्र)

उसे पतंगों में भी वही ज्योति की चाहना मिलती है जो प्रकाश की प्यासी है।

जली नहीं प्रदीप - ज्योति पुंज - पुंज आ गए
निकुंज कुंज से निकल शलभ अशेष छा गए।
ठहर न एक पल सके प्रकाश में समा गए,

×

थे चाहते कि पोंछ लें सुपंख से प्रकाश को।
कि चाट लें प्रकाश के समस्त चन्द्रहास को
इसीलिए जले स्वयं प्रदीप भी जला गए।

—आरसीप्रसादसिंह

जिनमें ज्योति की चाह है, वे ज्योति में लीन हो जाते हैं।

"पृथ्वी और आकाश मिले हुए दीखते हैं, पर क्षितिज का अंत नहीं मिलता। ऊपर मत देखो। किस्मत की आड़ लेकर असफलताओं से मत डरो। मैं प्रकृति-दूत हूं, तुम शक्ति-दूत हो।" (विपिनचंद्र चतुर्वेदी)

"झंझावात आ रहा है।

"धरा के वक्ष पर उभरे हुए पहाड़ उरोज हैं। वह झंझावात आकर उन्हें मसलता है, कड़कड़ाता है। वृक्ष रोम हैं। इन्हें वह झकझोरकर चीर जाता है। झरने, नदियां शिरा-उपशिराएं हैं। उनमें वह लहू की तप्त लपटों-सा प्रखर उद्दण्ड ज्वाला को विशिख-सा सनसनाता है।" (भारतभूषण अग्रवाल)

पृथ्वी के वक्ष और तूफान का यह वर्णन कितनी व्याकुल वासना से भरा हुआ है। कालिदास ने भी पृथ्वी के उरोज देखे थे। किसी भी रूप में हो, अंत में मानव अपने जीवन-संपर्कों से ही उपमाएं देता है, क्योंकि जिसे वह जानता है, वही उसकी रागवृत्ति में बसे रहते हैं।

मनुष्य इस तूफान से डरता नहीं। कहता है—"आओ! इन चरणों से हे प्रलय के समीर! टकरा जाओ! हे आकाश! तुम शत-शत भानु हाथों में लेकर गरजो, लाख-लाख किरणों के तीक्ष्ण तीर छोड़ो। परंतु मैं अभय हूं। मुझमें अखिल तत्त्व बंदी हैं। मैं एक साकार व्यष्टि हूं जिससे समष्टि प्रतिनादित हो रही है।" (केदारनाथ मिश्र 'प्रभात')

"गिरि-शिखर मनुष्य का ध्येय है।" (बच्चन)

इस संघर्ष में प्यार ही उसके जीवन का संबल बनकर निकलता है। वह कहता है :

घायल उर को देख तड़पता किसने तीर सँधाना
किसने पनघट के पंछी पर चाहा जाल बिछाना
आओ मेरी बाँहों में तन-मन की आग बुझा लें
मन के बैरी को समझाने बिगड़ी बात बना लें,

जाग उठा है उनके मन में मेरे कवि का प्यार।
नभ में काला तूफान उठा दिल पर बिजली-सी टूटी
धरा डरी, छाती पर जैसे मधु की प्याली फूटी
ऐसे में इक नाव पुरानी मन का दीप जलाती
लहरों पर उतराती आती आँधी में बलखाती
इतना धुंधला व्योम तीर पर दूं कैसे आवाज़।
मधुर फुहारें बरसीं रिमझिम खेतों में रसभीनी
जैसे खुल कर बरस गई हो कोई बदली झीनी,

×

धरा उड़ेगी इक पल जैसे गगन हिलोरें लेगा
मेरे मन के गीत सुना खेतों में रस बरसेगा
हरियाली से झाँक रही है मन में बैठी नार
कि देखो आया मिलन त्यौहार—

—शिवनारायण 'सुयोगी'

प्रकृति उसके गीत से आलोड़ित हो उठेगी।

"सामने नर खड़ा है। वह भगवान का अनुरूप है। प्रलय उसके पांव पर पालतू-सा पड़ा है। वह नव निर्माण का यंत्र लेकर विधि और शंकर-सा बन गया है। वह भू-भाग्य दिनकर है।" (हंसकुमार तिवारी)

"निराशा पुरावृत्त विसर्जन हो गई है, जीवन निरापद हो गया है। नई रोशनी है।" (महेन्द्र भटनागर)

"किशोर आलोक-सिंह गिरि-गुफा फोड़कर, जागकर, यौवन बनकर, पाषाण-कपाट तोड़कर निकल आया है। वह तम के नभचुंबी अद्रि-जाल पर दिशि-दिशि की काली जीर्ण मेखलाएं मरोड़कर गरज उठा है। आलोक-सिंह अपने नयन फाड़कर निस्सीम परिधि का महाघोर कज्जल वन देख रहा है। उसकी दृष्टि छूकर क्षितिजकूल डुबाती है और ज्योतिसागर की मंद मुखर हिलोर आ रही है।" (राजेन्द्रप्रसादसिंह)

प्रकृति विजयिनी ही प्रमाणित होती है, क्योंकि मानव को अपने अंतर्गत रखकर वह कितनी बलवती हो जाती है। "शहर मानव की अस्थिरता की तसवीरें हैं। मन खुले मैदानों, देहातों में रमना चाहता है। पर्वतों पर चढ़ना चाहता है, मुक्त प्रपातों में उतरना चाहता है। नदियों की द्रोणी में दौड़कर कछारों से राह पूछना चाहता है।" (नरेन्द्र)

ऐसा है यह मानव।

सब कुछ ठीक हो जाएगा। बस इतना हो जाए कि दुःख जाए यहां से दूर। तब तो आओ :

स्वागत आश्विन मास !
भरो जन-जन में जीवन।
बाढ़-पीड़िता वसुंधरा का
लौटे यौवन।
मिटें मनुज - संस्कृति विकास
पथ के ये दलदल
करे क्रान्ति - रवि-किरण
जगत का पथ आलोकित।
शोषण की धारा न बहे फिर।
मरनेवाली पूँजीवादी संस्कृति का
शोषक समाज का
श्राद्ध करें हम पितृ पक्ष में।
खिले द्वितीया इंदुकला - सी
बढ़े नई संस्कृति दिन - प्रतिदिन।
वीर विजयदशमी फिर आए
विजयदिवस जनता का पावन।
नगर-नगर में ग्राम-ग्राम में
हो विजयोत्सव
निर्धनता रूपी रावण को
फूँकें, आग जला समता की।

—सूर्यदत्त दुबे

पथ स्पष्ट होता आ रहा है। तीन बातें है—अपने-आप में प्रवृति, प्रकृति और मनुष्य की वेदना, प्रकृति और मनुष्य का तादात्म्य। तीनों का विवेचन करने पर हमें नए रूप मिलते हैं। कवि सब एकमत नहीं हैं, न होंगे, फिर भी हमें दीखता स्पष्ट ही है कि जीवन की आस्था आज प्रकृति से उपदेश लेती है, उससे लड़ती है, उसे प्यार करती है, सब कुछ इसलिए कि जो है सो अपना बनकर रहे, यह प्रकृति निरंतर सुंदर बनकर रहे और मानव को सुख देती रहे। बस, इतना ही उसका उद्देश्य है।

इसीलिए कवि सुन्दरता को तभी सुन्दर मान लेने को तत्पर है जब वह उसके मन की सुन्दरता की कल्पना से मेल खा जाए, अन्यथा नहीं। तभी वह कहता है कि जीवन का संघर्ष आज प्रमुख है :

जीवन के कुसुमित उपवन में
गुञ्जित मधुमय कण-कण होगा

शैशव के कुछ सपने होंगे
मदमाता-सा यौवन होगा
यौवन की उच्छृंखला में
पथ भूल न जाना पथिक कहीं !
पथ में काँटे तो होंगे ही
दूर्वादल, सरिता, सर होंगे
सुन्दर, गिरि, वन, वापी होंगे
सुन्दर-सुन्दर निर्झर होंगे
सुन्दरता की मृगतृष्णा में
पथ भूल न जाना पथिक कहीं !

×

रणभेरी सुन कह 'विदा-विदा'
जब सैनिक पुलक रहे होंगे
हाथों में कुंकुम थाल लिए
कुछ जल-कण ढुलक रहे होंगे
कर्तव्य प्रणय की उलझन में
पथ भूल न जाना पथिक कहीं !
कुछ मस्तक कम पड़ते होंगे
जब महाकाल की माला में
माँ माँग रही होगी आहुति
जब स्वतन्त्रता की ज्वाला में
पल-भर भी पड़ असमंजस में
पथ भूल न जाना पथिक कहीं !

—शिवमंगलसिंह 'सुमन'

इस दृष्टि से देखने पर हमें लगता है कि सुन्दरता को हम उपयोगिता कह सकते हैं। उसीको घूम-फिर सुन्दर कहते हैं। अपनी बनाई सुन्दरता का ही मनुष्य आज अधिक महत्त्व देता है; जानकर या अनजान बनकर !

समाज और युग-सीमा

जिस समाज में हम रहते हैं उसमें अनेक प्रकार के बन्धन हैं। वे शरीर और मन के विकास में बाधा डालते हैं। इसलिए उनका विरोध करना आवश्यक है, क्योंकि कवि तो पूर्णता चाहता है। उस पूर्णता का विरोध करने से ही विपदाएं सामने आती हैं।

"तूफान साहस को चुनौती दे रहा है। मेरा स्वप्न है कि मैं उस पार जाऊंगा, और सिंधु कह रहा है कि मैं तरणी को डुबाऊंगा, और विश्वास कह रहा है कि मैं लहरों को हराऊंगा। क्या जवानी मौत से भयभीत होती है?"

(हरिकृष्ण प्रेमी)

इस विद्रोह का सहारा यौवन है, क्योंकि यौवन में स्फूर्ति होती है। यौवन में व्यक्ति सुन्दर होता है। सुन्दरता शक्ति है और शक्ति का स्फुरण बिलकुल ही स्वाभाविक है। बलिदान धरती के लिए है। वह कहता है, "पहले मिट्टी को देह-दान देता चल। तू एक अमर जागरण है, जलनेवालों को स्नेह-दान देता चल।" (देवेन्द्रनारायण वर्मा)

माटी को दान देना महत्कर्म है, क्योंकि माटी ही अपने प्रकारांतर से जावित है और चेतना का रूप भी उसीसे विकसित होता है। इसके लिए नये विश्वास की आवश्यकता है।

"विश्वास सपने से बड़ा है। संघर्ष सुखों से बढ़कर है। विश्वास मनुष्य के जाग्रत पौरुष की अविरलता का स्वर है। वह सदियों से जागी मानवता को अंतरवाणी का वर है।" (अंचल)

पौरुष को जिस प्रकार नया कवि जगाता है, वह पुराने कवियों से भिन्न है। पहले पौरुष इस प्रकार आत्मपरक रूप में नहीं जगाया जाता था। उस समय उसे किसी एक व्यक्ति विशेष में निहित कर दिया जाता था। यह आत्मपरकता वस्तु को व्यापक बनाने के लिए काम में लाई गई है। कवि कहता है:

"मैंने नवीन विचारों के बीज बोए हैं। धरती पर नया इंसान उगा आता है।"

(श्रीहरि)

उसे किसी भी प्रकार का वैषम्य पसंद नहीं है। समाज में कितने ही प्रकार के व्यवधान हैं। छूतछात, दरिद्र, धनी; वह सबको तोड़ देना चाहता है:

तुम जो भाई को अछूत कह वस्त्र बचाकर भागे
तुम जो बहनें छोड़ बिलखतीं बढ़े जा रहे आगे!
रुककर उत्तर दो, मेरा है अप्रतिहत आह्वान—
सुनो तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान!
तुम, जो बड़े-बड़े गद्दों पर ऊँची दूकानों में
उन्हें कोसते हो जो भूखे मरते हैं खानों में
तुम, जो रक्त-चूस ठठरी को देते हो जलदान—

×

तुम जो मंदिर में वेदी पर डाल रहे हो फूल
और इधर कहते जाते हो 'जीवन क्या है ? धूल!'
तुम, जिसकी लोलुपता ने ही धूल किया उद्यान—
तुम सत्ताधारी, मानवता के शव पर आसीन
जीवन के चिर रिपु, विकास के प्रतिद्वन्द्वी प्राचीन
तुम श्मशान के देव ! सुनो यह रणभेरी की तान—

—अज्ञेय

विद्रोह बहुत ही व्यापक स्तर पर प्रारंभ हुआ है जो सब प्रतिक्रिया के स्थलों को झकझोरता है। वह तो नया रूप ढाल रहा है। अब तो "समता, ममता, श्रद्धा, करुणा सांस बन रही हैं, मानवता को नया ईमान मिलता जाता है।" (श्रीहरि)

दर्शन की अभावात्मकता को हटाकर यहां हमें दिखाई देती है भावात्मक दृष्टि।

इसीलिए अब विद्रोह करते हुए नये कवि में उत्साह अधिक ही मिलता है। वह पहाड़ों पर झण्डा उड़ाना चाहता है। अवश्य ही इस स्वर में ओज है, परंतु आवेश भी काफी है, जैसे यह किसी सेना के सामने कहा जा रहा है :

न रुकना है तुझे झण्डा उड़ा केवल पहाड़ों पर
विजय पानी है तुझको चाँद-सूरज पर सितारों पर
वधू रहती जहाँ नर-वीर की तलवारवालों की
जमीं वह इस जरा से आसमाँ के पार है साथी !
भुजाओं पर मही का भार फूलों-सा उठाए जा
कँपाए जा गगन को इन्द्र का आसन हिलाए जा
जहाँ में एक ही है रोशनी वह नाम की तेरे
जमीं को एक तेरी आग का आधार है साथी !
उसे भी देख जो भीतर भरा अंगार है साथी !

—रामधारीसिंह दिनकर

भीतर और बाहर की आग एकाकार हो गई है, तभी तो विद्रोह का पूर्ण स्फुरण दिखाई देता है।

"जीवन की हार—सहने की सीमा भी ठोकर खाते-खाते आज अंगार बन गई है, वह अंगार किसी दिन भूमण्डल में आग लगा देगा। गली-गली में मर्यादाएं तूफान उठाएंगी, जिनके आवर्तों में लोहे की बुनियादें तिनकों-सी उड़ जाएंगी। लक्ष-लक्ष तलवारें कण-कण में उग आएंगी। अपमानों की घोर घटाएं भीषण वज्र गिराएंगी, तब भू से नभ तक बोधि-वृक्ष की हरी टहनियां लहराएंगी।" (नीलकण्ठ तिवारी)

सहन करने की भी एक सीमा होती है। कब तक आखिर अपमान सहा जाए। लेकिन शोषण से कभी तो मनुष्य ऊबेगा ही और वह प्रतिशोध अवश्य लेगा। कायर अवश्य अपने लिए डरते है :

जिनकी भुजाओं की शिराएँ फड़कीं ही नहीं
जिनके लहू में नहीं वेग है अनल का।
शिव का पदोदक ही पेय जिनका है रहा
चक्खा ही जिन्होंने नहीं स्वाद हलाहल का।
जिनके हृदय में कभी आग सुलगी ही नहीं
ठेस लगते ही अहंकार नहीं छलका,
जिनको सहारा नहीं भुज के प्रताप का है
बैठते भरोसा किए वे ही आत्म-बल का।
उसकी सहिष्णुता, क्षमा का है महत्त्व ही क्या
करना ही आता नहीं जिसको प्रहार है?
करुणा क्षमा को छोड़ और क्या उपाय उसे
ले न सकता जो बैरियों से प्रतिकार है?
सहता प्रहार कोई विवश, कदर्य जीव
जिसकी नसों में नहीं पौरुष की धार है,
करुणा क्षमा है क्लीब जाति के कलंक घोर
क्षमता क्षमा की शूरवीरों का सिंगार है।
सटता कहीं भी एक तृण जो शरीर से तो
उठता कराल हो फणीश फुफकार है
सुनता गजेन्द्र की चिंघाड़ जो वनों में कहीं
भरता गुहा में ही मृगेन्द्र हुहुंकार है
शूल चुभते हैं, छूते आग है जलाती; भू को—
लीलने को देखो गर्जमान पारावार है

जग में प्रदीप्त है इसीका तेज प्रतिशोध—
जड़ - चेतनों का जन्म-सिद्ध अधिकार है।

—दिनकर

यह सारा संसार आक्रोश और पौरुष के बल पर जीवित है। कवि देखता है कि प्रकृति में निरंतर एक-दूसरे से सब सजग रूप से संघर्ष कर रहे हैं। प्रतिशोध मानो जड़ और चेतन का जन्म-सिद्ध अधिकार है।

कवि इसीको वीरता के रूप में चित्रित करता है और तब वह शूर धर्म की व्याख्या करते हुए कहता है :

शूर धर्म है अभय दहकते अंगारों पर चलना
शूर धर्म है शोणित असि पर धरकर चरण मचलना
शूर धर्म कहते हैं छाती तान तीर खाने को
शूर धर्म कहते हँसकर हालाहल पी जाने को
आग हथेली पर सुलगाकर सिर का हविष् चढ़ाना
शूर धर्म है जग को अनुपम बलि का पाठ पढ़ाना
सबसे बड़ा धर्म है नर का सदा प्रज्वलित रहना
दाहक शक्ति समेट स्पर्श भी नहीं किसी का सहना।

—दिनकर

नर को सदैव प्रज्ज्वलित रहना ही सबसे बड़ा काम है। बलिदान उसका बहुत बड़ा गौरव है। हंसकर विपत्ति को झेल जाने की शक्ति ही वीरता है। तभी हमें जीवन और श्रम के प्रति अनुरक्ति मिलती है। "हे बन्धु ! हमें जीवन और श्रम का मान रखना है। ध्वंस की छाती पर चढ़कर हमें नव निर्माण करना है। कहीं यह संघर्ष रुक न जाए। कहीं पुनीत मान न झुक जाए। बिगड़ने-बनने में ही, हे प्राण ! जीवन का संगीत भरा है।" (शैलबाला)

यह संघर्ष एक ओर बुद्धि, मन और प्राण की मुक्ति का संघर्ष है, तो दूसरी ओर देश, समाज और व्यक्ति की मुक्ति का भी संघर्ष है।

तभी कवि आवाहन देता है कि वह अब बंदी को मुक्त करेगा।

कोमल पदावली का कवि नरेन्द्र ओजपूर्ण कविता लिखने में भी सिद्धहस्त है। उसने कोलाहल को ही काव्य की शक्ति नहीं माना, वरन् उसमें अनुभूति भी है। वह बंदी के झुके हुए सिर को उठा देना चाहता है। वह कहता है :

आओ हथकड़ियाँ तड़का दूं
जागो रे नत शिर बन्दी !

उन निर्जीव शून्य श्वासों में आज फूंक दूं लो नव जीवन
भर दूं उनमें तूफानों का अगणित भूचालों का कम्पन !
जल - ज्वाला भूकम्प तुम्हारे ही अतुलित बल के परिचायक
आंधी औ' तूफान तुम्हारे शक्तिमान श्वासों के वाहक
उठो - उठो ऐ सोते सागर नई सृष्टि को ले नव कम्पन
क्षीर सिंधु भी, बन्धु, तुम्हीं में जिसमें स्थिति अग-जग का कारण
जागो पहचानो अपने को मानव हो, समझो निज गौरव
अन्तस्तल की आंखें खोलो देखो निज अतुलित बल वैभव
अहंकार औ' स्वाधिकार—
दो पृथक्-पृथक् पथ हैं बंदी।

—नरेन्द्र

मानव को अपना गौरव पहचानना है। वह तो एक सागर है, किंतु ऐसी नींद में डूबा है कि अपने को भूल गया है। क्रान्ति ही उसे जगा सकती है। क्रान्ति अब आ गई है। "विपथगा की पायल तलवारों की झंकार में झंकार रही है। वह अंगड़ाई लेती है तो भूचाल आते हैं। पायल की पहली झमक में सृष्टि में कोलाहल छा जाता है। जिधर उसके पांव पड़ते हैं उधर भूगोल दब जाता है। जब दिशाओं में लपट लहराती है तब खलभल कर खगोल अकुला उठता है।" (रामधारीसिंह दिनकर)

दिनकर की क्रान्ति में उत्पात बहुत है। जैसे क्रान्ति न हुई शिव का ताण्डव हो गया। किंतु ये अतिशयोक्तियां प्रभाव उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त हुई हैं। सुलभ अभिव्यञ्जना के कारण कवि सम्मेलनों में यह कविता अच्छा असर डालती रही है। यदि अहा को छोड़कर देखा जाए, तब भी इसमें जान है, क्योंकि इसमें एक स्फुरण की झलक अवश्य मिलती है। इस क्रांति के रूप में निर्माण कम है, विध्वंस अधिक है :

मुझ विपथगामिनी को न ज्ञात किस रोज किधर से आऊँगी
मिट्टी से किस दिन जाग क्रुद्ध अंबर में आग लगाऊँगी
आंखें अपनी कर बन्द देश में जब भूकम्प मचाऊँगी
किसका टूटेगा शृंग, न जाने, किसका महल गिराऊँगी
निर्बंध क्रूर, निर्मोह सदा, मेरा कराल नर्तन, गर्जन,
झन - झन···
अब की अगस्त्य की बारी है, पापों के पारावार ! सजग
बैठे विसूवियस के मुख पर, भोले, अबोध संसार ! सजग
रेशों का रक्त कृशानु हुआ औ जुल्मी की तलवार ! सजग

दुनिया के नीरो ! सावधान ! दुनिया के पापी जार ! सजग
जाने, किस दिन फुंकार उठें पद - दलित काल सर्पों के फन···
झन - झन···

—रामधारीसिंह दिनकर

आक्रोश के साथ निराशा शीघ्र आती है। बहुत बड़ी थकान इस तरह एकदम तो मिटाई नहीं जा सकती। थकान तो है, पर वह कसक है, पराजय नहीं। पराजय की टीस बहुत दुःख देती है।

कवि अपनी जलन को अब अधिक दुःख से और रंगना नहीं चाहता। एक ओर मन की तृष्णा है, तो दूसरी ओर एक प्रचण्ड आवाहन। कवि कहता है :

"बहुत दिन से जलन पर बूंद टपकाता स्याही फेर रहा हूं। जब आंखें बहुत भर जाती हैं, तब उन्हें मूंदकर टपका देता हूं। जलन कम नहीं होती, छाती टूटती-सी लगती है। भरन कम नहीं हो पाती, धारा छूटती-सी लगती है। अगर तुझसे बने तो धनुष पर तीर रख दे और बहती आंख के आगे मधुर तस्वीर रख दे। युगों की पीर के बादल एक ही क्षण में दो टूक कर दे। अगर ये उमड़ें ही तो सुख लेकर सजी तसवीर से होकर आएं।"

(भवानीप्रसाद मिश्र)

परन्तु अधिकांश रुझान जाता है युद्ध और संघर्ष की ओर। उस ओर इतना उग्र रव है कि उसके नाद में सब कुछ ढंका-सा जा रहा है। अब उस ओर से मौन रहना कठिन-सा लगता है।

"आज गीत कौन बांध पाएगा ! वह नया तूफान बनकर छा जाएगा। जब धरती ही करवट लेती हो, तब जीवन कैसे चुप रह सकता है।" (श्यामसुन्दर 'अशांत')

इसीलिए तो है यह आह्वान कि नवयुग को बसाने की चिंता ने घेर लिया है :

समय है आज बन्धन तोड़कर नवयुग बसाने का
नये संगीत से अपनी खुशी का पार जाने का
अगर पीछे रहे तुम भी जमाने के तराने से
अगामी पीढ़ियों में शान क्या रह जाएगी ?
समय के ज्वार-भाटे में उलझकर जो नहीं निकला
समस्या के रहस्यों से सुलझकर जो नहीं निकला
उसे जीना न आया है, न उसने मन लुभाया है
न उसका जिंदगी ही जिंदगी कहलाएगी।

—वीरेन्द्र मिश्र

कवि नीच जातियों के प्रति झुकता है। मीरा एक सुंदर उदाहरण है। मीरा एक दिन कवि के पास आती है। कवि उसके उत्तरों से मर्म की पीड़ा पाता है। परंतु वह समस्या

को अकेला सुलझा तो नहीं सकता। 'मानव' ने सहज रूप से अच्छा चित्र खड़ा किया है :

"मैंने कहा, तू पढ़ती क्यों नहीं ? मीरा चौंककर बोली, बाबू ! हमें कौन पढ़ाएगा ? मैं यह उत्तर सुनकर इस पुण्य देश की गर्हित वर्ण-व्यवस्था पर सोचने लगा। विशिष्टों ने ज्ञान पर अधिकार कर लिया है। दया क्षण को उमड़ी किंतु कगारे पाकर सीमित हो गई, बह नहीं सकी। वह बोली : मैं बहुत देर की प्यासी हूं। मैंने कहा : सुराही सामने रखी है, गिलास से पानी पी ले। उसने कहा : मैं तो जात की चमारी हूं। मैंने कहा : मैं भी चमार हूं; चल पी ले पानी। वह पीती जाती थी और रोती हुई मुझे देखती जाती थी।" (विश्वम्भर 'मानव')

इस लड़की को कवि इनाम देता है, परंतु बाद में अफसोस करता है। इसी बीच लड़की अपनी मेहनत के पैसों के अलावा पैसे लेकर वापस करने लौट आती है।

क्रान्ति का सूत्रपात ऐसी ही तीखी मारों से हुआ करता है। हिंदी में क्रान्ति का रंग भावावेश अधिक रहा। उसके पीछे तीखे चित्र कम उभरे। सब कुछ को जैसे सामान्य करके रखा गया :

मैं आती हूँ बन नयी सृष्टि
ध्वंसों के प्रलय प्रहारों में
मैं आती हूँ धर कोटि चरण
युग के अनंत हुंकारों में !
मैं आती हूँ ले नव भाषा
मैं आती ले नव अभिलाषा
नव शब्द छंद लय ताल मीड़
नव गमकों की गुञ्जारों में।
चीरती रूढ़ियों की छाती
बिजली बन तमसा को ढाती,
मैं आती हूँ कंधे पर चढ़
मृत्युञ्जय अभय कुमारों में।
जड़ गतानुगतिका हिला-हिला
अंधानुकरण पर बनी शिला
आती हूँ कसक कराह लिए
मैं मरती हूँ बेज़ारों में।
कवि को देती वरदान नये
रवि को देती मैदान नये

छवि को देती उद्यान नये
मैं ध्वंस सृजन के चरणों से
नित अपना पंथ बनाती हूँ।

—सोहनलाल द्विवेदी

यहां कोटि-कोटि चरण चलते हैं। अनंत हुंकारों से सारा अंतरिक्ष प्रतिध्वनित होता है। उन दिनों जब भीड़ें टूटती थीं तब कवि भी उस समुदाय के आवेश को देखता था। रवि को नये मैदान देने की कल्पना बहुत आकर्षक है। अंधानुकरण पर आक्रमण किया गया है। सब कुछ नया होने को है। रूढ़ियों की छाती को क्रान्ति चीर देती है। वह ध्वंस-सी करती है, परंतु साथ ही सृजन भी। 'आह्वान' में 'अज्ञेय' ने अत्याचारी को ललकारा है। अब व्यक्ति व्यक्ति नहीं रहा। आततायी से लड़ने के लिए वह 'मैं' से 'हम' हो गया है। यह है उसका संगठन पर विश्वास। वह दुःखी है, पराजित है, पददलित है। परंतु क्रुद्ध है और बदला लेना चाहता है :

ठहर-ठहर आततायी ! जरा सुन ले
मेरे क्रुद्ध वीर्य की पुकार आज सुन जा
रागातीत, दर्प-स्फीत, अतल, अतुलनीय
मेरी अवहेलना की टक्कर सहार ले
क्षण-भर स्थिर खड़ा रह ले—
मेरे दृढ़ पौरुष की एक चोट सह ले।
कौन हूँ मं ?
तेरा दीन, दुःखी, पददलित पराजित
आज जोकि क्रुद्ध सर्प से अतीत को जगा
'मैं' से 'हम हो' गया।
और मेरे आगे है अनंत
आदिहीन शेषहीन पथ वह
जिसपर एक दृढ़ पैर का ही स्थान है
और वह दृढ़ पैर मेरा है,
गुरु, स्थिर, स्थाणु-सा गड़ा हुआ
तेरी प्राण-पीठिका पै लिंग-सा खड़ा हुआ।
मेरा पथ तेरे ध्वस्त गौरव का पथ है
और तेरे भूत काले पापों में प्रवहमान
लाल आग मेरे भावी गौरव का रथ है।

—अज्ञेय

उसके आगे पथ अनंत है, आदिहीन है। उसपर इतनी ही जगह है कि एक ही पांव रखा जा सके। वह पांव उसी विद्रोही का है, यानी 'हम' का है। वह कठोर चरण है जो आततायी को रौंद देगा। अतीत के काले पापों के अंधकार में यहां लाल आग का रथ भावी गौरव का चिह्न बनकर भागता हुआ दिखाई देता है।

परंतु दार्शनिक का कहना है कि यह यात्रा तो योंही चलती रहेगी। यह रुकेगी नहीं। सफर बराबर बना ही रहेगा। न जाने कितना समय बीत चुका है। इसकी गणना करना भी एक भ्रम ही है। यह तो अनादि अनंत पथ है। इसका भेद असल में कोई पहचानता नहीं है :

आँधियों को चीरता इन्सान चलता ही रहेगा
हो न पाएगा सफर लेकिन कभी कम!
एक युग क्या कल्प बीते, कल्प भी भ्रम एक मन का,
है न कोई आदि, कोई अंत है इसके सृजन का।
जग इसे निर्मित किसी की कल्पना से जानता है।
पर न कोई ठीक इसके भेद को पहचानता है।
स्वप्न के सौ - सौ भुवन रचता, मिटाता, मुस्कराता,
बादलों पर तैरता, नभ जगमगाता, भू हिलाता—
आँधियों को चीरकर इन्सान चलता ही रहेगा,
हो न पाएगा सफर लेकिन कभी कम।

×

फूल - सा इसका हृदय तो शूल - सी इसकी जवानी,
आँसुओं की धार अविरल, है कहीं मीठी कहानी।
दीप - सा जलना इसे भाता, शलभ - सा झूमना भी,
है सुधा प्रिय तो इसे प्रिय है गरल को चूमना भी।

×

ले अटल विश्वास, साधों को जगाता, जगमगाता,
रौंदता काँटे कुसुम, शव यातनाओं के उठाता।
है उगलता आग, आहों से उगलता ही रहेगा
हो न पाएगा सफर लेकिन कभी कम।

—शान्तिस्वरूप 'कुसुम'

परंतु मनुष्य की यात्रा नहीं रुकेगी। उसका हृदय कोमल है और यौवन चुभनेवाला तथा साहसिक है। इसका काम है अपना स्नेह जलाकर जलते रहना, आलोक फैलाते रहना। यह अमृत का प्रेमी तो है ही, परंतु विष भी पीता रहता है।

यहां हम देखते हैं कि कवि किसी विशेष कार्य-लक्ष्य तक ही गंतव्य नहीं बनाता। उसने तो इसे जीवन-दर्शन माना है कि चलना है, विजय प्राप्त करनी है, संघर्ष करना है, द्वन्द्वों में निरन्तर रहना है। चलते रहने पर भी चलने की प्यास कभी नहीं बुझेगी। एक तरह से वह मानता है कि जीवन एक सनसनी है, और सदा ही यह ऐसा बना रहेगा। किंतु जिनका लक्ष्य सीमित है वे और बात कहते है :

यह तूफान गुजर जाएगा अब न रुकेगा
नई जिंदगी लिए आदमी जाग उठेगा,
जाग उठेंगी युग की सोई रक्त धमनियाँ
युग का पौरुष जागेगा, युग-पुरुष जगेगा,
युग के इस सोए - खोए-से शरीर में फिर
नये वेग से प्राण पवन चलनेवाला है,
मत समझो संसार अभी मिटनेवाला है।

—कुमार

इस दृष्टि से जिंदगी को नया होना है। तो नयापन एक विशेष व्यवस्था का ले आना है। युग पुरुष और युग-युग पुरुष—दो दृष्टिकोण है। विपत्तियों को यहां स्थायी नहीं माना गया। हम देखते है कि अब संघर्ष अपने-आप में सीमित नहीं रहा है, वह दर्शन की भित्ति बनाना चाहता है, वह अपने लिए एक व्याख्या चाहता है :

जिंदगी जीत है, विश्वास है, तैयारी है,
मौत विश्राम है, संघर्ष की लाचारी है।

—शिवमंगलसिंह 'सुमन'

प्रश्न उठा कि यदि स्वतंत्रता की आग जगानी है तो कल जब यह लक्ष्य प्राप्त हो जाएगा तब क्या होगा ? तब तो समस्या बदल जाएगी। फिर क्या इस साहित्य का मोल नहीं रहेगा ? तभी उत्तर प्रस्तुत हुआ कि ऐसा सोचना ही गलत है। जीवन और मृत्यु दो तो फिर भी रहेंगे। मनुष्य को सदैव ही सघर्ष करना पड़ेगा। उसके जीवन का संबल सदैव ही एक विश्वास बना रहेगा। मृत्यु भी अवश्यभावी रूप से आएगी। मृत्यु असल मे ऐसी नहीं कि उसे बुरा माना जाए। वह तो थकान है। वह मिट जाएगी, क्योकि क्रम चलता रहेगा। एक व्यक्ति के रूप में मनुष्य को मत लो। संपूर्ण मनुष्य की पीढ़ियों को देखना चाहिए। बस इसी उल्लास में युग लौट आता है :

मुक्ति की परियाँ उतरतीं आज लपटों पर
वीर हँसते उल्लसित हो, काँपते कायर !
मृत्यु में चिर मुक्ति का संकेत घिर आया
राग - दीपक ध्वंस ने आरोह में गाया

जल गए लाखों-करोड़ों मर गए मानव
दीखते चहुँ ओर हत-आहत, असंख्यों शव !
किंतु मरकर दे गए वे मुक्त जीवन-वर !
मुक्ति की परियाँ उतरतीं आज लपटों पर।

—तेजनारायण काक

मृत्यु का विरोध प्रारंभ हो गया। लक्ष्य अब सत्ता से ऊपर उठ आया। मृत्यु जीवन को उठाने का माध्यम बन गई। कवि कहता है : "गाओ ! आज तुम जय राग गाओ। समस्त विहाग को भैरवी में लीन होने दो। तुम्हारी हृदय वीणा क्यों निस्पंद पड़ी है। आज आत्मा का ज्वलंत सुहाग लुट न जाए। जागरण के गान सुनकर आज मृत भी फिर जाग उठें।" (सुधीन्द्र)

यों विद्रोह चलता रहता है। हृदय की वीणा में फिर झंकार भरी जाती है। सारे-सारे राग मिलाकर उद्‌बोधन के स्वर में लाकर डुबाए जाते हैं। आत्मा का सौंदर्य अक्षुण्ण रखना उसका ध्येय हो गया है।

तो क्या सचमुच सब कुछ सोया हुआ था ! नही ! जागरण और सुषुप्ति मन के विश्वास है। प्रतीक है। पुराने कवि को भी अपने ही सुख-दुःख में प्रकृति को देखने की आदत थी और वह कवि में आज तक वैसी ही चली आ रही है। यहां व्यक्ति मूलतः नहीं बदला है। उसको एक आवेश है :

मुक्ति की मशाल जल,
लाल-लाल ज्वाल जल !
घोर अंधकार है
चल रही बयार है
वृष्टि दुर्निवार है
देश तिमिर ग्रस्त है
देश क्लेश त्रस्त है
ज्योति यह मिटे नहीं
आग यह बुझे नहीं
मुक्ति की मशाल जल !
आज द्वार - द्वार पर
नगर ग्राम बाट पर
आज घाट - घाट पर
दिव्य ज्योति यह जले

भव्य आग यह जले
दास्य दैन्य नष्ट कर
क्लैव्य कष्ट भस्म कर
मुक्ति की मशाल जल !

—तेजनारायण काक

यह 'मार्चिंग' की लय पर बना गीत है। इस तरह के गीत हिंदी में उस समय काफी बने थे, जब सैन्य संगठन की-सी आवश्यकता उत्पन्न हो गई थी।

शहीद बनने की कामना भी कैसी निर्मल थी। उन दिनों काव्य में एक उदात्त भावना तो थी, जो अब धीरे-धीरे व्यक्तिवाद में निकृष्ट दलदल की ओर चली गई है। तब वैयक्तिक विद्वेष कम था, क्योंकि सामने एक महानतर लक्ष्य था। जिस समय काव्य के किसी युग में कोई महान लक्ष्य नहीं रहता, काव्य में ढील आ जाती है। महाकवि सदैव, किसी भी युग में हो—वे ही होते है, जिनका आत्म युग के परमात्म में मिलकर युग-युग का सत्य बन जाता है, और जब शैली से ऊपर वस्तु की स्थापना किसी महान उद्देश्य के लिए होती है। इस समस्त युग में दूसरा सत्य तो सामने आया, परंतु पहला नहीं आ सका। प्रसाद में केवल पहली बात थी, इसीलिए 'कामायनी' 'रामचरित-मानस'-सी व्यापक नहीं बन सकी।

जन-जीवन की विपन्न दशा ने भी कवि का हृदय विचलित किया है :

"यह शव गंगा को जा रहा है। ढोनेवाले परेशान हैं। सब दुःखी हैं, पर शव ऊपर-ऊपर मुस्करा रहा है। वह सोच रहा है—जब तक ज़िंदा रहा पेट-भर भोजन भी नहीं मिला। विश्राम, कपड़े, नींद कुछ नहीं मिले। बड़ा परिवार, महाजन चोर, सड़ी कचहरी, ये सब मिले। दम निकलने से भूख तो मिट गई। सबसे बड़ी खुशी तो यह है कि मेरा तन कपड़े से आज ढंक गया। जीवन-भर न हंस सका पर आज मन खिल पाया है। जलने के पहले कुछ तो संतोष मिल गया।" (कन्हाईलाल मिश्र)

प्रेमचंद की कहानी 'कफन' में भी ऐसा ही चित्र है। परन्तु कवि की कल्पना अधिक तीखी होती है। यहां जब हम शव को ऊपर-ऊपर मुस्कराते देखते हैं, तब कितनी कचोट-सी मन को लगती है। तब यह क्रान्ति वास्तविक आधारों पर जागी है, यह तो स्पष्ट-सा लगता है। तभी कवि नाश पहले चाहता है। बिना मिटाए नया कैसे बन सकेगा ! यह वस्तुतः नाश नहीं है। यह तो सृजन का नया देवता है। यह न होगा तो काम कैसे चलेगा। जैसे यम ही भयानक है, परन्तु वही धार्मिक के लिए स्वयं धर्मराज है, उसी प्रकार कवि नाश को ही सृजन मानता है :

नाश जागे सृजन का नव देवता बन
आँधियों से लड़, न पग पीछे हटा तू।

व्यक्ति तक सीमित रहे वह हर्ष क्या है
ध्येय जिसका स्वार्थ, वह संघर्ष क्या है
विश्व के अगणित प्रताड़ित मानवों को
दे न जो संतोष, वह उत्कर्ष क्या है,
सृष्टि का कल्याण गति की चेतना है
भूल अपना सुख जगत् का दुःख बटा तू।
सर्वग्रासी द्वेष बन मृदु प्यार जागे
क्रूरता का वार बन गल-हार जागे
नाश जागे सृजन का नव देवता बन
और खण्डित विश्व बन परिवार जागे
माँग भरने शून्य बलि की वेदिका की
बढ़ अकेला, शीश निर्भय हो कटा तू !

—पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

अपना दुःख क्यों सोचा जाए ! लोक में क्या कम दुःख है ! शायद बुद्ध ने भी ऐसा ही सोचा होगा, परन्तु तब वह विजयी हुआ था। उसने बलिदान दिया था अपने सुखों का। नये युग की समस्या नया बलिदान चाहती है ! तभी कवि अब बलिदान की व्याख्या करता है :

"अधरों की मुस्कान विजय का पुरस्कार नहीं है, पंथ की सीमाओं का ज्ञान कर्म की पूर्ति नहीं है। स्वतंत्रता दासता से तन की उन्मुक्ति नहीं, आत्मत्याग की शक्ति है। अब इतिहास की देन को वरदान बनाना है। रात बीत गई। विहान हो गया। जहां कल्पना चरम सत्य का तत्त्व पा लेती है, वहां मानवता देवत्व पाने को उत्सुक होती है।"

(विद्यावती मिश्र)

केवल कह जाना काफी नहीं है। हमारी हजारों सीमाएं हैं, परंतु उनका जान लेना ही क्या काफी हल है। तन दासता से छूट गया तो क्या हुआ, मन भी तो साथ ही बदलना चाहिए, क्योंकि उसके बिना दंभ ही चारों ओर छा जाएगा। जो अधिकार प्राप्त करने को बढ़ रहे हैं, उनका मानसिक स्तर अत्याचारियों से कहीं अधिक ऊंचा होना चाहिए। इसलिए आत्मत्याग की शक्ति होनी चाहिए। भारतीय चिंतन इस सत्य को सदा से ही स्वीकार करता आया है। पहले यह वैयक्तिक रूप में था, अब यह समष्टि रूप में है :

जल रहा रक्त की ज्वाला में
कंकाल विषमता का विषाद

संघर्ष क्रान्ति की छाती से
कर चुका पलायन भाग्यवाद
रख चुकी अशोषित मानवता
नूतन भविष्य की ओर चरण
जन-रव के चित्र उतार रहा
कवि-कुल की वाणी का निनाद
मिटने की जागृति तृष्णा में
डगमगा रहे हैं सिंहासन
गीतों की धरती पर नाचो
उन्चास पवन बरसो सावन !

—शील

तभी कवि के मन में एक भ्रम उत्पन्न होता है। वह देखता है कि आस्था एक कल्पना का गहनतर होकर स्थिर हो जाना मात्र है। वह किसी दिन टूट भी सकती है, क्योंकि आखिर मनुष्य ही तो उसे बनाता है। परिस्थिति बदल जाने पर उसके टूट जाने में क्या-क्या लगता है :

"जिस दिन अपनी हर आस्था तिनके-सी टूट जाए, अपने अंतरतम के सभी विश्वास झूठे निकलें, तब किन चरणों में इस लक्ष्य-भ्रष्ट मन को अंत में शरण मिल पाएगी ? जब दुहरा भ्रम छा जाए, हर सूत्र जिसे हम प्रभु स्वर समझे है आडम्बर-सा प्रकट हो, हर कदम झूठा पड़े जैसे चौसर का पिटा मुहरा, तब किन चरणों में शरण मिलेगी ?"

(धर्मवीर भारती)

तब मनुष्य क्या करेगा ? तब वह स्वयं ही यह उत्तर प्राप्त कर लेता है :

"उस दिन तुम्हें मैं शरण दूंगा। मै जनपथ हूं, मैं प्रभुपथ हूं, मैं जीवन हूं। जिस क्षितिज-रेखा पर पहुंचकर व्यक्ति की राहें झूठी पड़ जाती है, मैं उस सीमा के बाद फिर आगे उठनेवाला नवीन अथ हूं जिसमें विषमता का हर अंतर्द्वंद्व-विरोध अंत में शमन हो जाता है।" (धर्मवीर भारती)

हर हालत में जनता रहेगी और जीवन रहेगा। यह आस्था, यह विश्वास तो सब इसीके लिए हैं। अथ का अंत नहीं है। यह दृष्टिकोण अधिक संतुलित और व्यापक है। इस सबसे यही लगता है कि कवि बड़ी गहराई से सोचता है, वह वैसे ही नहीं बहता। उसमें 'जन' के प्रति अनुरक्ति है :

चारों ओर जल रही ज्वाला !
आज रक्त घृत बन जलता है
हड्डी का ईंधन जलता है

कंकालों की आहुति पड़ती
यह ऐसी भीषण विकराला !
अब तो रहा नहीं जाता है
अब तो सहा नहीं जाता है
क्यों न क्षार कर दें उसको
जिसने जग क्षार - क्षार कर डाला !
आग धधकती ही जाती है
पर इसपर लज्जा आती है
कैसे बचा अभी तक जिसने
इन मासूमों का घर जाला !

—शिवमंगलसिह 'सुमन'

अब वह सबसे ऊपर 'जन' को रखता है। वह सत्ता क्यों बनी रहे जोकि सुख में कांटे डाल रही है, आग लगा रही है। उसकी सत्ता वची हुई है यह कितनी लज्जा की बात है। उसे तो कभी का नष्ट कर देना चाहिए था। यह कितनी बड़ी कचोट है ? तभी कवि कहता है :

"हे कवि ! सब कुछ नवीन देकर भी विधाता ने तुम्हें चिर ज्वलित व्यथा का रोग दिया है। फूलों से गात रचकर, भाग्य में शूलों का भोग लिख दिया। जीवन का रस-पीयूष तुम्हें नित्य जग को दान करना है। तुम नीलकंठ हो ! तुम्हें तो गरलपान ही लिखा था। तुम संतोष करो। शायद खारी लहरों पर तिरता आशा का तुम्हे कोक मिल जाए। हे कवि, रोओ ! शायद आंसू के बीच धरणी को नया आलोक मिल जाए।" (दिनकर)

तो क्या कवि का हृदय सवेदनशील होने के कारण ही उसे सब कुछ औरों की तुलना में अधिक व्याकुल करता है ! परन्तु यह सत्य है कि कवि सत्य की तह तक जाता है, क्योंकि वह उसे सोचता-मात्र नहीं, उसका अनुभव भी करता है। बात मस्तिष्क से हृदय पर उतर आती है। उसे इसीलिए यह लगता है कि संभवत: उसकी वेदना से ही मनुष्य के कल्याण को सहारा मिलेगा, वह कहता है :

मैं अपनी चेष्टाओं को चील की झपट नहीं बनाऊँगा
कि जहाँ सड़ा-गला दीखा चोंच मार दी,
विचारों को भूखे भेड़िये की जीभ नहीं बनाऊँगा कि जहाँ
दुधमुंह गोश्त दीखा दांत मार दिए।
मन जो काई के गड्ढे में धँस गया है
बुद्धि जो अंगारे की तरह रुई के स्तरों में सुलग रही है
सीना जो छटपटाहट हाहाकार से चीख रहा है

एक 'मुस्कराहट' के साँचे में ढालने की चाहत ने
अंदर की रस सिक्त जड़ों को केवल कुछ
काँटों के झाड़ों में बदल दिया है।[1]

नई-नई उपमाएं हैं। सब उसी विषमता से उत्पन्न झुंझलाहट के रूप हैं। अब वह चाहत से परे उठना चाहता है। एक तरह से नये युग का कवि मध्यकालीन संतों की घुटन से कम नहीं झेलता। वे परमात्मा के लिए आत्मा का विकास चाहते थे। अब का कवि लोक के लिए गाता है :

"मुझे छूना नहीं; मुझे छूकर तो पत्थर भी गल जाते हैं। हे प्रियतम ! मेरी वाणी के स्वर कभी निष्फल नहीं जाते।" (श्यामसुन्दरलाल दीक्षित)

वह इतना गर्म क्यों है ? है, क्योंकि उसमें तीव्रतम संवेदना है। वह अपनी वाणी की अमोघता जानता है। एक बात है कि अपने बारे में पुराना कवि कभी इतनी बढ़-बढ़कर बातें नहीं करता था। इसका कारण था कि वह 'मैं' होता था। आज का कवि जब 'मैं' कहता है, तब उसका मतलब एक 'हम' से होता है। इसलिए उसका 'मैं' कोई आत्म-श्लाघा नहीं बनता। 'मैं' का साधारणीकरण नये काव्य की एक विशेषता ही मानी जा सकती है। क्योंकि :

कठोरताओं के कुछ फूल
विपरीत मौसम में खिलते रहते हैं।[2]

कहकर वह प्रकट कर देता है कि उसे सदैव ही विरोधों का सामना करना पड़ता है। और जो सदैव सनसनी में रहता है उसका व्यक्तित्व उठा हुआ रहना भी आवश्यक ही है। धरती का बोल जो बदल गया है :

धरती दिन-दिन गुस्ताख हुई-सी जाती है
अब अंबर का शासन इसको स्वीकार नहीं।
वे चूस-चूस लेनेवाली रवि की किरणें
है देख रही धरती के तेवर बदल रहे।
दिल खौल रहा, माथा तपता, तनती छाती
ये सारे सागर - सर-नद-निर्झर उबल रहे।
वह नभ निचोड़ लेने उठती, अब पावस के
उन बातों का बंधन इसको स्वीकार नहीं।

---

१. 'हाड़-मांस की संस्कृति' —शिवनारायणसिंह सुयोगी।
२. वही।

यह कड़ी पड़ रही है कि क्षितिज के रक्त सने
वे कड़े दाँत थककर ढीले पड़ते जाते
धरती का लोहू भी विष बनता जाता है
तन सभी दिशाओं के नीले पड़ते जाते।

×

वह रो-रोकर थक गई कि आँसू सूख गए
अब वह निज चरणों में आकाश झुकाएगी
वह खप्पर भरकर शंकर के वक्षस्थल पर
फिर झूमेगी, तब नूतन विश्व बसाएगी।
वह आज मुक्ति के गाएगी फिर गीत नये
परवशता का क्रन्दन इसको स्वीकार नहीं।

—श्रीहरि

ईश्वर को शोषकों ने अपना साधन बना रखा है, इसलिए कवि पृथ्वी और आकाश का झगड़ा दिखाता है। कालिदास ने भी राजा की तुलना सूर्य से की थी। नया कवि उसी कल्पना को आगे बढ़ाता है और नये तथ्य सामने रखता है। परंतु केवल गीतों से होता भी क्या है ?

"गीत दुःख कम नहीं कर पाते। लिखे भला कोई क्या-क्या किस-किस पर ! रूढ़िग्रस्त जड़ हुए विश्व में अपनों के अपनों से नाते !" (शांति)

यों कर्म अलग हो उठता है, उद्‌बोधन अलग। यह इसलिए कि अनुभूति केवल कहने-सुनने से तो अपनी तृप्ति नहीं कर पाती।

केवल रोने से काम नहीं चलता।

मुक्ति का गीत गाने की अभिलाषा इसीलिए है कि परवशता का क्रन्दन कवि स्वीकार नहीं करना चाहता।

प्रकारांतर से, भिन्न-भिन्न कोणों से समस्या पर कवि लिखते हैं और उसे अधिक से अधिक जनता के पास ले जाने की चेष्टा करते है।

जागरण एक ज्वाला है। ज्वाला उस शक्ति का पर्याय है, जिसमें विध्वंस की शक्ति भी है और प्रकाश भी है :

ज्वाला है यह ज्वाला !
नन्हें-नन्हें दीन झोंपड़ों में
जो सुलगी धीरे-धीरे
लाल-लाल नटखट लपटों की
माला है यह माला !

जिसने चाहा महल बनाना,
महल उठाना—
जला क्षार कर आश्रय जन के,
निर्बल के नत जन निर्धन के,
मेहनत की रोटी का टुकड़ा,
धरती दो पग—
छीने जिसने चिथड़े तन के;
पर्दे डाले चाँद सितारों पर सूरज पर
बुझा दिए दो दीप नयन के !
युग बैरी उस क्रूर कंस के छल प्रपंच को
भस्मसात करने को उद्यत
जन-जागृति के नव प्रभात की
ज्वाला है यह ज्वाला,
लाल-लाल नटखट लपटों की
माला है यह माला।

—शंकर शैलेन्द्र

इस ज्वाला में बड़े-बड़े गुण हैं। यह महलों को नष्ट करने की शक्ति रखती है। अभी वह इतनी बड़ी नही हुई है, वह झोंपड़ो में बिखरी हुई है। वह तैयार हो रही है।

परंतु यह किस रूप में तैयार होगी यह कोई स्पष्ट नहीं कर सका। उस समय यह लगता था कि यह संघर्ष शीघ्र ही समाप्त हो जानेवाला है।

जन की ज्वाला—जागृति का रूप क्या है ? वह तो वास्तव में बौद्धिक चेतना का प्रसार है। मैं क्या यह कह सकता हूं कि यहां कवि के विश्वास का सत्य यद्यपि यथार्थ के सत्य से मेल खाना चाहता था, परंतु खा नहीं सका, क्योंकि दोनों अवस्थाओं में कवि ने किसी भी समाज के 'व्यक्ति' के द्वारा भावचित्र नहीं दिया, अपने को ही 'नायक' बना लिया :

मैं लड़ाई लड़ रहा हूँ मोर्चे पर
ज़िंदगी की फौज मेरी शक्तिशाली—
आज आगे बढ़ रही है—
वेग से, बल से, उमड़कर चढ़ रही है,
आततायी बैरियों की फौज ढहती जा रही है—
आप ही अपने हृदय के द्वन्द्व को मैं मारता हूँ···

मैं अचेतन और उपचेतन सभी पर
वार करता जा रहा हूँ
व्यक्तिवादी सभ्यता को
ध्वंस बिलकुल कर रहा हूँ।
मैं हिमालय को रगड़कर
रास्ते की धूलि का कण कर रहा हूँ
स्वर्ग में बैठे हुए छवि देवता को
मानवों के साथ जीने
और मरने के लिए ललकारता हूँ
सामने जाकर उसे धिक्कारता हूँ
और कहता हूँ कि आ,
इन हड्डियों से तोल अपना काव्य कायर !
देवियों के रूप के आराधकों को—
जो बँधे हैं प्रेम के स्वर-तार से ही—
लौह की कटु शृंखला से बाँधकर मैं खींचता हूँ
और जन-संघर्ष में लाकर उन्हें,
फौजी बनाकर छोड़ता हूं।

—केदारनाथ अग्रवाल

यह 'मैं' एक अतिशयोक्ति बन गया। यह 'मै' 'हम' नहीं बना, क्योंकि इसमें समय से पहले ही एक 'अह' का उदय हो गया। वास्तव में यह कवि में एक हीनत्व की भावना हुई, क्योंकि उसे दिन-प्रतिदिन राजनीतिक कार्यकर्ताओं से सामना पड़ता था। वे कर्मठ बनते थे और कवि जो कि उन्हे राह दिखाता था, अब वे कवि को राह दिखाने लगे और तब कवि को अपनी ईमानदारी और वीरता की व्याख्या देनी पड़ी कि—मैं भी लड़ रहा हूं, तुम सिर्फ मेरे मोर्चे को देखो। नतीजा यह हुआ कि यथार्थ ऊहा बन गया और तनिक ही कोण के बदल जाने से बात भी बदल गई। परंतु फिर भी राजनीतिज्ञों पर इसका विशेष प्रभाव नही पड़ा। हिंदी कवियों में यह थोड़ा-सा दोष अवश्य रहा कि राजनीति की बजाय वे राजनीतिज्ञो मे दब गए, यद्यपि राजनीतिज्ञो का चेतन स्तर कवि की तुलना में निम्न स्तर का होता है। परंतु सर्वत्र ऐसा नही हुआ :

आज न जिसने कलम गड़ाई
पशुवत अत्याचारों में
उस कायर कवि की गिनती है
नवयुग के हत्यारों में।

लेकर अपनी कला कमल-सा
जो कीचड़ में फूल बना
मानवता के महायज्ञ में
जो जन जलती तूल बना
जीवित रहकर इस जगती के
चुभते कांटे चुन डाले
और धन्य है वही, भरा जो
जनता के जयकारों में।

—शिवसिंह 'सरोज'

यहां हमें वही स्वतंत्रता मिलती है और ज़्यादा असरदार चीज भी मिलती है। वैयक्तिकता में चमत्कार आता है, अतिशयोक्ति आती है। 'मैं' सदैव ही 'हम' बन जाए ऐसा नहीं होता, भले ही वह बाहर से ऐसा लगता रहे।

"ऐसा रंग भर दे कि मेरे स्वर खिचें। हर सांझ वर बनकर सुनहरे आद्रिल शत-शत कमल मेरी गीत-सरिता में खिल जाएं। और हे मनस्वी ! अगर तुझसे बन सके तो दुःख की तस्वीर बना दे, जो मैंने अपने जी को चीरकर रक्त से लिखी है। कुदाली पर झुके मज़दूर की ज्वाला जगाकर स्वप्नों को सत्य कर दे। मैंने उनकी बात सौ तरह की है। अगर तूने सिसकते प्राण से कूंची ली है तो अपनी प्यालियों में ऐसा रंग घोल जोकि मेरी रगों में रुक-सा गया है। अगर तुझसे बने तो मेरा शीश जो झुक-सा गया है उसे ऊंचा कर दे।" (भवानीप्रसाद मिश्र)

यह चित्र कहीं अधिक सशक्त है। कवि चित्रकार से कहता है। यह द्वन्द्व कही अधिक सच्चा और प्रभावशाली है। गीत ही तो सब कुछ नहीं है। तो संघर्ष उतर आया मज़दूर पर—जन-जीवन के चित्र पर।

अब मज़दूर की मनोव्यवस्था और कवि की मनोव्यवस्था में क्या भेद नहीं है ? अवश्य है। इसीलिए हमें आवाहन ऊंचा मिलता है, जिससे मध्यवर्ग जाग सकता है, मज़दूर नहीं :

आती है आवाज समन्दर गूंज उठा है, जूझ उठा है,
गुमसुम महलों का अंतर भी हुंकारों से चीख उठा है।
नभ पर छाए आज प्रलय के बादल भी भूचाल उगलते,
धरती डांवाडोल बदलती है, करवट के भारी झटके।
सरमायेदारों की कब्रों पर मातम छाया जाता है,
कुर्बानी पर जली मशालें पथ आलोक बनेगा साथी।

आता है तो आने दो धन के अजगर को फन फैलाए,
देखें रक्त-भरे प्याले को उन अधरों से कौन लगाए।
जहरीली उस्वांस गरल की जो आगे बढ़कर पीता है,
नई जिंदगी की ताजी घूंटें पी-पीकर जो जीता है।
लाखों कदमों से जख्मी है उसका फन अब सड़ा पड़ा है,
आज लहू से भीगा झण्डा सब की शान बनेगा साथी।

—मृणाल

इसका कारण है जनता में भाषा का अलगाव। हिंदी प्रांत में अनेक बोलियां हैं। यही कविता यदि किसी बोली में होती तो लोक में उतर गई होती। हिंदी के कवि को इसकी बड़ी भारी हानि रही है कि जिस साहित्यिक भाषा में वह लिखता है, वह व्यापक तो बहुत है, परंतु कहीं भी प्रादेशिक नहीं है। शिक्षा ही इस व्यवधान को दूर कर सकती है। साहित्य की भाषा शिक्षित वर्ग की भाषा है।

शिक्षितों पर इस काव्य ने प्रभाव डाला है, यद्यपि इसकी एकांगिता तब ही तक मोह सकी जब तक कि समस्या अपने बाह्य रूप में प्रखर और ज्वलंत रह सकी। उसका प्रभाव आज भी है अवश्य :

जय जय जय जनधारा
जय जन-जीवन-धारा !
प्रथम कल्प के अरुणध्वज-शृंगों से जो गति फूटी,
उस सरिता की धारा शत कल्पों में कभी न टूटी।
महाकाल के जटा-जूट में खोई यह जन गंगा,
खोई कभी युगों के गिरि गह्वर में चपल तरंगा।
मौन मरण ने बार-बार जीवन की गति को घेरा,
प्राण तरंगित ज्योति शिखा को डँसने लगा अँधेरा,
नव विकास के व्रती, प्रगति की गंगा के अभिमानी,
जन जीवन के अमर साधकों ने पर हार न मानी !
खुला पुनः अंतःसलिला का उत्स गिरि-शिखर तल से,
ज्योतिर्मय स्वर जल तरंग के उठे धरा अंचल से।
जिसे भगीरथ ने विवेक के धरती बीच उतारा,
स्वप्नों के दीपों से जिसका गतिमय रूप सँवारा !
जय जन गंगा धारा—

—शम्भूनाथसिंह

परंतु उतना नहीं जितना तब था। इसका कारण यही है कि जहां सैद्धांतिक

व्याख्या प्रखर हुई और अनुभूति प्रबल नहीं रही, वहां ढील आ जाना स्वाभाविक ही हो गया। वे चित्र जिनमें विषमता एक प्रदर्शन के रूप में आई वे प्रभाव खो बैठे—"देखो वहां उस धनवान की मीनार खड़ी हो रही है जिसने जन्म-भर रजत के भगवान की अर्चना की है। राजपथ, स्मृतिसौध, विद्यालय आदि इसके नाम से बने हैं। इस देश को बेचकर इसने इनके लिए कुछ रकम दान की है। जो देश पर, दस पर मर-मिटा है, उसका कहीं परिचय नही मिलता। उसके तो बच्चों को अनाथालय भी नहीं जुटता।"

(हंसकुमार तिवारी)

मनुष्य को वर्गों में बांटना सहज नहीं है। केवल आर्थिक जीवन ही उसके समस्त कार्यकलापों की व्याख्या नहीं कर देता। अपनी जगह कवि भले ही ठीक हो, परंतु वह यहां संपूर्ण चित्र को नहीं देख पाता। यदि यही कवि संपूर्ण चित्र अन्यत्र देता तो अवश्य ही प्रभाव पड़ता। वह काम इन कवियों में से कोई भी नहीं कर सका क्योंकि युद्ध तो सामने रहा :

खाइयों में मौत की
जो गा सके गायक वही है
जो न पथ की कठिनता से
रुक रहे, पायक वही है।

×

मुझे लगता है कि यह लिखना
नहीं है काम कोई
कर नहीं सकते लहर कर स्वर
हवा में नाम कोई।

उसे अपने विशेष कार्य-लेखन पर ही विश्वास नहीं रहा। उसे राजनीतिज्ञों ने दबा लिया, पर लिखता वह गीत ही रहा :

हर बदी में नेक का हिस्सा है
मेरे नेक समझो
मौत के इस उजेले में
आदमी को एक समझो
और अपनी इस समझ को
शोर के ऊपर उठाओ
आज चुप बैठो नहीं हे
इस तपन के बीच आओ!

—भवानीप्रसाद मिश्र

आह्वान भी है, उससे दूर जाना भी है, परंतु जन-जीवन का वस्तुपरक चित्र नहीं है। आत्मपरक संयोजन ही कविता का प्राण नहीं बन सकता, उससे एकरसता आ जाती है।

'आत्मकला : कविता के प्रति' कवि कहता है :

"हे सुरसरि! जन-सिंधु की ओर चलो। तुम व्यापक लोक का आधार स्वीकार करो।" (जानकीवल्लभ शास्त्री)

चलो! करो! मरो!

चले! किया! मरे! यह नहीं हुआ।

कहने और करने में भेद आ गया।

किंतु जहां भावभूमि को तैयार करने का प्रश्न था वह हिंदी में ठीक-ठाक हुआ। और अच्छा हुआ, यद्यपि उसका श्रेय किसी एक कवि को नहीं दिया जा सकता। इसका कारण था कि कवि अपने को सैनिक समझते थे, नायकत्व राजनीतिज्ञों के हाथ में था।

अंधकार से लड़नेवाला मेरा यह विश्वास जयी हो
सर्वनाश क्या नवल सृष्टि का सपना कभी मिटा पाया है?
क्या न प्रलय के मरुप्रदेश में जीवन-उत्स उमड़ आया है?
क्या न निशा के शून्य अंक में ही जागी ऊषा सुकुमारी?
अश्रु स्रोत की रेखाओं पर मेरा यह मधुहास जयी हो!
अंधकार से लड़नेवाला मेरा यह विश्वास जयी हो!
पतझड़ पर छा जाने वाला मेरा यह मधुमास जयी हो,
अवसादों पर हँसनेवाला मेरा यह उल्लास जयी हो
अंधकार को पीनेवाला मेरा यह निष्कम्प निराकुल
अंधकार को पीनेवाला मेरा प्रखर प्रकाश जयी हो!
अंधकार से लड़नेवाला मेरा यह विश्वास जयी हो।

—जितेन्द्रकुमार

सब कुछ जयी हो, परंतु जयी हो—राजनीतिज्ञ ही, क्योंकि कवि लोककथाओं में नहीं उतरा। इसीलिए आगे चलकर एक ओर कुत्सित समाजशास्त्र की अति हुई, दूसरी ओर व्यक्तिपरक प्रयोग प्रारंभ हो गए और जहां काव्य को लोक में उतरना था वहां वह असफल हो गया।

सिद्धांत अपने-आप में अपूर्ण सत्य होता है। वह जन-जीवन के यथार्थ से जब तक मेल नहीं खाता, तब तक वह अपना प्रसार नहीं कर पाता। कवि झुंझला उठता है :

"कैसे रहूं यहां? निष्ठुरता सस्ती होती जा रही है। यह अंधेर नगरी है, मूर्ख शासक हैं। उनके भाव जड़वत् हैं।" (दीनानाथ व्यास)

फिर हमें दार्शनिक की दृष्टि मिलती है और कवि पूर्व और पश्चिम की व्याख्या करता हुआ मिलता है कि पश्चिम का विज्ञान और पूर्व का अध्यात्म किसी प्रकार अपना मिलन कर सके :

"पश्चिम में पौरुष-निपुणता है, पूर्व में तप, त्याग और श्रद्धा है; दोनों उदय-पथ पर कंधे और कदम मिलाकर चलेगे। प्रभु की सृष्टि सीमाहीन है।" (नरेन्द्र)

प्रभु की ओर फिर दृष्टि जाती है। और साथ ही पृथ्वी का मूल्य भी बोलता रहा है :

"बलि की वेदी पर पड़ी पपड़ियों को उछाल अब अपने सूरज और चांद उग आएंगे। अंजलि-भर जल से भी दूर्वादल उगते है। वसुधा मूल्य के बिना कभी कुछ नहीं लेती। जब हम उसका अग शोणित से सींचते है तब वह हमें बदले में सूरज-चांद देती है।" (दिनकर)

जो भी हो, ध्येय वही लोक-मंगल का बना रहता है, यही श्रेयस्कर है, क्योंकि उसमें मानवतावाद को प्रश्रय मिलता है :

मंगल चरण धरो !
जीवन-पथ के दुर्गम अथ पर
पुण्य साधना के गति-रथ पर
केतन बन फहरो !
उर के तार-तार में कम्पन
प्राणों में लेकर नव स्पंदन
चेतन बन लहरो !
वर्ष, मास, दिन यों ही बीते
जीवन-घट के कण-कण रीते
पावन कलश भरो !

—प्रभुदयाल द्विवेदी

बात यह थी कि वस्तुपरकता में कवि को आत्मपरकता छूटती लगती थी। ऐसा कवि कोई नहीं हुआ जो इन दोनों का तादात्म्य करके 'चरित्रों' की सृष्टि करता, एक 'उदात्त चित्र' प्रस्तुत करता, युग-निर्माण करता। कारण यह था कि दोनों का सामंजस्य वह नहीं कर सका। आज के युग में किसी एक नायक की कल्पना रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी नहीं कर सके। 'प्रसाद' ने की तो वह रूपक बन गया। आदर्श इस प्रकार सैद्धांतिक रहा। लोक को मार्ग दिलानेवाला 'वीर' कोई भी नही दे सका, यद्यपि प्रयत्न करने पर 'रूपक' ही सही समस्या का हल हो सकता था। उसने मगल गीत भी गाए :

पुलकित तन हो
मुकुलित मन हो
हरित-भरित-पूरित जीवन हो !

×

सतत अभ्युदित
जन-जन प्रमुदित
सर्व सुखद सुन्दर समाज हो !
अधर-अधर पर
हास अनश्वर
सिर-सिर पर अमिताभ ताज हो !

×

मिटे दनुजदल
हटे अमंगल
जल, थल, नभ सर्वत्र शांति हो !

—नागार्जुन

प्रार्थना का-सा गीत भी गाया। अपने स्वप्न को उसने साकार भी देखा। ऐसा हो जाए ! कैसे ! यह तो हुई मार्ग की बात, परंतु कल्पना की सुन्दरता ध्येय का बिंब बनी और आधेय बना विश्वास।

"शेषनाग ने केंचुल छोड़ी, धरती ने काया पलटी। नाश और निर्माण के दो पग रखकर नियति-नटी नाच रही है। सदियों के विषैले अंगारे बुझते-बुझते भड़केंगे। बहुत शोर होगा, किंतु कैदी की कठिन हथकड़ियां टूटकर ही रहेंगी। देश-देश के जन जागेंगे। वर्ग-स्वार्थ की तलवारें चमकेंगी। विगत युगों के विकृत अभावों के विस्फोटक फूटेंगे।"

(नरेन्द्र)

भविष्य में आशा को प्रमुखता दी गई। इसका यही कारण था कि कवि का यथार्थ, लोक के यथार्थ से आगे रहा। दिनकर ने युग-समस्या को 'कुरुक्षेत्र' के पात्रों में रखा। चित्र उभरे। किंतु वह एक बौद्धिक चीज बनकर रही। ओज-मात्र ही तो व्यापक कविता नहीं है। यदि दिनकर का सत्य और व्यापक बनता, तो संभवतः वह भी 'साकेत' और 'प्रियप्रवास' जैसा काव्य बन जाता, जो अपनी बाह्य वस्तु-परकता के कारण 'कामायनी' जैसे नहीं बन सके, या जिनकी वस्तुपरकता के अभाव में कामायनी उन-सी न बन सकी। नया कवि चिल्लाता रहा :

विद्रोह करो, विद्रोह करो
आओ वीरोचित कर्म करो

मानव हो तो कुछ शर्म करो
यों कब तक सहते जाओगे
इस परवशता के जीवन से
विद्रोह करो, विद्रोह करो !
क्या जीवन व्यर्थ गँवाना है
कायरता पशु का बाना है
इस निरुत्साह मुर्दा दिल से
अपने तन से, अपने मन से,
विद्रोह करो, विद्रोह करो !

—शिवमंगलसिंह 'सुमन'

कवि-सम्मेलन में यह कविता काफी सफल रही होगी, क्योंकि इसमें आवेश है, ललकार है, परंतु ऊपरी सतही ओज है। इसमें हृदय की आग को भड़कानेवाली शक्ति नहीं।

जानकीवल्लभ शास्त्री का स्वर मैंने प्रायः ही बड़ा गंभीर पाया है, जैसे काव्य के विषय में वह सदैव जागरूक रहा है :

"नर, लक्ष्मण की रेखा लांघो। सोने की लंका को जलने दो ! नारी, अपना तेज निखरने दो। क्या तुम्हें अग्नि की आशंका है ? तुमने घिस-घिसकर कृश पड़ते-पड़ते मिट जाने की ठानी है क्या ? घूंघट का पट खोलो, देखो किरणें अगवानी कर रही हैं। जागृति-युग-उषा अनवगुण्ठित है। तुम नर की जीवन सहचरी हो। समतल गति में कुण्ठित क्यों हों ?" (जानकीवल्लभ शास्त्री)

उसने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को देखने का चेष्टा की है।

नयी कविता में 'बातचीत' है। एक से जैसे दूसरा कहता है। परंतु पुराने श्रव्य काव्य में कवि अपने श्रोता से सीधे-सीधे कुछ नहीं कहता था। वह एक 'दृश्य', एक 'चित्र', एक अपना ही 'संसार' खड़ा करता था। श्रोता उसे अपने सामने पाकर उसमें डूबता था। आज के कवि में अपने पाठक से सीधा संबंध स्थापित करने की इच्छा है :

ओ नौजवान !
ओ नौजवान !
तेरे भ्रूभंगों से सीखा करता है प्रलय नृत्य करना,
तेरी वाणी से सीखा करता काल ताल अपनी भरना।
तेरी उमंग से सिंधु तरंगें सीखा करती हैं उठना
तेरे मानस से सीखा करता गगनांगन विशाल बनना

मेरे असीम ! सीमा मत बन
तेरी ही पृथ्वी आसमान !
ओ नौजवान !

—सोहनलाल द्विवेदी

इसका कारण है कि कवि आज 'प्रबंधात्मक' नहीं है—'मुक्तक' है। 'प्रबंध' का कौशल अपना एक लोक रचता है—'रचना का लोक' बनाता है। वह उतने बड़े स्वप्न के अभाव में मुक्तक में बदल गया है। तभी कवि का गीत 'बातचीत' बन गया है :

"ओ साथी ! बीच राह में थककर मत गिर पड़ना। पथ में उन अमिट रक्त-चिह्नों की शान बनी रहे। पीछे नौजवान मर मिटने को आते हैं। इस वन में जहां अशुभ शृगाल रोते हैं, जनसत्ता की विशाल नगरी निर्मित होगी।" (रामविलास शर्मा)

सभी कवि एक ही बात कहते हैं। इसीलिए सबकी बात में एक-सा ज़ोर है। इसीलिए कोई भी एक-दूसरे से अधिक दूर नहीं है।

यथार्थ का अंकन युग का प्रभाव है। ऐसा सदैव होता है। केवल नयेपन के लिए नयापन भी इसीकी प्रतिक्रिया बनकर प्रयोग बनी। किंतु दोनों ही ओर से अभी 'महा-प्राण कवि' जन्म नही ले सका। आज भी वैसे विविध चित्र तो सामने आते हैं :

देह समर्पित करती पत्नी, नारी करती प्राण
वह भर्ता को सुख देती, यह करती प्रिय कल्याण।

×

पुरुष दीप यदि ज्योति प्रसारक पत्नी वर्ति समान
दी'त उभय को करनेवाला घृत नारी को जान।
काम-मोह का मुग्ध शलभ पड़ जिसमें होते क्षार;
स्नेह चुका, जल गई वर्तिका, दीप हुआ बेकार।

—गौरीशंकर मिश्र 'द्विजेन्द्र'—'सावित्री' से

परंतु हमें कहीं भी संपूर्ण 'भाव' का चित्र नहीं मिला। इस युग में कविता को शृंगार, करुणा, बीभत्स, वीर तथा रौद्र रस मिले। परंतु वे एक ही धुरी में बंधे रहे और उनकी गति चक्रवत् इतनी तेज़ रही कि पाठक उनको घूमता ही देख सका। यह है नयी कविता का अभाव। आज दूर से देखने पर ही मैं इसे देख सका हूं। फिर वही कहूंगा कि संतुलित स्वर ने इसकी भी व्याख्या की है :

"व्यर्थ ही स्वर्ण अतीत याद आता है। हम हार को ही जीत कहते रहे हैं। हम वृत्तियों के क्रीत दास बने हैं। हम न वैर समझ पाए न प्रीति। स्वार्थ का संकल्प पूर्ण करने को हम यहां आकल्प लड़ते रहे हैं। संधि-विग्रह की घिसी-सी बात दिन-रात मन

मलिन करती रही। आदर्श तो सदैव आलोक ही रहा, परंतु क्रिया में अशोक अंधकार रहा। पांव नंगे थे, सिर पर ताज ही धरा था। आदमी आज क्या हो गया है!"

(जानकीवल्लभ शास्त्री)

इस आदमी को 'देश' की परिस्थित ने ऐसा बांधा था, उसे भी देखना आवश्यक है। वह काव्य का एक नया 'पात्र' था।

आत्म और लोकसंवहन

राष्ट्रीयता जब उग्र नहीं होती तब प्रेम मानव-मात्र से होता है।

"पच्छिम में काले और सफेद फूल हैं और पूरब में पीले और लाल। उत्तर में नीले रंग के और हमारे यहां चम्पई सांवले। दुनिया में हरियाली कहां-कहां नहीं है, जहां भी आसमान ज़रा बादलों से पोंछे जाते हों! आज गुलदस्तों में रंग-रंग के फूल सजे हुए हैं। आसमान इन खुशियों का आईना है।" (शमशेर बहादुरसिंह)

नया कवि देश के लिए पृथ्वी के प्रेम को भी स्वीकार करता है। किंतु अपना देश जब परतंत्र है तो निश्चय ही ध्यान उसीकी ओर केन्द्रित हो जाता है। उसकी व्यथा भी सिमट आती है।

"ओ मन, तू हंसता है कि रोता है? तू वीणा के मन की हूक नहीं कह पाता, बस खिंचे-खिंचाए तार छेड़ता चलता है।" (वीरेन्द्र मिश्र)

वह देश के लिए नया स्फुरण चाहता है। देश पिसा हुआ है। विदेशियों का दमन-चक्र उसपर चल रहा है। उसे वह कैसे देखे बिना रह सकता है? और विशेषतया उस समय जबकि सब संघर्ष में लगे हुए हों।

"प्राची में नव जीवन का कवि, रवि निकल रहा है। वह तम के पत्रों पर ज्योति के अक्षर लिख रहा है। किरणों के स्वर से महान मानव अभिनंदित है। अपने नींद-भरे नयन खोल रहा है। कोटि-कोटि कण्ठ एकसाथ मंत्र बोल उठे—जय महान एशिया! जय महान एशिया!" (शंभूनाथसिंह)

सारा महाद्वीप ही ललकार रहा है। भारत की जो आग पुनरुत्थान के रूप में भारतेन्दु हरिश्चंद्र से मैथिलीशरण गुप्त तक राष्ट्रीय बनी रही थी, वह अब देश की सीमा में ही बद्ध नहीं रहना चाहती। अब वह पुरातनता को लौटाना नहीं चाहता। वह देखता है कि अन्यत्र भी दासता के विरुद्ध संघर्ष हो रहा है।

देश तो मां है। उसका बुरा हाल कैसे देखा जा सकता है। पहले तो स्वदेशी राजा के लिए मांग थी, अब ऐसा नहीं है। अब तो देश की जनता का भी प्रश्न है:

भाँज लो पलकें, उघारो नेत्र
अलसाए नयन रणबाँकुरे

शोभा नहीं देते
तुम्हारी ये थकी बाँहें
अपरिचित जोश ले फड़क
रगों में फिर रवाँ हो नौजवानी की
रवानी आज वह सैनिक
बहा ले जाए लहरों में
अचर चर और चेतन को
झुका दे माथ चरणों पर
अचल उन्मत्त धौलागिरि···
अरे ओ बाँकुरे बनकर सघन घन तुम
गगन पर आज छा जाओ···
अतुल उत्साह की बन चंचला
नभ पर दमक जाओ
बरस दो आज इस बेहाल जननी का फटा आँचल
सुझा निज सत्व पा कृतकृत्य हो जाए···

—इन्द्रप्रताप तिवारी

तुम वीर हो। तुम्हें मां की रक्षा करनी ही होगी। भारतमाता की यह पुकार बंकिमचंद्र ने बंगाल में सबसे पहले जगाई थी। तब से वह निरंतर चली आई। किंतु अब देश का प्रतीक 'जन' हो गया।

"हल-लेखनी जन-यातना के सारे श्लोक लिख रही है। अमावस-श्रम के जन-चंद्र-सूर्य-तारे उग आएं! जन-दिवाली को किरन की क्या कमी है! यंत्र और खलिहान जन-क्रान्तियों के पाल हैं। मुक्ति हो तो, जन के सृजन की क्या कमी है!" (नरेश मेहता)

'जन' में बड़ी शक्ति है।

जन सोया पड़ा है तभी तो यह दरिद्रता, यह दासत्व है। जन यदि जाग उठे तो फिर कठिनाई ही क्या है? राष्ट्रीय आंदोलन ने इस सत्य को जाना था। महात्मा गांधी ने अपनी पुकार जनता तक पहुंचाकर शक्ति एकत्र की थी। वह नेता जनता की परि-स्थिति, उसका मानसिक स्तर और व्यथा समझता था। उसने वीरता की सांस फूंक दी थी। कवि भी गा उठा :

गाओ नहीं जनाने कड़खे धन्वा की टङ्कार में,
डहके धातु न तो सरगम क्या राख बने अंगार में।
खिले न यौवन फूल गुलाबी मधुवन के अनुराग में,
दमके प्राण कनक कुन्दन बन लावाओं की आग में।

सूख गया प्राणों का रस निज पौरुष के निर्माण में,
बाधाओं के मस्तक पर चढ़ अकड़े जो तूफान में।
रेते नहीं समय के फरसे खरबूजे की फाँक में,
जीवन की हल्दीघाटी में मिटे न जो घिस खाक में।
टूट पड़ें उन्चास पवन जो सजकर तीर-कमान में,
पाषाणी ठोकर खा लौटें ठुकराए अरमान में।
रौंदे टाप न संघर्षों की डिगे न डगमग-भार में,
फटे नहीं मजबूत कलेजा नियागरा की धार में।
पिघल उठे यदि अन्तर मेरा उद्वेलित अनजान में,
गंगा - जमना फूट बहें तो जग के रेगिस्तान में।

—रामइकबालसिंह 'राकेश'

गंगा और यमुना की धाराएं हिंदी कवि के मन में नया उत्साह उद्वेलित करने लगीं। वह ज़नाने कड़खे गाने के विरुद्ध हो गया :

प्यारे स्वदेश के हित अंगार माँगता हूँ
चढ़ती जवानियों का शृंगार माँगता हूँ।
तम - भेदिनी किरण का संधान माँगता हूँ
ध्रुव की कठिन घड़ी में पहचान माँगता हूँ।
पंचास्य· नाद भीषण विकराल माँगता हूँ
जड़ता विनाश को फिर भूचाल माँगता हूँ।
उन्माद बेकली का उत्थान माँगता हूँ
विस्फोट माँगता हूँ तूफान माँगता हूँ
विष का सदा लहू में संचार माँगता हूँ
बेचैन ज़िंदगी का मैं प्यार माँगता हूँ।

—दिनकर

देश के लिए बलिदान मांगा जाने लगा। स्वदेश एक वेदी बन गया। जवानों से कहा गया कि आओ बलिदान दो। एक हलचल जाग उठी। बेचैन ज़िंदगी जैसे प्यार मांगने लगी।

"आंखें मूंदे, धधके प्रकाश में कब तक पड़े रहोगे! खंडहर तो छोड़ दो! भूगोल और खगोल डोल रहे हैं। निद्रा और तन्द्रा के हाथों बेमोल बिके हुओ! अब जाग उठो!" (जानकीवल्लभ शास्त्री)

पुरातन के प्रति मोह से कुछ लाभ न था। हम क्या थे, क्या हो गए—इसीपर रोने से कोई लाभ नहीं था। वह जो बीत गया, बीत गया। वह लौटकर नहीं आ सकता।

आसक्ति यदि वर्तमान से नहीं है, तो वह व्यर्थ ही है, क्योंकि उसमें गति नहीं है। नयी शक्ति की आवश्यकता है :

नये बोल की इस मशाल को लहू पिलाकर
जला-जलाकर कठिन अँधेरे को काटा है।
इस दलदल के पथ को खँडहर के चूरे से
तरुणाई के दृढ़ हाथों ने ही पाटा है।
पटी भूमि पर यह सरस्वती का मन्दिर है।
जिसके अन्दर मुघड़ सलौनी मूर्ति गढ़ी है।
अनगिनती दधीचि के बलिदानी पुण्यों के
अस्थि-राशि की ईंटों की ही नींव पड़ी है।

×

रस की रास सँभाले कवि सारथी बना है।
नवछंदों के अश्व, सूझ-पथ पर दौड़ाता
नवल स्फूर्ति की टाप, धूल शब्दों की उड़ती
नये बोल का रथ, चलता नवलोक बनाता।

—यतेन्द्रकुमार

कवि कृष्ण की भांति बैठा है। अर्जुन है जनता। अब संग्राम चाहिए। जैसे कृष्ण ने गीता का अभियान दिया था, वैसे ही कवि भी बोलता है। कवि हिमालय तक को जगा सकता है। वह देश के गौरव का पुंजीभूत स्वरूप भी उसके वज्रगर्जन से जाग उठ सकता है।

"मेरे नगपति ! मेरे विशाल ! तुम मेरी जननी के हिमकिरीट हो ! मेरे भारत के दिव्य भाल हो ! तुम युग-युग अजेय निर्बंध मुक्त रहे हो। नित महान, तुम युग-युग गर्वोन्नत रहे हो !" (रामधारीसिंह दिनकर)

फिर क्या है जो निद्रा का त्याग करने से रोक सके।

नयी कविता में देश-प्रेम सचमुच बड़ी तीव्र अनुभूति के साथ प्रकट हुआ है। वह भले ही सार्वभौम न हो, किंतु स्वदेश में उसका धार्मिक मंत्रों का-सा प्रभाव है।

और दयनीय स्वदेशवासियों को कवि त्राहि-त्राहि करते देखता है तो वह चिल्लाकर कहता है कि अपना आत्मसम्मान मत भूलो। तुम मनुष्य हो, इसे क्यों भूले जा रहे हो ! तुम कीड़े नहीं हो :

तुम्हें जानना है मनुष्य, तुम और नहीं कीचड़ के कीड़े
जो आहार तथा मैथुन कर मर जाने को जीवन पाते
तुम्हें आत्म सम्मान चाहिए !

तुम्ह जानना है मनुष्य तुम नहीं गुलाम देवताओं के
और न उनके दया पात्र ही, और न उनके ऊपर निर्भर
तुम्हें आत्म अवलंब चाहिए !
तुम्हें जानना है मनुष्य तुम और मानवी अधिकारों पर
जबकि खड़े होगे तुम डटकर कोई शक्ति नहीं ऐसी जो
तुम्हें हटा दे तिल-भर पीछे, तुम्हें आत्म विश्वास चाहिए।

×

इसीलिए यह अपनी वाणी तुम्हें भेजता हूँ चंदे में
संभव है तुमको कुछ बल दे और कालिका करे प्रेरणा
निकल पड़ो तुम सहसा कहकर—
अपनी रोटी अपना राज,
इन्क़लाब जिन्दाबाद ! —बच्चन

कवि अब वाणी भेजता है चंदे में। नया ही प्रयोग है। अपनी रोटी और अपना राज ! दो पुकार है। पूर्ण स्वतन्त्रता ! अरे वैभव के मोह ! तू तो बार-बार सता रहा है। कहां गया वह भारत का गौरव !

"तू अवध पूछ कि राम कहां है ! वृंदा ! बताओ घनश्याम कहां है ! ओ मगध! तेरे अशोक, चंद्रगुप्त—वे बलधाम कहां है ! मिथिला भिखारिणी-सी पड़ी है। इसने अपनी सारी अनंत निधियां कहां गंवा दी। ओ कपिलवस्तु ! बुद्धदेव के वे मंगल उपदेश कहां गए ?" (रामधारीसिंह दिनकर)

सब कुछ चला गया !
क्यों ?
अतीत था न ?
हम अपने स्वत्व को संभाल नही सके।
किंतु हम मरे तो नही ?
मरेंगे कैसे ! हमारी तो धरती में जड़ें हैं। हम तभी जीवित है.

वह फूल भला क्या फूल, भरा जिसमें जीवन्त पराग न हो ?
वह यौवन क्या, जिस यौवन में जीवन की जलती आग न हो ?

—द्विजेन्द्र

यौवन भी है, क्योंकि उसमें मर मिटने की तमन्ना है। कारागार क्या कवि का मन तोड़ सकता है। भला वह क्या तोड़ेगा ?

सैकड़ों-हज़ारों कारा में तड़प रहे हैं। कवि भी उन्हीं में से एक है। वह भी अपने को दुःख में केवल सुखी रखने के लिए पीछे नहीं भाग सकता।

'देवली की दुनिया' नरेन्द्र की एक तीखी कविता है। वह अपने को एकाकार कर देता है जन-समुद्र में। परंतु उसकी दृष्टि केवल राजनीति के दायरे में ही बंधी हुई-सी नहीं रह जाती, घुटकर सीमित नहीं हो जाती :

पर जो दूर गरजता सागर हम भी उसकी एक लहर हैं,
उस विशाल के कण हैं हम भी महाकाल के एक प्रहर हैं।
गति को कब तक बाँध सकोगे पूछो पहरेदारों से ?
हाथ उठाकर होड़ लगाएँ लहरों की ललकारों से।

—नरेन्द्र शर्मा

वह अपने को सृष्टि के साथ देखता है। गति को जिस प्रकार कोई नहीं बांध सकता, बग़ावत भी नहीं बांधी जा सकती, क्योंकि वह भी तो गति है। गति में विकास है, अंशों का फैलाव है। स्थिरता और जड़ता उसे रोक नहीं सकतीं।

अपना यह देश कबसे पीड़ित है ?

शताब्दियों से।

क्यों ? क्योंकि इसमें कुछ कमजोरियां अवश्य चली आई है। क्यों नहीं उनका निराकरण कर दिया जाए कि फिर यह कष्ट बार-बार लौटकर न आए। कवि देश को इस पुरानी पीड़ा को समझता है :

युगों से त्रस्त, पीड़ा ग्रस्त, मेरे देश के मानव
सहे तुमने अनेकों युग दमन के;
आग में तृण से जले झोंके गए,
अपमान क्या, सब लूटकर भी ले गए
कटु आततायी क्रूर, हँसते व्यंग से हो दूर
जिनने कर दिया है देश की प्रत्येक जर्जर झोंपड़ी का
चोट से प्रति अंग चकनाचूर !
मेरे स्नेह की वर्षा।

—महेन्द्र भटनागर

पीड़ा के कारण एकता का भाव उत्पन्न होता है। दुःख में एक-दूसरे से कहने की प्रवृत्ति जन्म लेती है। सुख में होती है अहं की प्रतिद्वन्द्विता। पीड़ा कहां तक अपना प्रभाव रख सकती है। वह स्वतंत्रता और परतंत्रता की राजनीति में नहीं, वैयक्तिक घुटन में पलती रहती है :

"पीर सबके पास है, तू ही केवल अकेला नहीं है। भूमि का कण-कण स्वयं पीर का साकार मेला है। जो आग सूरज को मिली है यह भी दर्द का अनुराग है। पीर कहती है कि एकाकार होना ही पड़ेगा।" (मुकुटबिहारी सरोज)

वह जब थक जाती है तो पुराने—अतीत में प्रश्रय खोजती है। अतीत अच्छा लगता है। यह मनुष्य की एक सहज निर्बलता है। क्यों ? क्योंकि अतीत पर झिलमिल छाया रहती है !

नालंदा ! ! "वह मधुमय संसार एक सपना-सा था। आह ! वह अनंत छवि-जाल ! पुण्य प्राची का स्वर्णिम काल था। हंत ! आज उस स्वर्गिक जग का यह दुरंत कंकाल पड़ा है।" (केसरी)

इस कंकाल को अब कब तक वे पुराने गीत सुनाए जाएं ! उनसे लाभ क्या है ?

कुछ नहीं। इसे तो नयी शक्ति चाहिए।

कवि इसे जानता है।

तभी वह नवीनता की ओर अधिक अग्रसर है। वह बड़ी ईमानदारी से पूछता है कि यदि तुम बलिदान का मोल चाहते हो, तुम स्वतंत्रता कैसे चाहते हो ? संग्राम में तो न जाने कितने अज्ञात बलि-वीर अपने को होम देते है, तब जाकर फल प्राप्त होता है।

जो मिटते है, वे अकारण नहीं मिट जाते। वे एक नया स्वप्न साकार करके जाते है :

मिट्टी वतन की पूछती,
वह कौन है, वह कौन है,
इतिहास जिस पर मौन है !

जिसके लहू की बूंद का टीका हमारे भाल पर
जिसके लहू की लालिमा स्वातन्त्र्य शिशु के गाल पर
जो बुझ गया गिरकर गगन से निमिष में तारा सदृश
बच ओस जितना भी न पाया अश्रु जिसका काल पर
जो दे गया जीवन विजन के फूल-सा हँस नाश को
जिसके लिए दो बूंद भी स्याही नहीं इतिहास को !
वह कौन है ?

जिसके मरण के नेह से दीपक नये युग का जला,
काजल नयन के मेह से मरुथल मनुज मन का फला।
चुनता गया पद-पद्म से कंटक मनुज की राह का,
विष दासता को, मुक्ति को निज मृत्यु का अमृत पिला,
चुभती न स्मृति जिसकी कभी जी में किसीके शूल-सी
झरते न जिसपर आँख से दो आँसुओं के फूल ही !

—हंसकुमार तिवारी

उनकी मृत्यु भी अमृत होती है। शहीद एक आदर्श हो गया। शहीद पर कई

गीत लिखे गए और उनमें काफी मार्मिकता भी रही।

कवि ने सबकुछ त्याग दिया। केवल ज्ञान अपने लिए रखा। क्षमा, त्याग और शील को सर्वोच्च स्थान दिया। ये उसकी स्वदेश वंदना थी।

भरत भूमि की मृत्तिसिक्त मानस के सुधा क्षरण से
भरत भूमि की मृत्तिदीप नरता के तपश्चरण से।

×

जय उनकी जो नर निरीह धूसरजन के नायक हैं,
हम विद्याधन विप्रमृत्ति की महिमा के गायक हैं।

—रामधारीसिंह दिनकर

इस प्रकार एक ओर हम यह देखते है कि जनता का दुःख कवि को रुलाता है, तो दूसरी ओर हम लोक के कष्टों का भी चित्रण देखते है। ये कष्ट ही करुणा को जगाने में समर्थ होते है।

बोलियों में यद्यपि कविताएं हिंदी में लिखी गई, किंतु अपनी सीमा के कारण वे अधिक प्रचलित नहीं हो सकी। यहां एक चित्र है :

ओही रे जनक राजाजी के अपन मिथिला
आजु देख पड़इ छइ मसान।
अंग-अंग फूलइ छलइ एक दिन भइया
आजु ओही बनल विरान
गाँव-गाँव घूमि जाहु देखि लेहु भइया
कृश गोरु पड़ल बथान
नयन से अँसुवा ढरइत रहइ, हडिया
झलकइ देहिया बेजान
काटि देत जिंदगी चवन्नी मास पर एहि
ठाकुर क गइया चरान
मड़ुआ कै टुकवा ओ चुटकी-भर नोनमा
एहि लागि जीवन बितान
चूई चूई महुआ रोदन करइ रतिया
दुख गिर हथनीक जान
चेति जाहु चेति जाहु मिथिला के बसिया
चेत मन करहु गेयान।

—गोपीरमण रावत

मिथिला के वासियों की यह पीड़ा कैसी करुण है, कैसी है इसकी पृष्ठभूमि !

महुआ रात को गृहस्थिन के दुःख देखकर रोता है।

किंतु लोक-मंगल की भावना यहां न जाने कब से जीवित चली आई है। अश्वत्थ भारतीय अध्यात्म-चिंतन में अपना बहुत पुराना स्थान रखता है। कवि के लिए वह बुद्धत्व का प्रतीक है, करुणा का प्रतिनिधि है। उसको याद करके कवि उसी लोक-मंगल की भावना को जाग्रत् करता है :

धन्य है अश्वत्थ जो आश्वस्त करता रहा
पीढ़ियाँ मनुजता की।

—शिवमंगलसिंह 'सुमन'

मंगल राग और विद्रोह का गर्जन, दोनों ही हिंदी में साथ-साथ चलते है। अंगरेज हिंदी नही पढ़ते थे, न देश के नियन्ता नेता ही, अन्यथा वे भी इस तड़पन का अनुभव करते। और यह तमाम उस भाषा का गौरव है, जिसके प्रति विशेष प्रेम यही के शिक्षितों के मन में भी नहीं था। इतने अपमानों में रहकर भी यह भाषा कितनी प्रचण्ड बन सकी है। यही है वह स्वर जिसने कहा था :

कौन रोक सकता टोली आगे बढ़ते दीवानों की
आज चली है सेना फिर से धीर वीर मस्तानों की
वे कल चले आज हम जाते परसों उनकी बारी है
दर-दर में उत्सव जुलूस है घर-घर में तैयारी है
मिला सुयोग युगों में हमको माँ के पद का पूजन है
कितने शीश चढ़ें चरणों में आज बृहद आयोजन है
अंबर में ध्वनि गूंज रही जननी के जयजय गानों की।
बलिवेदी पर भीड़ लगी है आज अमर बलिदानों की।

—सोहनलाल द्विवेदी

कितना प्रभावशाली चित्र है। बलिवेदी पर अमर बलिदानों की भीड़ लगी है। आकाश में मां के जयगानों की ध्वनि गूंज रही है।

कवि "भविष्य के खंडहर की गहराई नाप रहा है। वह पर्वत से राई की ऊंचाई नापता है। रूठे दिन लौटकर नहीं आते, यह वह जानता है। व्यक्ति से लंबी उसकी परछाई पड़ती है। वह मंजिल पर पहुंचकर पथ की लंबाई नाप रहा है।"

(नर्मदेश्वर उपाध्याय)

कवि बड़ा कौशल जानता है।

युग से बड़ा वह कभी-कभी दिखाई तो देता है। आज सारा वह कोलाहल डूब चुका है। इतिहास बदल चुका है। यदि कही अब वह सब जीवित है तो कविता में। दुर्भाग्य से उसका अभी अध्ययन विस्तार से नहीं हो सका है। हम भी अकेले सबके साथ

न्याय नहीं कर सके हैं। एक-एक शब्द में कितना उन्माद है :

हम तो हैं उनके मतवाले बलि-पथ पर जो रक्त चढ़ाते
विजय मिले या मिले पराजय अपने शीश दान कर जाते
हम तो हैं उनके मतवाले कौन नहीं होगा मतवाला
जिसने गोवर्धन उँगली पर उठा लिया, गुरु भार सँभाला
उन विशाल बाँहों के बल पर जय अपनी रण दुर्धर्षों में
धर्मों के पाखंडवाद का भ्रम मिटता है धीरे - धीरे
राष्ट्र - धर्म जग रहा मोक्षप्रद गंगा-यमुना तीरे - तीरे
आज मातृ मन्दिर उठता है बलिदानों की अचल शिला पर
तरल तिरंगा लहर रहा है विजय-केतु बन सबके ऊपर
कोटि-कोटि चरणों की ध्वनि में कोटि-कोटि स्वर के घर्षों में
आज राष्ट्र निर्माण हो रहा अपना शत-शत संघर्षों में।

—सोहनलाल द्विवेदी

आज तिरंगा लहराता है। उसे देखकर इस गायक के मन में कितना हर्ष उमड़ता होगा। उसने एक दिन उसकी वंदना की थी। उसने कोटि-कोटि हाथों और चरणों की ध्वनि सुनी थी। सौ-सौ संघर्षों में भी राष्ट्र का निर्माण देखा था।

हिंदी के कवियों ने मां को गौरव दिया है, कलंकित नहीं किया। वे वीरता में पीछे नहीं रहे। उनके हृदयों में आत्म-सम्मान गरजा है, इसे इतिहास नहीं भुला सकेगा। उनकी दृष्टि में 'प्रांत' नहीं, 'सोने का प्रांत' नहीं, संपूर्ण देश रहा है :

जन्मभूमि, मातृभूमि, पितृभूमि ! वन्दना !
रागभूमि, त्यागभूमि, भागभूमि ! अर्चना !
विश्व में उठा हिमाद्रि का विशाल भाल है
सिंधु, ब्रह्मपुत्र, गंग मंजु कण्ठमाल है।
है समुद्र धो रहा सदैव पाँव चूमता
फूल है चढ़ा सुगंध पर समीर झूमता
चाँदनी हँसी खिली वायु प्राण-सी मिली
है तुझे निहार स्वर्ग की समस्त कल्पना !
धूप, मेह, धार, शीत और हेम अन्त है
पत्र झाड़, फूल गूँथता हुआ वसन्त है
है गँभीर गर्जना कभी सरस फुहार है !
चंचला चमक कभी सुरम्य इन्द्रहार है !
आरती उतारती ! वेश को सँवारती !

मूर्तिमान हो गई जहाँ सुरूप कामना !
देश में अनेक वर्ग वर्ण जाति धर्म हैं
भाव हैं अनेक बोल हैं अनेक कर्म हैं
कोटि-कोटि रूप में परंतु एक प्राण हैं।
मान एक ज्ञान एक, ध्यान एक गान है।
एक आज शक्ति है, एक भाव भक्ति है !
कोटि-कोटि प्राण की अभिन्न आज भावना
आज कोटि-कोटि का जिसे कि बाहुबल मिला
कौन कह रहा कि वीरभूमि आज निर्बला
आज जागरण हुआ कि हम सदा स्वतन्त्र हैं
आज लोक के स्वकीय तंत्र मंत्र यंत्र हैं
आज एक कल्पना, आज एक चिंतना
आज भावना यही, समस्त सिद्धि साधना !

—सुधीन्द्र

यह कविता बहुत ही गेय और ऊर्जस्वित गरिमा का प्रतिनिधित्व करती है। स्वर्गीय सुधीन्द्र की अमर कीर्ति की स्थापना के लिए यह एक कविता ही काफी है। यहां हम केवल यशोगान नहीं पाते, प्रकृति का वरदान भी पाते है। जाति-द्वेष हटता हुआ दीखता है और करोड़ों की अपार शक्ति हरहराती हुई सुनाई देती है। यह कवि की एक श्रेष्ठ कविता है, जिसे देश-प्रेम की कविताओं में अवश्य ही संकलित करना चाहिए।

देश और विश्व का संघर्ष भी एक होता दीखता है :

जागे मंगल वाणी !
नवयुग की पगध्वनि में जागे अखिल विश्वकल्याणी !
जागे जन पद-ग्राम-नगर में
गृह-वन में सरिता-सागर में
अथक विहग-सी नीलाम्बर में
जागे जनगण के अंतर में
स्वप्न-भंग-से निर्झर-सी फिर बहे अमर युगवाणी।
महामृत्यु के पथ में गूंजे कवि की भैरववाणी !
जागे जन पशुहीन नगर में
नवयुग के उन्नत शिर नर में
अरुणोदय-से नीलाम्बर में
जागे मुक्त राष्ट्र के स्वर में

शीघ्र सफल हो युगद्रष्टा की अविकल भविष्यवाणी !

—रामविलास शर्मा

यद्यपि अंतिम भाग में कविता में से शक्ति चली गई है, क्योंकि संभवतः यह देखा-देखी लिखी गई है, परंतु उठान इसका बहुत अच्छा हुआ है, जिसे कवि आगे तक निर्वाह नहीं कर सका। इसके लिए यही स्तुत्य है कि एक आलोचक ने कविता तो लिख ही ली। सहज कवियों में यह निर्बलता नही मिलती। वह तो अनेक रूपो में बात कहता है, "सीमित स्वरों में मधुभाव नहीं लाए जाते। कुछ ऐसे भी मधुर गीत होते है जो गाए नहीं जाते। निर्झर जब सिर पटकता है तब शिखाएं डोल उठती है। तभी हंसकर स्वयं ही कल-कल बोल उठती है।" (उपमन्यु)

इस प्रकार की कविताएं यद्यपि सीधा प्रभाव नही डालतीं, किंतु आशा का स्वप्न जगाए रखती हैं। कृत्रिमता नही होने के कारण ही इनमें शक्ति मिलती है।

चंद्रभूषण त्रिवेदी ने युद्धकालीन भारत का एक सुदर चित्र दिया है। इसमें कवि भारत का रखवाला बनता है और वीरता को प्रोत्साहित करता है। उसने हिमालय और सागर का वही परंपरागत वर्णन किया है, किंतु उसकी शैली अपनी है, जो लोकगीत की-सी सरसता अपने में ले आती है :

हम भारत के रखवार वीर !
यहु देस कि जहि पर छत्रुधरे बहु हरसि हिमालय छुवत गगन
धरती पर चरन पखारै का, सागर हुँबकावत हाथ अपन
बहि चली जटनते पञ्चनदी, गंगा - जमुनी है कण्ठहार
जो अपनी पोढ़ी छाती पर, है धारे विन्ध्याचल पहार
बम्बई बंग बरबण्ड भुजा, जिनमाँ सागर का रोस भरा
जेहि भुईं के कनकनमाँ अबहूँ, है रजपूती का जोस भरा
तेहिके सेवक सरदार वीर।
हमरेहे पुरबज हैं दधीच, जिनकी हड्डी का बज्र बना
सब देउतन कै कइकै सहाय, जेहि निश्चर-दल का दम्भ हना
होइ कालरूप विकराल वीर।
है यहैं जनम भइ राम केरि, औ हियें कृष्ण अवतार लिहिनि
जो दुष्टन का कइ गरब चूर, औ धरती का उद्धार किहिनि।
भे भीषम भीम बली पारथ, गाण्डीव किहिसि टंकार घोर
परताप बीर, लछिमीबाई, रनु किहिनि अजादी का अघोर
अइसे पुरिखन की धरती का, कोउ कौंदि-रौंदि धनु विभउ हरै

तौ ई देहीं की नस-नस का, कस कहौं रकतु ना उबलि परै
हम भारत पर बलिहार वीर !

—चंद्रभूषन त्रिवेदी

अपने पूर्वजों के प्रति उसे बड़ा अभिमान है। ऐसे पूर्वजों की धरती का कोई क्या बिगाड़ सकता है। किसका रक्त इसकी रक्षा के लिए नहीं उमड़ पड़ेगा। ये सारे इस भारत पर बलिहारी है।

वैसे दशा देखी जाए तो कवि के पास क्या है ?

"न स्वर्ण की तरी पास है, न पर्ण की तरी है। आसपास कहीं समुद्र की परी भी नहीं दीखती। किंतु असीम शक्ति अपनी बाहु में रखनेवाले अनंत स्वप्न के व्रती ! तुम हार न मानना। तुम्हें लहर पुकार रही है। सामने विनष्ट विश्व है, किंतु हार न मान लेना, क्योंकि लहर नवीन सृष्टि का स्वप्न लेकर तुम्हें निहार रही है।"

(शंभूनाथसिंह)

सारा देश ही दरिद्र है। केवल एक स्वप्न है। शक्ति है तो भुजाओं की। समष्टि ही शक्ति है।

अरुणोदय में गाने योग्य एक सुंदर गीत यह है :

जगा है फिर से भारत देश
पूर्व क्षितिज पर अरुणिम आभा का नूतन उन्मेष
कीर्ति धवल हिमवान मुकुट है
विस्तृत शाद्वल सुख सम्पुट है
गंगा - यमुना की धाराएँ
जिसके अंतर को सरसाएँ
शीतल रस से ओतप्रोत है जिसकी भूमि अशेष
सिंधु तरंगित है चरणों में
अतुलित है जो उपकरणों में
ऊषा जिसकी अमर पताका
जो शाश्वत आधार विभा का
सदा संयमित और समन्वित जिसका अंतर्देश
श्री - शोभा है जिसकी दासी
क्षमा - शान्ति का जो विश्वासी
युग - युग के उत्थान - पतन का
साक्षी है जो जग - जीवन का,

कोलाहलमय जग को देता सदा शांतिसंदेश
जगा है फिर से भारत देश।

—भारतभूषण अग्रवाल

यदि इसकी भाषा तनिक और सरल होती तो संभवतः लोग इसे गा भी उठते।

यह निश्चय है, मैं दुहरा दूं, कि इन कविताओं का प्रभाव सार्वदेशिक नहीं हो सकता, क्योंकि भारत का वर्णन भी अंततोगत्वा किसी वस्तु के बाह्य का वर्णन है। जो भी अनुरक्ति है वह अपने स्वार्थ या अपने अनुराग के कारण है। वह अन्यों में क्यों हो! जिस प्रकार रामचरितमानस अति व्यापक होते हुए भी भारतीय मुसलमानों पर अपना प्रभाव नहीं डाल पाता, क्योंकि उसमें बाह्यरूपेण सांप्रदायिकता समझी गई है, उसी प्रकार राष्ट्रीय कविता में हमारी कितनी भी व्यापक अनुरक्ति क्यो न प्रकट हुई हो, इतर-देशीय इसमें दिलचस्पी नहीं ले सकता। परंतु इस कारण इसे हम छोड़ तो नहीं सकते। हमारी समस्या स्वयं एक संस्कृति को प्रतिबिंबित करती है। हमें समझने की इच्छा रखने-वाले को पहले हमारी सस्कृति समझनी होगी।

अपने शत-शत हाथ पसारे गंगा-यमुना की लहरें हैं
कोटि भुजाएँ बढ़ती जातीं.स्वागत के हित कदम बढ़े हैं
अपने इतिहासों के काले पृष्ठों को है हमें बदलना
अपनी पिछली भूल सुधारें आज न पीछे कभी फिसलना।
अंतिम साँस गुलामी ने ली आज समय ने है ललकारा
खून हमारा खौल उठा है आज़ादी ने आज पुकारा।

—प्रलयंकर

हम स्वयं अपने को बदलकर उज्ज्वलतम कर लेना चाहते हैं। स्वाधीनता तो समानता का नाम है।

एक समय था जब भारत का आंदोलन हारिल की भांति उठा था। हारिल जब उड़ता है तब पंजों में एक तिनका लिए रहता है। हमारे आंदोलन ने भी अपनी सीमा को पकड़ा था। इसीको कवि ने सुंदर ढंग से प्रकट किया है:

"हारिल पौरुष का मदमाता है। वह बैठकर पुकारना-गाना अपना धर्म नहीं मानता। वह बैठा रहना अपने कुल का कर्म नहीं मानता। वह अनुकंपा नहीं मांगता, वह अपना समकक्षी मांगता है।" (सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय')

किंतु हारिल निर्भय था। वह उड़ा। वह व्यक्ति के रूप में समाज में विद्रोही था, राष्ट्र के रूप में संसार में।

शक्ति ही उस समय प्रमुख आह्वान का पात्र बन गई। उसे एकत्र करने के लिए सब सन्नद्ध हो उठे। मैंने इस प्रकार की इतनी अधिक कविताएं पाईं कि मैं उतना ही

परेशान हो गया, जैसे हिन्दी साहित्य के इतिहासकार परवर्ती रीति कवियों की भीड़ देखकर होते रहे है। युग-विशेष में जैसे स्वर में स्वर मिलता ही है; वही बात है, परंतु अधिकांश उसमें नया स्वर है :

आज शत-शत कण्ठ में फिर स्वरों का वरदान जागा
आज जन-जन के हृदय में मुक्ति का सन्मान जागा
आज जागा शेष कि काँपी धरा नभ डगमगाया
ज्येष्ठ के मध्याह्न से स्वर-ताप जब मैंने चुराया
कण्ठ में स्वर नवल जागा हृदय में बन सबल जागा
नयन में नव ज्योति जागी देह पर नव वेश जागा
आज मेरा देश जागा देश का अभिमान जागा
आज मेरे देश के अपमान का प्रतिदान जागा
आज कण-कण के हृदय में शक्ति का उपमान जागा !

—जगदीश

शत, कोटि, ही आगे आनेवाले शब्द है। इतना निश्चित है कि हिन्दी का कवि एक बहुत बड़े शिविर में आ गया था और उसे अतीत की उलझन रोक नहीं पाती थी।

"अतीत के हित झंखने से क्या लाभ ! चिर नवीन के अमर राग से वीणा को मुखरित करो। नियति क्रूर और निर्मम है। उससे भिक्षा मत मांगो। जीवन तो वर्तमान ही मे है।" (मनोरंजनप्रसाद सिंह)

वर्तमान के प्रति इतनी अधिक आसक्ति देखकर रवीन्द्रनाथ ठाकुर एक बार चौंक उठे थे। उन्होने कहा था कि कवि का संदेश राष्ट्रीय परिधि के भीतर बंधकर नही रह सकता, क्योंकि देश के स्वतन्त्र हो जाने पर समस्याएं बदल जाएगी। किंतु युग की पुकार बहुत सबल थी। उनका भी स्वर डूब गया। राष्ट्रीयता घर-घर का दीपक बन गई। जो भी हो, आवेश को तो एक रूप प्राप्त करना ही था, और उस समय वह जन्मभूमि के नाम पर मूर्त हो उठा। हम देखते हैं कि भारतीय चेतना की परपरा के कारण ही जन्मभूमि के प्रति आसक्ति वाह्य रूप तक ही सीमित नही रही, उसका अतस्थ भी कवियों ने प्रदर्शित करने का यत्न किया क्योंकि यहां की सामाजिक व्यवस्था का सैद्धांतिक निरूपण पहले निश्चित हो जाने की परंपरा हमें वेद के 'विराट पुरुष' में ही मिल जाती है।

अयि ! तुम भूतल पर आदि-किरण की माता
दिव का मस्तक भी जिसे देख झुक जाता
ले रश्मिलोक का मंगल मुकुट करों में
वह तेरे पुण्य पगों तक बढ़ता आता

बुझ गया गरल का दीप, प्रात भी आया,
लेकिन बाती का धुआँ कहाँ मिट पाया,
वह तो विष से भी अधिक विषैला बनकर,
इस मिट्टी के स्वच्छन्द शीश पर छाया

×

जो चाह रहा, श्रद्धा के फूल जला दूँ,
अक्षत - चंदन में भी ज्वाला सुलगा दूँ,
जो हुए तृषा से पागल, आग लगाते;
उनकी तो लपटों से ही प्यास बुझा दूँ।

×

हे जन्मभूमि ! वे दिन भी हम लाएँगे
जिनमें झंझा के मेघ न रह पाएँगे
वे नभ से गिर-गिर चूर-चूर हो भू पर
जनता के पद-रज - कण में मिल जाएँगे
हाँ, हेम - राशि वह उपजेगी इस भू पर
जिसको छूकर बंजर - मरु भी हों उर्वर
आशिष दो, सब हों सम, हर्षित, अन्तर्मुख
उसके अधिकारी चिर स्वतन्त्र, नारी-नर।

—राजेन्द्रप्रसाद सिंह

इस प्रकार जन्मभूमि का जो वर्णन है, वह किसी भी देश के व्यक्ति को प्रभावित कर सकता है।

वस्तुतः यह देश के प्रति नहीं पृथ्वी के प्रति कहा गया है। पृथ्वी भी तो जन्म-भूमि ही है।

जन्मभूमि के प्रति जागरण समाज के प्रति भी उद्‌बोधन हो गया। कवि परतंत्र भारत की नारी के प्रति अपनी दृष्टि फिराता है। वह सांस्कृतिक परंपरा को देखता है। किंतु उसे स्त्री भी शोषित दिखाई देती है। स्त्री के अधिकार समाज में प्रारंभ से ही कम रहे हैं। इसीलिए वह उसे भी जगा देना चाहता है। वह भारतीय परंपरा के मान्य स्व-रूपों की अवहेला करके नारी को नये ही रूप में देखना चाहता है। वह कहता है :

बनो पुनः चैतन्य लपट, ओ भस्मावृत चिनगारी
अमिय हलाहल मदमय नयना तुम भारत की नारी !
भोग और सुविधा हित पोषित, योषित पुरुष-मात्र को,
पुत्र और पति करते शोषित जिसके पुण्य गात्र को !

सदियों यों ही रहीं, हाय, तुम श्रद्धा - कामकुमारी !
पूर्णकाम देवेन्द्र इन्द्र ने ठगा, तजा गौतम ने
रघुनायक ने निर्वासित कर दिया लोकरंजन में !
लक्ष्मण और बुद्ध ने तप का समझा कब अधिकारी !
नाच नचाता स्वर्ग, बनाकर तुम्हें उर्वशी - रम्भा ?
गिरने पर भी नहीं गिरीं तुम रहीं शक्ति जगदम्बा ?
सती आज भी दक्ष प्रजापति अहम्मन्य अविचारी ?
मदोन्मत्त हैं मनुज आज भी स्वामी बन सत्ता के
कर शिव को निर्वासित रचते यज्ञ शक्तिमत्ता के !
शंकर प्रलयंकर की सहचरि बारी पुनः तुम्हारी।
युग-युग से इस पुण्य देश पर घन जड़त्व मँडराया
महिषासुरमर्दिनी बनो फिर भुवन-विमोहिनि माया।

×

बनो महालक्ष्मी, अँधियारी—जगती करो उजारी !
सागर का नीलोत्पल, श्यामल शतदल वसुन्धरा का
पदतल पाने को लालायित उदित भानु रँगराता !
प्रज्ञापारिमिता दर्शन दो पावन मंगलकारी ! — नरेन्द्र

उसने अवहेला भी की, परंतु भारतीय संस्कृति तो बहुत व्यापक है। अंत में उसे भारतीय परंपरा में ही उपमान मिल गए। वह केवल दृष्टिकोण का भेद चाहता है।

भारत ज्यों-ज्यों देशांतरों के संपर्क में आया और जैसे उसने अपने अतीत को देखा, उसके दृष्टिकोण की संकीर्णता भी कम होती गई। देश के झगड़ों को देखकर कवि समझाता है :

×

गंगा किसकी नदी नहीं है भारतवर्ष न किसका है ?
आर्य, बौद्ध, हिंदू, ईसाई सभी गोद में खेल चुके;
लहरों के उत्थान पतन को, मुस्लिम जन भी झेल चुके;
सबने इसका फल खाया है स्निग्ध दुग्ध का स्वाद लिया,
इस मिट्टी की हवा रोशनी अन्न और जलपान किया !
भावपूर्ण जीवन का दर्शन शाश्वत हर्ष न किसका है ?

×

पृथ्वी का है मुकुट हिमालय भूमण्डल का है सागर
भारत की सीमा क्या कोई? यह क्या किसी जाति का घर ?

इस उपवन में वर्ण-वर्ण के मुक्त कंठ खग चहकेंगे
गीतों की लंबी बाँहों में सारी दुनिया भर लेंगे!
समता का आदर्श, सत्य का कोमल स्पर्श न किसका है?

—आरसीप्रसाद सिंह

हिंदू-मुस्लिम आदि प्रश्न के कारण यह सामंजस्य लाने का प्रयत्न हुआ। जैसे तुलसीदास ने एक समय शैव, वैष्णव आदि को वैदिक विश्वास और आचार की भूमि पर लाकर एक किया था, उसी प्रकार व्यापक मानववाद की भूमि पर लाकर नये कवि ने विभिन्न मतांतरों को एक करने का प्रयत्न किया। कबीर की दृष्टि इस विषय में खण्डनात्मक थी। नये कवि की दृष्टि इस विषय में राष्ट्रीयता को प्रमुखता देती रही।

संघर्ष की बेला निर्माण बन गई। युद्ध एक सिरजन का प्रतीक बन गया। राष्ट्र का उत्थान मानव का उत्थान बन गया। तभी कवि समरांगण में कहता हुआ मिलता है कि धीरे-धीरे एक दिन विजय अवश्य प्राप्त होगी :

आज राष्ट्र-निर्माण हो रहा
अपना शत-शत संघर्षों में
कहीं विजय है, कहीं पराजय
राष्ट्र उगा करता वर्षों में
वीरव्रती हैं डटे समर में भीरु खड़े हैं बनकर दर्शक,
अपने तन का मोह जिन्हें हो उनको रण क्या हो आकर्षक?
हम तो रणकंकण पहने हैं मरण हमें त्यौहार-पर्व है,
पुरुष पराक्रम दिखलाते हैं, बल-विक्रम का जिन्हें गर्व है।
मिलता है उत्कर्ष सभी को
पार उतरकर अपकर्षों में।
आज जागरण है, जीवन है,
शक्ति जग रही निष्कर्षों में।

—सोहनलाल द्विवेदी

सच ही तो राष्ट्र एक दिन में नहीं बन जाते। उसके लिए समय लगता है। यह निर्माण का समय एक संघर्ष ही है, यद्यपि उसके रूप बदलते जाते हैं।

"राह बनाकर बढ़ना पड़ता है, इसीलिए रुक-रुककर चलता हूं। मैं लौट-लौटकर नहीं देखता। मुझको तो बहते जाना है। मैं कुछ चट्टानों को अवश्य खलता हूं।"

(जानकीवल्लभ शास्त्री)

यों यह यात्रा चलती रहती है। एक दिन यह प्रारंभ हुई थी परतंत्रता के प्रति हाहाकार बनकर। किंतु अब वह धीरे-धीरे बढ़ती-बढ़ती वज्रगर्जन बन चुकी है। नयी

कविता में पुराने काल से यह भेद है। पहले कालों में अतीत का मोह अधिक था, नये काल में निर्माण के प्रति उत्कट लालसा है और अब पीछे मुड़कर देखने की बजाय, वह सारी परंपरा को समेटकर आगे बढ़ता हुआ मिलता है :

जय जय भारत, जाग्रत भारत !
किरणों का पहिने अरुण मुकुट
जिसका हिमाद्रि - सा उच्च भाल !
शत-शत स्वर्गिक लीला मंजुल
गंगामणि मंगल कण्ठमाल !
पूजित करने पद तल
रत्नाकर धरता उर शतदल
लहराता दिशि-दिशि हरा-भरा
कोमल श्यामल चंचल अंचल
अभिषेक कर रहा अरुण कलश
से ढाल सुधा अम्बर विशाल !
वितरित कर प्रतिपल सुख अविरत !
भूषित भारत ! जीवित भारत !
जय जय भारत, जाग्रत भारत !

—सुधीन्द्र

भारत वस्तुतः एक दुःखी और शोषित मानव है। इस प्रकार जो बिंबीकरण हुआ है, उसमें भारत अपनी समस्त प्राकृतिक छवियों के साथ भी एक नर-रूप में आता है, या जननी-रूप में। अंततोगत्वा यह भी काव्य का एक नया 'पात्र' है। इसी बिंब में कवि कहता है : "मानव ! तुम मृत्युञ्जय, अविनश्वर हो। अजर-अमर क्या मर सकते हैं ? जब तुम स्वयं ही महा अनल के पिण्ड हो तो फिर चिनगारी से क्या डरते हो ? तुम्हारे प्रलयंकर गर्जन पर ब्रह्माण्ड डोल उठता है। क्रांति स्वयं तुम्हारी सहचरी है। प्रलय तुम्हारा चिर अनुचर है। विजय स्वयं उपहार लिए तुम्हारा अभिनंदन करने को विह्वल है।" (सुधीन्द्र)

भारत में मानवता का विकास हुआ है। इस सत्य को इतिहास भी दुहराता है। इससे कवि प्रेरणा भी पाते हैं। महानता तो भारत में तब भी थी जब वह दासत्व की शृंखलाओं में बंधा रहा। यह सत्य इसी से प्रमाणित होता है कि भारत में सदैव ही महापुरुष जन्म लेते रहे। यह भारतीय संस्कृति में व्यक्ति को महत्त्व देने का ही परिणाम रहा है, जिसने सभ्यता को बाह्य और संस्कृति को शीलपरक माना है :

शान्ति, प्रेम, मंगल की जननी भरत-भूमि यह

आदिकाल से मानवता का मिलन तीर्थ है
सदियों के सोपानों पर यह मंथर गति से
चलती रही, प्रकाशित करती पूर्व दिशा को
अपनी पुण्य प्रभा से।

×

शस्य-श्यामला धरती है यह जहाँ कृष्ण ने
वेणुनाद से वसुधा तल पर स्वर्ग उतारा
पृथ्वी के उस सबसे पहले जननायक ने
सहयोगी-सहभोगी जीवन किया प्रतिष्ठित।
चक्रपाणि यह वंशीधर गीता का गायक
अर्जुन का ही नहीं शान्ति का बना सारथी।

×

शस्य-श्यामला धरती है यह, जहाँ बुद्ध ने
युग के सन्धिद्वार पर करुणा दीप जलाया
.....जिसके तोरण
तले दलित, पीड़ित मानव ने बंधु-मिलन का
पर्व मनाया।

×

प्रेम राज्य की विमल भावना
के द्रष्टा, युग स्रष्टा प्रियदर्शी अशोक का
नाम शांति के सिंहद्वार पर स्वर्णांकित है।

×

प्रतिपल घिरते आते भीषण अंधकार में
भारत की यह मर्म-भारती ही आशा की
एकमात्र आलोक किरण है।

×

कोटि-कोटि कण्ठों की यह शुभ शांति कामना
मानव-मन को आज नया आश्वासन देगी।
भारत की यह शांति कामना पृथ्वी तल पर
विश्व-मिलन के नवयुग की भूमिका बनेगी—

—भारतभूषण अग्रवाल

लोक में वही मर्यादा पा सका है जिसने जगती का कल्याण किया है। कवि अपनी

परंपरा में उनको ढूंढ़ता है जिन्होंने जनता के सुख के लिए संघर्ष किया था और स्वतंत्रता के वातायनों को खोला था। यह स्वतंत्रता राजनीतिक हो, या बौद्धिक, सब ही कवि के लिए अब अपना महत्त्व रखती है, क्योंकि वह उस सबसे स्फुरण प्राप्त करता है। इसीसे कवि उसे वंदनीय मानता है, क्योंकि उसमें जनता का हित निहित है। वह अंत में देश की शक्ति के सच्चे रूप की वंदना करता है :

जन - बल तेरी
जय हो ! जय हो ! जय हो !
भारत भू पर
स्वर्ण प्रसू पर
घोर दास्य का
दमन राज्य का
क्षय हो ! क्षय हो ! क्षय हो !
मानव पशु को
क्रूर दनुज को
रक्तपात का
बंधु घात का
भय हो, भय हो, भय हो !
युद्ध क्रान्ति का
हिंस्र भ्रान्ति का
सत्य अहिंसा
प्रेम शांति में
लय हो, लय हो, लय हो ।
जाति - जाति में
देश - देश में
मुक्ति क्षेम का
विश्व प्रेम का
चय हो, चय हो, चय हो !

—तेजनारायण काक

बात जाति-जाति, देश-देश के प्रेम में जाकर समाप्त होती है। जनता का अर्थ बनता है देश-प्रेम ! किंतु जनता सुखी कैसे हो ! तब विश्व की आर्थिक व्यवस्था पर कवि की दृष्टि जाती है और वह वर्ग-संघर्ष को देखता है।

आधेय और बिंबीकरण

आकाश में विमान उड़ रहे हैं, अणुयुग का प्रारंभ हो गया है, मनुष्य के जहाज़ सागरों पर धुंआ उगल रहे हैं, वह खेतों में तीन फसलें उगा रहा है, उसने नदियों की धाराओं को बांधकर अपनी इच्छानुसार पानी सींचना प्रारंभ कर दिया है, किस क्षेत्र में वह अपने पूर्वजों से आगे नहीं है ? सब जगह वह ऐसा नयापन देख रहा है, जो पहले नहीं था। फिर क्या वह आगे नहीं है ? यह प्रगति, यह विकास, क्या उसके अभिमान की वस्तु नहीं है ? है। अवश्य है। तभी वह अपने मानदण्ड बदल रहा है। तभी वह पुरातन से संतुष्ट नहीं है।

यह जो सब कुछ बदला जा रहा है, वह तो बदलता चला जा रहा है। क्या उसीके सौंदर्य में भाव रमता है ? वह स्थायी क्या है जो उसके राग का आधार बन सके ! क्या जो प्रगति आज इतनी तेज़ी से चल रही है उसका सूत्रपात पूर्वजों ने नहीं कर दिया था ! अणुअस्त्र बनाने के गौरव से वह अभिमान और गौरव क्या कम था जब मनुष्य ने अपनी आदिम अवस्था में पत्थरों की रगड़ से स्वयं अग्नि निकाली थी। वह दिन क्या आज ही की तरह इतिहास में एक नया मोड़ नहीं था ! तो प्रश्न यह उठा कि प्रगति एक पुरातन वस्तु है, वह युग-युगांतर में बदलती रहती है। फिर उसपर कितना गर्व हो। वस्तु का बाह्य अधिक आकर्षक है, या उसकी भावना का सत्य अधिक सशक्त है। रेल का रूप आकर्षक है, या उसकी गति का सत्य ? रेल वाहन का एक रूप-मात्र है। कल रथ था, कल अणुयान बनेगा। फ़िर इस सारी गति में एक कौन है ? मनुष्य। मनुष्य का मन ही इस गति का सुख-दुःख प्राप्त करता है। अतः वही प्रमुख है। तब यह गति इस सुख-दुःख से कैसे संबद्ध है ?

इन प्रश्नों ने कविहृदय को छुआ है। उसने प्रगति की आत्मा को पकड़ लेने का प्रयत्न किया है। उसने अपने बनाए संसार को उपयोगिता की दृष्टि से समष्टि में देखा है, परंतु क्या उसने केवल उपयोगिता को ही सौंदर्य माना है ? यहां यही देखना आवश्यक है। वह प्रकृति का वरद रूप देखता है :

वासन्ती सुषमा हँसती है पतझड़ का क्षण बीत गया
रुका नाश का नृत्य सृजन का भाव अनूठा जीत गया

ओ मिट्टी के पुतलो, जागो, युग-युग की तन्द्रा त्यागो
सुनो कि वसुधा के कण-कण में गूंज नया संगीत गया!
मिट्टी का विश्वास सजग हो गीत प्रगति के गाओ तुम,
अपनी नित नूतन रचना से भू को स्वर्ग बनाओ तुम,
अब न अदृष्ट की डोर पकड़कर भटको मत सूनेपन में,
पौरुष का प्रदीप ले जग को अभिनव पथ दिखलाओ तुम!

—पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

विनाश में से उसे सृजन मिला है। अथवा कहा जाए कि उसने उसे अधिक महत्त्व दिया है। अपनी नूतनता को उसने प्रकृति के भीतर भी देखा है। युग-युग की तन्द्रा मनुष्य की टूटी है। प्रकृति का नयापन सदैव ही उपस्थित था। पहले माटी में विश्वास नहीं था। उसे त्याज्य और जड़ समझा जाता था। अब उसे विश्वास से संजोया जा रहा है। शेक्सपियर ने चेतन एरियल के संपर्क में आने पर यह स्वीकार किया है कि धरती का तत्त्व कलुष कैलीबन ही प्रमुख है। नया कवि इसे स्वीकार नहीं करता। उसने अपने पौरुष का दीप उठाया है और वह पथ दिखाना चाहता है।

मनुष्य की बनाई सारी सुन्दरता का प्रतीक 'दीप' है और उसने उसे बहुत प्रेरणा दी है। उसमें ऊहापोह भी है :

वह भली आसक्ति है जो भक्ति में घुल-घुल रही,
भक्ति है जो भोग के सौंदर्य में खिल-खिल रही,
बुद्धि है जो अब विकसकर अज्ञता से मिल रही,
मेरी सब वृत्तियों की एक ही पुकार है,
एक ही अधार मेरे एक ही अधार है

—विद्यावती कोकिल

एकदम विद्रोह के स्थान पर आसक्ति भली है क्योंकि वह भक्ति का सहारा ले सकती है। भोग तो जीवन में आवश्यक है, किंतु भोग अपनी स्थूलता में असुंदर होता है। उसे सुंदर तो भक्ति ही बनाती है। बुद्धि का अहंकार भी उचित नहीं है क्योंकि वह अंत में कहीं न कहीं कुण्ठित हो ही जाती है। इसलिए उस आधार को मत छोड़ो जोकि इस जीवन का आधार है।

देखने में लगता है कि यह पराजय है। परंतु ऐसा नहीं है। यह केवल विद्रोह करने की आतुरता नहीं है, इसमें गंभीरता है। तारतम्य है। चिंतन है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें अस्तित्व को साधार माना गया है। वृत्तियों की एक पुकार होना प्रकट करता है, सारी सत्ता का निर्वाह अपने आधार को खोज चुका है। वह है प्रकृति का अपना अहं स्वरूप, जोकि मनुष्य में चेतना के रूप में प्रकट हुआ है। यह अहं दूसरे पर

छा जानेवाला नहीं है, क्योंकि यह सौंदर्य की अपेक्षा करता है और भक्ति में उसकी चेतना विकसित होती है।

नया कवि ग्राम के मूक जीवन से नगर के प्राकृतिक सौंदर्य के अभाव तक चलता है। हम दिखा आए है कि नरेन्द्र ने शहरी जीवन को अत्यंत कृत्रिम बताया है। अब हम ग्राम का भी एक चित्र देखते हैं :

मेरे लघु एकांत ग्राम में
विंध्या के ऊँचे-नीचे टीलों से
घिरे देश में आकर
वन हो गया और भी श्यामल।
लाल पठार दूर तक फैली है कँकरीली।
वहीं हरेक सनीचर के दिन हाट लगा करती है
भूतकाल की भटकी हुई आत्मा जैसी
दूर-दूर के गाँवों के नर-नारी आते
अपनी बैलगाड़ियाँ लेकर···

×

शाम बढ़ रही थी तेज़ी से
ताज़ा धुँआ घरों से उठता
देरी से आई गायों के घुंघरू बजते
सूनापन था भरा वायु में,
केवल कभी-कभी दूरी से
पनचक्की का 'घूम-घूम' मोटा स्वर आता,
ऊँची-नीची गलियों पर से,
बन्द हो गई थीं दूकानें,
टीले के छोटे मन्दिर में
दीपक अभी बराबर जलता।

—गिरिजाकुमार माथुर

ग्राम एक छोटी-सी इकाई है और विस्तृत प्रकृति उसके चारों ओर है। इतना कम है मनुष्य का आडम्बर स्वयंकृत वहां और इतनी पुरानी पड़ गई है वह सभ्यता कि वह भी प्रकृति का ही एक अंग लगती है। बैलगाड़ी है—उसमें बैल हैं—पशु। हाट में चकाचौंध नहीं, मनुष्य मुख्य है। धुंआ भी उठता है तो भीमकाय नहीं। ग्राम भी प्रकृति का ही अंग है। मोटा स्वर केवल पनचक्की का आता है, परंतु बुरा नहीं लगता क्योंकि वह भी एकस्वरता से वातावरण को भर देता है। दूर-दूर तक वन है और टीले हैं। उनके

बीच में गांव छोटा-सा है। मंदिर भी श्रद्धा का स्थान है, इतना प्राचीन है यह धर्म का प्रतिनिधि कि जीवन में समा-सा गया। उसमें दीप जल रहा है। दीप है मनुष्य की धर्म-ज्वाला।

इस प्रकार मनुष्य ने जो कुछ विकास किया है वह ग्राम में चमत्कृत करनेवाला नहीं है, इतना पुराना है कि सहज हो गया है। सहज ही है मनुष्य का अपनी चेतना में विश्वास भी। तभी वह अपनी चेतना के आलोक से कहता है :

जल रहे हो तुम युगों से रात तो फिर भी अंधेरी
जल चुकीं शत कामनाएँ शलभ की पाँतें घनेरी
प्रलय झंझावात फिर भी ज्योति तो अवशेष तुममें
जगत में क्षण-क्षण मिटाए पर अटल विश्वास मन में
जल उठो तुम साधना में हो उठे संसार भासित
टक लगी रह जाय, पुलकें शत हृदय औ' प्राण विगलित।
जगमगाओ दीप मेरे।

—कैलाश शर्मा

तुम्हारी ज्योति कभी नहीं बुझी। उसने अनेक विपत्तियां सहन की हैं, परंतु फिर भी ज्योति तो अवशिष्ट है। इसका कारण है मन का अटल विश्वास। यदि तुम साधना में लगकर अपने को उद्‌भासित कर दो, सारे संसार में आलोक छा जाए। जो दुःखी हैं वे भी पुलक उठें।

यह है मनुष्य का दीप।

दीप चेतना का प्रतिनिधि है।

चेतना मनुष्यनिर्मित संसार की सूक्ष्म आत्मा है।

उस सूक्ष्म आत्मा को मनुष्य का विश्वास कहना उचित है।

यदि हम यह स्वीकार नहीं करते तो यह समझ में ही नहीं आता कि दीप साहित्य में इतना प्रमुख कैसे हो उठा। पहले कालों में दीप की इतनी महत्ता क्यों नहीं मिलती! दीप क्योंकि एक प्रतीक है, जिसमें मनुष्य की बनाई सुंदरता नैसर्गिक सुंदरता के तादात्म्य में रहती है, इसीलिए दीप इस युग में इतना अधिक प्रभाव डालने योग्य हो गया है।

विज्ञान कहता है कि अणु में कई परमाणु होते हैं। वे अततोगत्वा लहर हैं। लहर के रूप में वे शक्ति हैं। शक्ति प्रकाश है। यानी अंत में प्रकाश है। इस प्रकाश की ही अभिव्यक्ति हमें कई प्रकार से साहित्य में मिलती है।

इसे हम दैनंदिन जीवन में विभिन्न कार्यरूपों में देखना ही अब उचित समझते हैं।

संध्या हो गई है। दीप जल चुके हैं। मनुष्य अंधकार को चुनौती दे चुका है। कवि

के स्वर बहुत ही नशीले-से हो जाते हैं, स्वप्निल-से :

सांध्य दीपक जल चुके
गगन के उडु-कुञ्ज-वन के बीच ज्यों राधे,
पवन-श्वासोच्छ्वास में निद्रा-नशा औ'
ज्योत्स्नांचल में मदिर मधु स्वप्न बाँधे,
मृदुल चरणों से रजत के गीत लिखती—
तुहिन-मुक्ताहल गिराती नूपुरों से
किरण तारों से कसी वीणा बजाती
दिशाओं को गुंजाती 'मर-मर' स्वरों से,
निशि शशि-मुखी है आ रही
संसृति अरे मुस्का रही—
तापमय, नीहारघातक—
प्रहर दिन के ढल चुके—
सांध्य दीपक जल चुके—

—शत्रुघ्नदत्त दुबे

रजत के गीत, कितनी सुहावनी उक्ति है। नूपुरों से तुहिन-मुक्ताहल का कितना-कितना विभोर करनेवाला है। किरणें तार हैं। यहां अपने बनाए आलोक से कवि ने सृष्टि को बांध दिया है, और वह भी सारी वैष्णव कोमलता उसमें उतर आई है। अंधेरा क्या है पग-पग पर राह रोक रहा है :

अन्धकार में दीपशिखा-सी चमक रही है आशा,
इस आशा में उलझ गई है नवयुग की अभिलाषा।
विद्युछटा बन सघन घटा से यह टकरा जाती है,
ऊषा का रंगीन रूप-किरणों में छा जाती है;
परवानों को रूपराशि की झलक दिखा जाती है,
दीवाली-सी सजी-बजी सपनों में आ जाती है।
जल-जलकर उज्ज्वल करती है सत्य-स्नेह-परिभाषा !
इसका हृदय स्नेह का सागर पर सनेह का प्यासा।

—श्यामबिहारी शुक्ल 'तरल'

मनुष्य की आशा फिर भी चमक रही है। अब आलोक के रूप में आशा है। तो चेतना की सहनशक्ति जो आशा है वह कितनी स्पृहा रखती है ! कवि तभी स्नेह का प्रतीक बना देता है अपने दीप को :

गा मंगल के गीत सुहागिन! चौमुख दियरा बाल के!
आज शरद की साँझ, अमा के इस जगमग त्यौहार में
दीपावली जलाती फिरती नभ के तिमिरागार में
चली होड़ करने तू लेकिन भूल न—यह संसार है;
भर जीवन की थाल दीप से रखना पाँव सँभाल के!
सम्मुख इच्छा बुला रही पीछे संयम-स्वर रोकते,
धर्म-कर्म भी बायें-दायें रुकी देखकर टोकते,
अग-जग की ये चार दिशाएँ तम से धुंधली दीखतीं;
चतुर्मुखी आलोक जला ले स्नेह सत्य का ढाल के!
दीप-दीप भावों के झिलमिल और शिखाएं प्रीति की
गति-मति के पथ पर चलना है ज्योति लिए नवरीति की,
यह प्रकाश का पर्व अमर हो तम के दुर्गम देश में,
चमके मिट्टी की उजियाली नभ का कुहरा टाल के।

—राजेन्द्रप्रसाद सिंह

यह कविता बहुत ही श्रेष्ठ रचना है जिसे बहुत ही अच्छी तरह गाया जा सकता है। प्रकाश का पर्व मनाने की घोषणा गूंज उठती है और फिर आती है अद्‌भुत कल्पना:

यह संध्या एक शमा-सी है
दिन के पर जलते जाते हैं—

—शिवबहादुर सिंह

और मनुष्य प्रेम को अब भी सर्वोच्च आसन देकर कहता है:

किसी भक्त ने देव की आरती हित बड़े भाव से दीप मठ का जलाया
दूर हट, यह नहीं अर्चना प्रेम की कूद लौ में शलभ ने यती को बुलाया
प्रणय के नगर में सफल प्रेमियों को जलन ही अधर और चुंबन अँगारा।

—शिवबहादुर सिंह

उदात्ततम हो जाना आज भी मनुष्य की चेतना का एक लक्ष्य है। और इसे वह प्रकृति से निरन्तर सीख रहा है। तभी कवि-हृदय कहता है:

अंबर के आँगन में जगते रहे सितारे रात-भर
चुप-चुप इंगित में चंदा ने निशि से निशि-भर बात की,
आँखों में आकुल शंका थी आनेवाले प्रात की,
रहे खेलते आँख-मिचौनी घन कजरारे रात-भर।
मिट्टी में मिल गई जवानी भोले-भाले फूलों की
आँखों में रह गई सिसकती शेष कहानी धूल की

लहरें पढ़ती रहीं मर्सिया नदी किनारे रात-भर।
मौन पड़ी थी नीड़ों में शहनाई मीठे बोल की,
बल्लरियाँ कब जान सकीं शबनम कितनी अनमोल थी,
दीपशिखा पर रहे मचलते शलभ बिचारे रात-भर।
कमल पँखुड़ियाँ सरसी की शैया पर सोती मौन थीं
रजनीगंधा की आँखों में जाग रही छवि कौन थी
रहे जोहते बाट उषा की अलि मन मारे रात-भर।

—शैल रस्तोगी

रात का कितना मदहोश वर्णन है और उषा की प्रतीक्षा कितनी अकुलाहट-भरी है। चन्दा सारी रात निशा से बात करता है। धूल की कहानी आंसू बन गई, किंतु त्यागी रात में भी अपने उदात्त प्रेम के लिए मरते रहे और उजियाले के प्रेमी रात-भर उषा के लिए मन मारे बैठे रहे। सितारे और दीप। यदि और गहराई से देखा जाए तो प्रतीक यहां विस्मयकारिणी बुद्धि से नहीं संजोए गए, वे एक विशेष प्रवाह में अपने-आप आए हैं। चिरंजीत ने दीपशिखा के रूप में सौंदर्य और यौवन की मस्ती को देखा है:

उस चिलमन के पीछे झिलमिल दीपशिखा लहराये रे
मुख पर नीहारिल पट डाले सलज झलक दिखलाये रे।
स्वर्णमयी-सी लगती चितवन, बिखर रही स्वर्णाभा छनछन
स्वर्ण चषक से सुरा सुन्दरी ललक छलकती जाये रे।
खुली जा रहीं उर्मिल अलकें, मुंदी जा रहीं स्वप्निल पलकें
हाय प्रतीक्षा में ही मीठी रात बीतती जाये रे।

—चिरंजीत

यह दीप अपने साथ एक स्वप्निल नशा-सा अवश्य लिए हुए है। इसका कारण है कि मनुष्य जब थक जाता है तब ही वह सुख की कामना करता है। श्रम-वेला में वह सोचता कम है। थकान के कारण मनुष्य में मिठास उभर आती है और उसे हम संस्कृति की मिठास भी कह सकते हैं।

उसमें रूमानी वातावरण भी आता है। दीप को चारों दिशाओं में उजियाला करनेवाला बनाकर मानव-हृदय अपनी संपूर्ण अभिव्यक्ति करता है:

चौमुख दिवला बार—
धरूंगी चौबारे पै आज
सखी री, चौमुख दिवला बार!
जाने कौन दिशा से आवें
मेरे राजकुमार!

जब - जब पवन संदेसा लावे
दीये की लौ - सी बल खावे
झाला दे - दे पास बुलावे
उझक देख मैं जानूं मेरे
आए राजकुमार !
देखूं जंगल में पटबिजना
गगन बीच तारों का खिलना
मैं जानूं यह केवल छलना,
कौन कहे सचमुच आवेंगे
मेरे राजकुमार !

×

छीज रही तन-मन की बाती
दीये-सी ही रात सिराती
जीती तो फिर रात जलाती
कह भर देता कोई—मेरे
आते राजकुमार !

—नरेन्द्र शर्मा

राजकुमार उसकी कल्पना का सुंदर काम्य है। इसीलिए कवि का हृदय उसका वरण करने को स्त्री की कोमलता का अनुभव कर उठता है और कहता है कि आयु समाप्त हो जाती है। सकल सृष्टि इस दीप की भांति ही यत्न से अपने को घुलाती रहती है। लोकगीत जैसी यह कविता उमंग का परिचय देती है। प्रश्न उठता है क्या यह पलायन का बिंब नहीं देती ? मैं समझता हूं नहीं। प्राचीन काल से ही मनुष्य अपने दार्शनिक चिंतन को सहज बनाने को लौकिक कार्यों में अवतरित करता रहा है। उसने पशु-पक्षियों तक को बातें करते दिखाया है। इसे उसने 'रति' में सबसे अधिक निकट से अनुभव किया है। उर्दू काव्य में तो साम्राज्यों के पतन भी प्रिया से विरह-निवेदन के रूप में प्रकट हुए हैं। यह तो एक कामना है कि व्यक्ति का आंतरिक जीवन भी अपनी सांत्वना पाता चले। कवि कहता है :

दीप जल रहा गल - गलकर
ले तेरा ही विश्वास सहारा
कल ठुकराया जाता था
पाषाण आज भगवान हो गया।

×

कहीं न मादकता अन्तर में
उतर सिमिट बन जाये हलचल
व्यथा घुमड़कर गिरी अधर पर
बरस पड़ी तो गान हो गया।

×

स्वप्नों में संसार खो दिया
प्रिय की रतिबाँहों में पड़कर
तुमने फिर नज़रें क्या फेरीं
स्वप्नों का अरमान सो गया।

—कुँवर

इस दीप के कई रूप हैं। वह जब व्याकुल हो उठता है तब स्वयं संबल ढूंढ़ता है। मानव-जीवन अपने लिए कितने-कितने परिवेश उपस्थित नहीं कर लेता :

मैं तुम्हारे द्वार का बुझता दिया हूँ
स्नेह अंचल से मुझे दो, साँस दो
रात - भर के ही लिए विश्वास दो
राख बन मैं रह न जाऊँ राह में
छीन लो धरती मगर आकाश दो!

×

फेर दो मुझको दुलारी साँझ मेरी,
दिन जहाँ डूबे वहीं है छाँह मेरी,
आह! मेरी छू न तुम काजल बनो
मैं तुम्हारे ही लिए जल-जल जिया हूँ।
राख हूँ मैं, आयु धागों का सिया हूँ।

—राही

जहां दिन डूबता है वहीं मेरी छांह है। मेरी जलन में जो काजल है, उसे मत छुओ, केवल मेरे आलोक को देखो, क्योंकि यह मैंने आलोक फैलाया है, वह केवल तुम्हारे लिए ही तो। प्रकृति के बीच मानव की प्रतिस्पर्धा रुकती नहीं :

जहाँ विद्युत दीपकों का एक मेला है
वहाँ माटी का दिया अपना अकेला है

एक विराट सृष्टि में अपनी सत्ता का भय है यह।

दीप है कि दरिद्र के अरमान जलते हैं।
ज्योति एक अखंड हमने खंड कर डाले

हाय धनी-गरीब ऐसे भेद रच डाले।
जहाँ नेह अभेद ऐसी एक बेला है।
जानता हूँ रात बीते प्रात होना है
प्रात होते तेज से अस्तित्व खोना है।

—भवानीप्रसाद तिवारी

हम एक और बड़े सत्य के पास पहुंचने के लिए जीवित हैं। वहां हमारी मान्यताएं भी क्षुद्र पड़ जायेंगी, किंतु तब तक का उनके द्वारा दिया साथ अपनी सार्थकता पूरी कर चुकेगा। वह उसको लोकहित में सर्वत्र चाहता है :

द्वार-द्वार पर अमन्द यह दिया जले
मुक्त द्वार हो न बन्द यह दिया जले!
सत्य बन असत् प्रवाह में,
बन प्रकाश तिमिर राह में
अमृतधार—मृत्युदाह में,
नव-नव रस रूप गंध स्पर्श शब्द ले
प्राण-प्राण बीच यह अमर प्रभा जले!

×

तम की दीवार तोड़कर,
बंध दुर्निवार तोड़कर
मुक्त ज्योति की उठे लहर
गृह वन गिरि सिंधु धार में गगन तले
देशकाल से अखण्ड यह दिया जले!

—शम्भूनाथ सिंह

यह दीपक आकाश और सकल लोक में प्रज्वलित होकर रहे। इसलिए कवि-हृदय इतनी भी स्पर्धा करता है कि प्रकाश के लिए भीख भी नहीं चाहता। स्वयं पर ही जो विश्वास है :

मुझे राह में रोशनी मत दिखाना
मैं अपना ही दीपक जलाती चलूंगी।
किधर मेरी मंजिल किधर है किनारा
नहीं मुझको लेना किसीसे सहारा
तड़प कर मेरे दिल ने मुझको पुकारा
बताया है चुपके से मुझको इशारा

बताये नहीं मुझको कोई किनारा
मैं दिल को ही साहिल बनाती चलूँगी।

×

बनाए हैं दरिया ने खुद ही किनारे
पपीहे ने पाए हैं दिल से ही नारे
बताओ फलक पर हैं किसने उभारे
ये सलमे-सितारे-से चमके जो तारे
ये चाँद और सूरज ये दिलकश नज़ारे
मैं अपने नज़ारों पै छाती चलूँगी।

—कमला चौधरी

मनुष्य को स्वयं अपनी भी विजय करनी है, क्योंकि भीतर के विकार भी उसे अच्छे नहीं लगते। प्रकृति में सब अपनी सत्ता के लिए स्वयं ही अपनी सहायता करते हैं। मनुष्य भी यही करना चाहता है। प्रकृति का सौंदर्य उसे पराजय नहीं देता, प्रेरणा देता है। यह चेतना इस माटी की देह में से ही जन्मी है :

मिट्टी की काया से दीपक, सोने की लौ है उगल रहा
मसि स्नेह, कलम की बाती से व्यतिक्रम के तन को निगल रहा—

×

ज्योति घर में, पर डगर पर है अँधेरा
इसलिये पथ खोजता है अब सबेरा
दीप का कण-कण तपन से कह रहा है
तुम सँभालो, स्वप्न मेरा ढह रहा है—
दर्द को मेरी तरह किसने सहा है ?

—ब्रजकिशोर नारायण

भीतर का उजाला अब बाहर आने के लिए लालायित है। किंतु व्यक्ति की तपन क्या सारी समस्या को सुलझा सकेगी ? पीड़ा सहना क्या सबका काम है ? क्या सबमें ही एक-सी क्षमता है ?

'विधवा' कविता में कवि ने परवेदना को विद्रोही स्वर से देखा है। उसने प्रतीक को और भी ठोस बनाया है। विकल वेदना से विधवा कहती है कि यह जीवन संगहीन होने से एकाकी है। रूढ़ियों ने इसे ग्रस रखा है। अपनी निरीहता मनुष्य को बहुत ही कचोटती है :

उनके तो रिपु भी जग में हैं, पर मेरा क्या कोई ?
बैठ बबूल डाल पर वन में काली कोयल रोई !

और रामराज्य की इस प्रथा की निंदा करता हुआ कवि विक्षुब्ध हो उठता है।

फिर उसमें विश्वास जागता है और इस प्रकार सामाजिक कुरीति भी उसी चेतना का रूप आकर ग्रहण करती है। दीप हमारे सामने फिर आता है, क्योंकि वह प्रकृति की अक्षय ज्योति का प्रतीक जो है। उसका आदर्श बनाकर मानव से अपने कष्टों को झेल लेने का एक साधन बना लिया है :

मैं न बुझूँगी, अमर दीप की ज्वाला हूँ, बाला हूँ,
पल-भर किसी कण्ठ से लगकर छिन्न हुई माला हूँ,
प्रखर धार में पड़ी तरी हूँ टूट गई पतवार,
मैं जाग्रत् भारत की विधवा, कुण्ठित असि की धार!
चिता भूमि की कुसुमित लतिका, लज्जित सौरभ भार वृथा।
किसे सुनाऊँ करुण कथा ?

—जानकीवल्लभ शास्त्री

यह दीपक जब बुझ जाता है तब वह कवि को कोई प्रेरणा नहीं देता। केवल जड़ भौतिक में उसे सांत्वना नहीं होती। सभ्यता यदि निष्प्राण है तो वह संस्कृति का निर्माण करने में असमर्थ है। अतः वह त्याज्य है। प्रकृति का वही रूप मानव को पसंद है जो उसे आगे का मार्ग दिखा सके, सब अवस्थाओं में उसके हृदय को एक शक्ति दे सके :

यह बुझा दीपक, घिनौना मृत्तिका का पात्र!
दग्ध उर में रह गई हैं स्नेह की दो चार बूँदें मात्र!
रात्रि-भर जलकर किया पथ का अँधेरा दूर
धूम्र बनकर इसीपर अब छा गया वह क्रूर
भिक्षुकी के ठीकरे-सा हो गया यह दीन
सतम-नभ-सा करुण काले बादलों में लीन
बुझ चुकी है प्राण-बाती चेतना इसमें नहीं अणु मात्र!

—तेजनारायण काक

किंतु क्या इसका जीवन व्यर्थ चला गया ? नहीं। कवि यह भी कह जाता है कि इसके कार्य को स्नेह दो, इसकी जड़ता को नहीं, क्योंकि अब यह काम नहीं आ सकता। यह दीप हमारी वेदना से जल रहा है। कवि कहता है :

हमारी व्यथा की जलन से
दिया की शिखा जल रही है।

×

हमारी चिता की लपट से
अमा की निशा बल रही है।
पिघल ढल रहे नर्म अरमाँ हृदय के

ठिठुर गल रहे भाग्य-सरसिज उदय के,
चला जा रहा कारवाँ ज़िंदगी का
भभक खुल रहे नैन निर्दय प्रलय के,
हमारी कथा की कसक से
कहरती हवा चल रही है।

×

प्रणय के क्षितिज से धुआँ उठ रहा है
जहर से हृदय का कुआँ भर रहा है

×

निरंतर चली जा रही राख होती—
उमर में उमंगती नई कामनाएँ;
हमारी मिटी साँस में
प्राण की प्रेरणा पल रही है।

—श्रीरञ्जनसूरिदेव

यह दीप की शिखा इसलिए जल रही है कि हम एक-दूसरे के लिए संवेदना का अनुभव करते हैं। वैष्णव कवि ने 'पीर पराई जाणे रे' कहा था। उसकी अति करके कवि अमा निशा को प्रकाशित करने को चिता जलवाता है। अंधकार को दूर करने की कितनी तृष्णा है। हर मिटती सांस में प्राण की प्रेरणा पल रही है। यह है जीवन का प्यार। आलोक से इतना प्यार किसलिए? इसलिए कि मनुष्य व्यथा से भरा हुआ है। जिस युग में वेदना ने अपना वैयक्तिक स्वरूप काव्य में पकड़ा तभी जीवन की कचोट भी ऊपर आ गई।

प्रकृति ने अंधकार क्यों बनाया है? वह तो सूर्य की किरणों का अभाव है। अभाव ही अंधकार है। अंधकार में न कोई काल है, न दिशा। मनुष्य उससे आज से नहीं आदिमकाल से डरता है। आज उसे पहले की तुलना में कहीं अधिक डर लग रहा है, क्योंकि वह अपने को बहुत अधिक खतरे में देख रहा है। इसीलिए अपने और लोक के लिए हमें आवाहन सुनाई देता है :

जलो - जलो हे जीवन बाती।
तम में एक लपक लग जाती
जन - जन के दीपक जल जाते
दुख की एक अवधि चुक जाती
घर - घर रूठे पाहुन आते

तो भूखी शृंगार - भावना
दीवाली त्यौहार मनाती।

—विद्यावती कोकिल

अंधकार को मिटाकर घर-घर आनंद होता, तब ही शृंगार की भूखी भावना दीवाली का त्यौहार मनाती। अन्यथा आनंद मिले भी कैसे ? दूसरे पक्ष में जब परमात्म वेला का स्पर्श होता है तब मनुष्य सर्वात्म के आलोक पर न्यौछावर होना भी श्रेयस्कर समझता है :

तुम दीपक हो, मैं लघु पतंग,
हे देव ! तुम्हारे जलने में है कर्मयोग की मृदु उमंग।
तुम जलते मिलती उजियाली, मैं जलता होली अँधियाली,
पागल प्राणी मैं कहलाया, प्रभु ! जला तुम्हारे संग-संग !

—तारा पाण्डे

कितनी करुणा से मनुष्य कहता है कि उसे अपनी सत्ता, अपनी वासना और अहं की इतनी स्वीकृति नहीं चाहिए, जितनी इसकी कि उसकी वेदना पहचान ली जाए। वह अपनी वेदना को बहुत प्यार करता है :

देव मुझको भूलकर इन आँसुओं को जान पाते।

—तारा पाण्डे

करुणा अपने आंचल में न जाने कितने सुख-स्वप्न लिए आती है। सुख-दुःख के दोनों पक्ष उसमें अंतर्निहित होते हैं। वह आनंद हो, या वेदना, दोनों में ही एक-सा सान्निध्य प्राप्त करने का इच्छुक बना रहता है। जलना और बुझना एक आनंद भी देते हैं। अपने 'प्रथम मिलन' में कवि अपने स्नेह की अभिव्यक्ति के लिए भी इसी समर्पण की शब्दावली का प्रयोग करके कहता है :

दिये को लजा कर बुलाया गया है
शलभ मुस्करा कर बुलाया गया है—

—रामकुमार चतर्वेदी

प्रेमी का इस प्रकार बुलाना और फिर दीप को बुझा देना—दीप यानी कुतूहल का रूप !

प्रेम की प्रतीक्षा भी इसी प्रकार आज अभिव्यक्ति पाती है, और वह इतनी गूढ़ है कि उसे हम दर्शन की गहराइयां अपने में समेटे देखते हैं।

'जुगनू' में बच्चन ने इन दोनों भावों को मिला दिया है। अनंत विस्तार में वह प्रकाश का एक कण उसके लिए अस्तित्व का प्रतीक बन जाता है। कवि कहता है :

अँधेरी रात में दीपक जलाए कौन बैठा है ?

उठी ऐसी घटा नभ में छिपे सब चाँद औ' तारे
उठा तूफ़ान वह नभ में गए बुझ दीप भी सारे
मगर इस रात में भी लौ लगाए कौन बैठा है ?
गगन में गर्व से उठ-उठ, गगन में गर्व से घिर-घिर
गरज कहती घटाएँ हैं, नहीं होगा उजाला फिर;
मगर चिर ज्योति में निष्ठा जमाए कौन बैठा है ?
तिमिर के राज का ऐसा कठिन आतंक छाया है
उठा जो शीश सकते थे उन्होंने सिर झुकाया है—
मगर विद्रोह की ज्वाला जलाए कौन बैठा है ?
प्रलय का सब समा बाँधे, प्रलय की रात है छाई
विनाशक शक्तियों की इस तिमिर के बीच बन आई
मगर निर्माण में आशा बढ़ाए कौन बैठा है ?

सारे प्रकाश बुझ गए किंतु वह नहीं बुझा जिसकी माटी ही प्रकाश हो गई है। जब भी उसे अंधेरा मिलता है तब वह अपने-आप जलने लगता है। क्या सुदर कल्पना है कवि की ! यह जो चिर ज्योति की निष्ठा लिए अति दीन है, वह वास्तव में विद्रोह की ज्वाला लिए हुए है। उसका विश्वास निर्माण में दृढ़तर है। वह तो प्रेमी है :

प्रलय की रात में सोचे प्रणय की बात क्या कोई
मगर पड़ प्रेम बंधन में समझ किसने नहीं खोई
किसीके पंथ में पलकें बिछाए कौन बैठा है ?

—बच्चन

उसे प्रतीक्षा है। चिरंतन है वह जीवन की वह्नि, चिरंतन है उसका प्यार। बच्चन की कलम में है कुछ, जो खींच लेता है। उसने जीवंत चित्र खींचा है।

आज के दुःख में भी मनुष्य को अपनी वैयक्तिकता याद है :

ताख में जलता दिया है देह में जलती जवानी
मिट रहा ज्यों-ज्यों समय त्यों-त्यों अमिट अपनी कहानी।

×

कष्ट सब जीवन-समर के धुल गए उजले कफन में
और जीना चाहता था, पर न पापिन मौत मानी।

—शिवबहादुर सिंह

यौवन भी एक ताप है। असमय ही काल उसे ले जाता है तो कवि को पीड़ा होती है और तब उसे लगता है कि जलन भी प्रकाश का वाहन तो है, परंतु वह भी सीमित ही है। तब उसे एक ही सहारा रह जाता है। वह है उसकी पुरानी साथिन—आशा।

और आशा अपने प्रिय को पहचान गई है। उसके लिए सारा जीवन एक धारा के समान बहने को तत्पर हो गया है। वह धारा ऐसी है जिसका पथ कोई नहीं रोक सकता :

आशा का दीप जला है पाकर अब मृदुल इशारा
छूने चरण हृदय बन, मैं बहती हूँ बन धारा।
उन्मत्त हृदय ने बंधन अब तोड़ दिये हैं सारे,
अब छिप न सकोगे तुम भी 'मेरी आँखों के तारे।'
वह छूट चुकी है कुटिया, वह छूट गई फुलवारी,
थीं जहाँ बहुत-सी कलियाँ मुझपर वारी-बलिहारी।
थी जहाँ कोकिला गाती मृदु गाथा प्यारी-प्यारी
बहती थी निकट कुटी के गिरिबाला शुचि सुकुमारी।
थी कल-कल, छल-छल, अविरल, चलती बल खाती धारा,
गाती थी, इठलाती थी, जाती थी चूम किनारा।
मिल मलिन सलिल अवनी का जिसमें हो जाता निर्मल,
था नहीं कलंकित छल से वह दुग्ध-धवल शुचि अंचल।

×

ऊँचे पर्वत भी जिसका पथ रोक नहीं पाते थे
उस पानी की धारा से कट रज-कण बन जाते थे।

—हरिकृष्ण प्रेमी

परंतु विनाश बहुत ही विकराल सत्य है। वह भी अंधकार ही है। उसके सामने किसीकी नहीं चलती। प्रकृति के कार्य-व्यापार में मनुष्य की पीड़ा का मूल्य कुछ भी नहीं है। कर्म और पुनर्जन्म के विचार इसी प्राकृतिक निर्ममता के लिए व्याख्यास्वरूप थे। आज का कवि मानता नहीं इसे पूर्णतः। अतः मानव की सत्ता की लघुता उसे बहुत अधिक कचोटने लगती है। कवि कहता है :

अरी पगली! न यम के राज में आँसू पहुँचता है
अरी पगली, व्यर्थ ही प्रीति का पक्षी कुहुकता है
किसीके प्यार का दीपक जला, जलकर बुझा जग में
जला दे देह का दीपक किसीके प्यार के पग में
युगों से टूटते जलते गगन में चाँद के दीपक!
अतुल अवसाद के दीपक!

—रघुवीरशरण मित्र

एक ही सांत्वना है। यह जीवन प्यार के हित दीप-सा जले, बस यही काफी है। आकाश का चंद्रमा भी न जाने कितनी बार जलकर बुझ चुका है। इससे भी अधिक

श्रेयस्कर है उस 'पूर्ण' के सम्मुख सिर झुकाना, जो इतना मूक है, मानव के प्रति इतना निरपेक्ष है कि देखकर कुछ समझ नहीं पड़ता। वही पूर्ण सौंदर्य है, किंतु उसने अपने को उस रूप में नहीं खोला, जिसमें हम उसे देखना चाहते थे। कवि इसे यों प्रकट करता है :

अर्चना का दीप जलता ही रहा
पर नहीं आराध्य ने खोले नयन
लोचनों से अर्घ्य ढलता ही रहा
पर नहीं सौंदर्य के बोले नयन।
दीप पूजा का जलाया इसलिये
तुम मिलोगे अर्चना होगी सफल
रात-दिन बरसात तो होती रही
किंतु मेरी प्यास में ज्वाला प्रबल।
मिल गया मन्दिर न तुम मुझको मिले
देव! तुमको ढूंढ़ता ही रह गया
हार मेरी है, न हारी अर्चना,
राह में गल-गल जलद बन बह गया।
अर्चना के फूल चढ़ते ही रहे
और पलकें झल रहीं हर पल व्यजन।

—रघुवीरशरण मित्र

और वह इसे व्यक्ति की हार मानता है, अर्चना की नहीं। अर्चना है साधना। साधना है मानव की वह तत्परता जिसके सहारे से वह माध्यम और अंत को मिलाता है। इसीके आनंद में जब कवि विभोर हो उठता है तब वह सबको एक ही ज्योति-सूत्र में बांध लेना चाहता है :

बढ़े दीप की शिखा भुवन क्या, अम्बर ज्योतिर्मय हो,
अन्धकार पर पुंज-पुंज दीपों की महाविजय हो,
भीनी-भीनी गंध अगरु-केसर की ऐसी फैले,
रहे न कुछ अवशेष अनय के दारुण दन्त विषैले।
ले शाश्वत आलोक स्नेहमय अमर विभा मर्यादित,
जलती रहे अखण्ड ज्योति कुंदन-सी चिर आह्लादित।
नवोत्कर्ष के प्रेरक दीपक सृष्टि-शाप बदले!
आज विश्व से ऊपर मेरा मंगल दीप जले!!

—श्री मदन

यह दीप मंगल का वर्णन कर रहा है। इसमें संसार के कल्याण की कामना निहित

है। यह है वह मानव की अतीन्द्रिय चेतना जो माटी में से उजागर हो उठी है। कवि उसका वर्णन करता है :

इस मिट्टी के दीप, चेतना की बत्ती को, स्नेह मिला जब
कहा विरोधी तत्त्वों ने, बस और चाहिए एक जलन अब!
तुमने लपटों की उँगली से मेरा स्नेह-दीप जब बाला।
सहसा ज्योति जली अन्तर में अन्धकार बन गया उजाला।

×

आँधी आई, पानी बरसा, राख धूल ढँक-ढँककर हारी
पर न बुझी उल्टी भड़की ही, मूल शक्ति-सी यह चिनगारी!

—शिवमंगलसिंह सुमन

यह दीप केवल स्नेह के बल पर जीवित रहता है। किंतु उसे विरोधी तत्त्वों ने जलन भी दे दी है। यह मूल शक्ति की चिनगारी है। यह व्यक्ति में भी है, समाज में भी। यह युग में है। युग हमारा एक नया पात्र है।

युग और दीप दोनों परस्पर एक-दूसरे के लिए लालायित-से हमें नयी कविता में दिखाई देते हैं। युग जिस चेतना का अमूर्त व्यक्तिकृत चेतन है, दीप उसीकी सुंदरता की अभिव्यक्ति है। मनुष्य का निर्माण ही इस समस्त के मूल में है। पहले का मनुष्य अपनी निर्माण-शक्ति पर गर्व नहीं करता था। आज का मनुष्य करता है। आज उसे अपनी सामर्थ्य के प्रति एक विश्वास-सा हो चला है। पुराना व्यक्ति प्रलय को स्वीकार कर चुका था, नया मनुष्य विनाश-काल समीप आता जानकर इस पृथ्वी ग्रह को छोड़कर महाशून्य में निकल जाने की योजना बना रहा है। तभी उसमें गतिरोध पैदा हुआ है। सामर्थ्य से पूर्व ही उसका मन आगे बढ़ गया है। वह महानाश को बंदी कर देना चाहता है, क्योंकि उसे लग रहा है कि वह मंज़िल के बहुत पास आ चुका है :

युग के धुंधयारे मंदिर में
फिर से रंगों के दीप जले।
लो ये उजियाले के घेरे
फिर आस्मान की ओर चले।
हम पीछे बंदी कर आये
उस महानाश की छाँह श्याम,
चलकर आये हैं अग्नि-पंथ—
इस युग के दृढ़ निष्कंप चरण—
अब दूर नहीं मंज़िल विराम

×

उस रक्त-रंजी घोर सभ्यता
के जल - बुझे खंडहरों से
अब नये भवन उठते हैं
जिनमें सुख की चंदन गंध उड़े।

—गिरिजाकुमार माथुर

यूरोप में फ़ासिज़्म के अंतिम नाश पर लिखी गई यह कविता केवल सामयिक अनुभूति-मात्र नहीं है। इसमें एक दुनिया के विश्वासों के गिरने पर दूसरी दुनिया के विश्वासों के उठने की कामना की गई है। आज मनुष्य की यह चेतना किसी शहीद के मज़ार पर श्रद्धा से जलाये हुए दीपक के समान बन गई है, क्योंकि त्याग उसमें है, और उसका सम्मान आवश्यक है। शहादत ने बहुत कुछ उजाड़ दिया है, लेकिन मर-मिटने का गौरव तो हाथ से नहीं चला गया। दीप और वह भी करुणा का :

मैं प्रदीप हूँ किसी शहीद की समाधि का
दो मुझे बुझा न रात की प्रगंध आँधियो,
दो मुझे बुझा न सिंधु की अशांत लहरियो,
मैं किसी लुटे हुए सुहाग का मज़ार हूँ
मैं किसी लुटे हुए चमन की यादगार हूँ,
वही अतीव स्नेह से मुझे यहाँ जला गई—
धीर यौवना शहीद की वधू लुटी हुई
शेष अब न कुछ रहा उसे अनन्त विश्व में
शेष चिह्न मैं शहीद की पवित्र याद का
मैं प्रदीप हूँ किसी शहीद की समाधि का

—शैल रस्तोगी

उसकी स्मृति पवित्र है। मनुष्य इस पवित्रता को श्लाघ्यनीय समझता है। उसे केवल दुःख है कि सारा मनुष्य अभी तक एकचेतन नहीं हो सका है। प्रकृति के ही शब्द हों, सो नहीं। मनुष्य के अंतस् में भी तो पाप है, जिसके कारण व्यक्ति को व्यक्ति पर अविश्वास है। वह इसे मिटा देना चाहता है :

धर्म का दीपक, दया का दीप
कब जलेगा, कब जलेगा, विश्व में भगवान ?
कब सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त
हो, सरस होंगे जली-सूखी रसा के प्राण ?
है बहुत बरसी धरित्री पर अमृत की धार,
पर, नहीं अब तक सुशीतल हो सका संसार।

भोग-लिप्सा आज भी लहरा रही उद्दाम
बह रही असहाय नर की भावना निष्काम;
भीष्म हों अथवा युधिष्ठिर, या कि हों भगवान
बुद्ध हों कि अशोक, गाँधी हों कि ईसु महान;
सिर झुका सबको, सभीको श्रेष्ठ निज से मान,
मात्र - वाचिक ही उन्हें देता हुआ सम्मान,
दग्ध कर पर को, स्वयं भी भोगता दुख-दाह
जा रहा मानव चला अब भी पुरानी राह।
अपहरण शोषण वही, कुत्सित वही अभियान
खोजना चढ़ दूसरों के भस्म पर उत्थान
शील से सुलझा न सकना आपसी व्यवहार
दौड़ना रह - रह उठा उन्माद की तलवार
द्रोह से अब भी वही अनुराग
प्राण में अब भी वही फुंकार भरता नाग।

—दिनकर

कब आएगा वह दिन, जब कुछ व्यक्ति ही नहीं, सारे संसार में मन के भीतर उजियाला फैलेगा। उसकी संस्कृति वास्तव में जागेगी ? कब वह महान ज्योति में अपनी ज्योति मिलाने के योग्य हो जाएगा। उसने जो चेतन प्रतीक बनाए हैं, उनके प्रति कुछ ही बलिदानी क्यों सब कुछ त्यागते हैं। क्यों नहीं सारा लोक ही सन्नद्ध हो जाता। क्या ऐसा हो जाने पर मनुष्य का अपार कल्याण समीपतम नहीं आ जाएगा ? दिनकर ने बहुत गहरा प्रश्न उठाया है। इसका अब तक केवल यही उत्तर मिल सका है :

अमा की निशा में, मधुर स्नेह दीपक जले, छा गया पंथ पर नव उजेला !
विहँसती दिशाएँ खुशी के दियों से
सरसती दिशाएँ नई रश्मियों से
कहीं भी नहीं नाम है शेष तम का—
कहीं भी नहीं नाम है शेष ग़म का—
नई भावना से भरा आज जीवन, धरा पर सरस हास का मुग्ध मेला !
लिये हाथ में भारती भव्य वीणा
रही गा युगों बाद फिर से प्रवीणा
सुहाने स्वरों से महा मौन मुखरित
सुहाने स्वनों से विजन - वीन झंकृत
नई कामना से भरे प्राण तन-मन रहा अब न पंथी डगर पर अकेला !

पवन मुक्ति का नव्य संदेश लाया
मुझे जागरण का नवल पर्व भाया
तिमिर वृन्त पर स्वप्न कवि के खिले हैं
तिमिर वृन्त पर फूल छवि के खिले हैं
मृदुल गीत गाओ सभी वंदना के, अमर हो अमर राष्ट्र की मुक्ति बेला।

—शैल रस्तोगी

सब दिशाओं में खुशी के दिये जलें, नई किरणें फूटें, कहीं अंधेरा न हो, ग़म न हो, सब कुछ हो, किंतु यह तो अभी तक केवल अंधकार की डाली पर कवि के खिले हुए स्वप्न हैं। यही तो दिनकर का कहना है कि इस समस्या का क्या अंत है? यह प्रश्न चेतना का ही तो है।

इसका उत्तर प्राचीनों ने दिया है। वह है कि अंधकार अज्ञान है। प्रकृति के दो पक्ष हैं—संहार और सृजन। सृजन में मनुष्य अपने सुदरतम को देखता है। किंतु उसके मन में विकार हैं जोकि अहंकार से जन्म लेते है। व्यवस्था बाहर से नहीं बदल सकती उस मन को, क्योंकि अंततः मन प्रकृति के विकास में आया है, उसका अपना द्वन्द्व है। योगी लोग इसीलिए समूह की नहीं, व्यक्ति की मंगल कामना करने का रास्ता बताते थे, क्योंकि वे सबको इस ऊंचाई पर चढ़ आने के योग्य नहीं समझते थे। आज वह समाधान ग्राह्य नहीं है। बोधिसत्त्व ने लोक-करुणा मांगी थी। तब से वह अब निरंतर मांगी जा रही है और उसीकी निरंतर इतनी अगवानी भी की जा रही है :

स्नेह-भरा दीपक जलता है, दाह-भरी उजियाली
जीवन के इस चौराहे पर रात घिरी है काली
शलभों ने सीखा दीपक से दीपक पर जलना ही
संध्या ने देखा है प्रतिदिन सूरज का ढलना ही
फूलों से पूछो माली का प्यार मिला है कितना
दीपक की लौ! बता ज्योति का भार मिला है कितना
जलकर बुझती तिमिर-अंक में दीप पड़ा है खाली।

×

बिजली की तड़पन से निकली सावन की हरियाली
मिट्टी के मानस से फूटी सोने की उजियाली।
किंतु प्यास बुझने से पहले टूटी मेरी प्याली।

—रघुवीरशरण मित्र

कवि ने कितनी अच्छी बात कही है कि सावन की हरियाली बिजली की तड़पन से निकलती है और माटी के मन से सोने जैसी उजियाली फूटती है। मानव का हृदय ही

ऐसा है, जिसकी प्यास नहीं बुझती, काया समाप्त हो जाती है। क्या यह व्यक्ति ही है, या मनुष्य !

यह तो मनुष्य है। व्यवस्थाएं इसकी तृष्णा को नहीं रोक सकतीं। यह समाज में रहता है। अहं को इसे काटना पड़ता है लोक के कल्याण के लिए। यह कल्याण है उसके अहं का परिमार्जित और उदात्तरूप। कवि कहता है :

गीत का दीपक सँजो दो दीप्त जागृति के स्वरों से !
उर-जलद-पट पर लिखो फिर दामिनी के अक्षरों से !
युगों के अवसाद में आह्लाद - जल - उत्पल खिला दो
बहुत दिन बिछुड़े रहे जो खिन्न बहिरन्तर मिला दो !
किरण- कलियों की करो बरसात फिर मधुराधरों से !
कल्पना कलहंसिनी फिर खोलकर उन्मुक्त विहरे !
कर परस मधु छंद का फिर आपुलक अनुभूति सिहरे !
फिर झरें नन्हीं फुहारें चेतना के निर्झरों से !

—नरेन्द्र

बहिरन्तर मिलाने की ही बात इस समय कवि के सामने है। बाहर बहुत कुछ है तो भीतर भी मनुष्य उतना ही धनी क्यों नहीं है ? वह अपनी ही विभवान्वित सर्जना के बीच इतना दुःखी क्यों है ? क्योंकि वह तारतम्य नहीं जोड़ पाया है। चिंता उसे दबाए रहती है। मनुष्य अपनी बनाई सुन्दरता से न जाने क्यों डरने लगा है। इसका कारण है कि यंत्र उसपर छा गया है। यंत्र के निर्माण से जो हल निकलते हैं उनमें एक ओर शोषण है, तो दूसरी ओर बुद्धि का अपहरण। कवि किसे स्वीकार करे। उसका मन कहां से शक्ति और सांत्वना पाए। यह वह जानता है कि पलायन आज किसी भी प्रकार मुक्ति का साधन नहीं है। मध्यकालीन और प्राचीन लोग जिसे मुक्ति कहते थे, वह उसे अत्यंत वैयक्तिक समझता है।

और तब उसकी कोमलता जागती है। वह लड़ना नहीं चाहता। रहस्यमय से तादात्म्य स्थापित करता है। उसे अपना बना लेता है और उससे याचना करता है :

आलोकित कर दो प्राण दिया !
ये स्नेह सरस बूंदें पी-पी फिर हरा-भरा हो उठे हिया
दे - दे निज प्रेम-प्रभा पावन
तुमने हैं स्वर्ण किए रज कण
इस सुख से मैं अपना दुर्गम पथ चल-चलकर भी आज जिया
बाती न बुझाओ दे ठोकर
धरते जाओ नव तूल सुघर

अपना प्रिय पंथ निरखने दो तम मत कर दो, न बनो छलिया !
युग-युग तक जब यह लौ जल-जल
नव ज्योति दान में हो असफल
देकर निज करुणा का अञ्चल ढक लो उसको तव प्राण पिया !

—सुधीन्द्र

स्नेह, पावन प्रेम, आलोक, जलने की स्वीकृति और करुणा यही उसके संबल बनकर रह जाते हैं। वह इन्हींको मानव के शाश्वत प्राकृतिक गुण मानता है। वह यह अनुभव करता है कि बाह्य प्रगति नहीं, मन के भीतर तो इन्हींकी प्रगति से हम सुख पा सकते हैं, वैसा ही जैसा प्रिया प्रिय से मिलकर प्राप्त करती है। वेदना भली है यदि जल-मिटने की साध है। लोक के आडंबरों में सत्य नहीं है, केवल दिखावा है :

शत शत दीप जले, दीपों में शत शत आकुल प्राण जल उठे
उनकी जलन, तपन पर उनकी विश्व हँसा ! त्यौहार मनाकर !!

×

मानव की भोली भूलों को पाप समझ ठुकराने वाले
देवों के मंदिर में, मानवता को कोई स्थान नहीं है।

×

तुम्हारे हृदय की बात बताकर क्यों रोऊँ मैं
क्यों न हँसूं आंचल में अगणित शूल छिपाकर ?

—कुमारी प्रभा दत्ता

दुःख को पी जाना, सीख लेना मानव की एक जीत है। मानव तो भूल करता ही है। उसे प्रकृति का ही एक रूप समझना है। उसे करुणा से ही जीता जा सकता है। वह ही नये युग का सूत्रपात है। तभी लगता है कि अब व्यवधान नहीं है। इतिहास के जल में संस्कृति खिल आई है। इंदीवर नीले कमल को कहते हैं। वह स्वर्ण लगता है अपने प्रकाश-पुंज के कारण। स्थिर जल में उगनेवाला यह कमल नहीं। यह अर्णव अर्थात् ऊभ-चूम होते सागर में खिला है :

व्योमांक ज्वलित सांस्कृतिक विभाकर भास्वर
बहता जीवन में अमृत गति
ज्योति निर्झर
इतिहास महार्णव बीच स्वर्ण इंदीवर
लो प्रभापूर्ण विकसित हो
आया संवत्सर !

×

वैभव का युग उड़ गया गगन में निस्तरंग।
वह सूख गया जीवन का तरु, उड़ गये विहंग।
कंकाल मात्र रह गया शेष केवल ठठरी
यह संवत्सर, जीवन का स्वर
इतिहास छार की ले गठरी।

—रामेश्वर शर्मा

विगत अब मर चुका है। नया जन्म लेगा।

संक्षेप में हम कह सकते हैं, आज प्रकृति के बाह्य और अंतस्थ दोनों ही काव्य में आए हैं। मानव ने अपने व्यक्तित्व की प्रकृति को भी लिया है, समाज और युग से भी उसे मिलाया है। यद्यपि दीप, अंधकार आदि की पुनरावृत्ति हुई है, परंतु उन्हें हम अलग-अलग अर्थों में देखते हैं (न देखनेवाले की भूल हमारे सिर पर) इसलिए हमें प्रकृति का कहीं अधिक गहरा चिंतन मिलता है। अब प्रकृति में अचेतन ही नहीं, चेतन भी सम्मिलित है और चेतना के प्यार में अचेतन को भी चेतन करके देखने की चेष्टा मिलती है।

संघर्ष की वेला में यह क्रम आगे ले जा रहा है। मनुष्य अभी और आगे जाना चाहता है। अब हमें देखना है कि वह किस प्रकाश के लिए इतना आतुर हो रहा है। वह है उसकी निद्रा का अंत, जिसे वह अपने संगर में कहता है—नयी भोर!

उदात्तीकरण और सामंजस्य

आज का कवि 'परिणति' में कहता है : "मैं बोध करता हूं कि दुःख की प्रत्येक अनुभूति में कहीं आत्मा है जो प्रगाढ़ अनुभूति में मूल से सिहरती है। आत्मा की ज्योति में गहन से गहनतर न जाने कहीं शून्य छिपा हुआ है। दुःख की सतत अनुभूति में एक महत्तर आत्मा है। जैसे सक्रिय अनंत जलराशि से समुद्र के कूल कटते हैं, उसी भांति शून्य की निविड़ता विकास पाती है। एक दिन महत्तम आत्मा की यह ज्योति इसी गहनतम अनुभूति में महाशून्य में चिर परिणति पायेगी।" (रामविलास शर्मा) इसीको दूसरा कवि कहता है : "कुछ जीवन की दुर्बलता है, कुछ मरघट की लाचारी है।" (शिवबहादुर सिंह) "यह तो वह गोट है जो पिटकर एक और मौका मांगती है अपनी जीत को हार, हार को जीत से बदल देने के लिए। किंतु वह पिटती रहती है और चाल चलती रहती है। सांस का यह सफर चलता रहता है। मृत्यु चलती चली जाती है।" (नीरज) क्योंकि सारा शृंगार नश्वर है, इसीलिए सौंदर्य सुकुमार है।

"मिट्टी का तन है, मस्ती का मन। क्षण-भर का जीवन है। कल जो रूपहीन था वह आज जागरित नवीन है। पता नहीं कौन-सा कुंभकार यह खेल कर रहा है?" (बच्चन) "केवल मानव का सरस हृदय ही इस माटी को जीत सकता है, धन, अमरता और वैभव नहीं।" (बच्चन) "तृष्णा के आंगन में सब ही चलो-चलो की बोली लगाकर चले जाते हैं। दो दौर भी नहीं चल पाते कि चलने का परवाना आ जाता है। जीवन यदि जलना ही है तो वह सजीव में प्राण समर्पण करके जलना चाहता है। यहां सब अपने-अपने दुःख ढोए चलते हैं। दुःख परस्पर नहीं बंट पाते। एक सुखी है, एक दुःखी है, यह विश्व का भारी अभिशाप है। संवेदना-मात्र से तो काम नहीं चलता।" (बच्चन) "यह ज़िंदगी एक गीतों की पालकी उठानेवाली कहार है। सारी दुनिया धुंआधार हो रही है, कहीं काफिला निकल न जाए।" (वीरेन्द्र मिश्र) "आदमी किरण को देखता है, किंतु पहचान नहीं पाता। सरोवर छोड़कर वह गगन के फूल पर सायक संधानता है।" (दिनकर) "काल के निस्सीम जल में सांस की छोटी लहर जगमगाती जा रही है। नियति के द्वार से उसे कोई झांककर देख रहा है।" (केदारनाथ मिश्र प्रभात) इसी मानव को आज चिंतन ने हिलाकर रख दिया है। "यहां हर एक तृप्ति का दास है। पीने से प्यास बढ़ती है। स्वप्नों की दुनिया

में मानव भटक रहा है।" (बच्चन) किंतु उसके सामने आज तूफान है :

लहराता तूफानी सागर
अक्षय निधि वारापार नहीं
इसका कोई आकार नहीं
इस पार किनारा यह इसका
उस पार कहाँ रुकता जाकर
छोटे नद-नदियों से हारा
हो गया रुदन से जल खारा
जल भरने यहाँ नहीं आती
वह नवल सलोनी ले गागर
आकाश चूमने को जाता
पर जल्दी लौट तभी आता
खारे पानी को छूते ही
गल जायें न तारे घबराकर

—देवराज दिनेश

"कभी जब कविता वन में रहती थी तब कवि दर्शन में डूबे रहते थे। फिर वे सामंती सुरासुन्दरी में फंस गए। भक्ति की लहर के बाद शृंगार की व्यभिचार-भरी उन्मत्तता आई। फिर कवि स्वप्नों में डूब गया। परंतु वन में आग लग गई। तब वह बस्ती में आ गया। और कवि की जीभ पर ज़हर उतर आया; क्योंकि बस्ती में आग लगी हुई थी।" (तेजनारायण काक) अब "प्रेम की मदिरा को गंगाजल माननेवाला, धर्म का उपहास करनेवाला, सौंदर्य में डूबा हुआ कवि, जो स्वयं ही साकी और स्वयं ही पीनेवाला था।" (बच्चन) "हर कदम पर जीवन की चुनौती देखने लगा। अंतिम मंज़िल तो कहीं नहीं दीखती। केवल धूलिश्लथ तन में विश्वास बचा रहा। सितारों ने आशा का एक भी संदेश नहीं दिया। प्रकृति ने पथ में एक भी मंगल शकुन नहीं किया। अब उसे उस पार का भी भय नहीं रहा। मृत्यु-पथ पर वह बढ़ चला निर्भय। वह तो किसीके हाथ का साधन-मात्र था। मानो उसके द्वारा केवल सृष्टि की कोई मांग पूरी हो रही थी! आकाश की भुजाओं में रजनी भिंच गई और निरुपम रुपहरा चांद शीश पर टिक गया। उसने बार-बार अपना प्यार दिया।" (बच्चन) "ज्ञानी ने मानस-मंथन करके इस संस्मृति को मृगमरीचिका माया कहा, समाधिरत साधक योगी ने इसे भोग-छाया। वे सब जीवन से भाग गए। प्रेमी ही मरण के आगे चल सका।" (सुधीन्द्र) "धूल में मिलने से डर हट गया; क्योंकि फिर दीपक बनने की संभावना जाग गई। अगले जन्म में दीप बनकर डगर में जलने की कामना ने उसे नया विश्वास दे दिया।" (रामकुमार चतुर्वेदी)

"ज्योतिर्मय के आंगन से पुकार उठने लगी। मृत्यु क्षुद्र हो गई। जीवन शाश्वत सिंधु हो गया। मन में करुणा के आते ही सृष्टि के अंतराल का अमृत जी उठा।" (प्रभात) तब उसने स्नेह से कहा :

मेरी उदात्त साँसों में बसे स्वर
आज गीतों में बिखरकर,
यह कहो तुम !
झनझना दे, आज जो हर रोम मेरा
बने हलचल आज मन की
वह तरन्नुम।
लौह से निर्मम हृदय भी, इन स्वरों के
जरा से आघात से ही
जाएँगे हिल
और वे बेदार होकर इस हृदय से
गीत गायेंगे, यहाँ पर
प्राण से मिल।
आज भर आरोह सत्वर नेह के वे
दे भुला जो दर्द, वे तुम
गीत गाओ !
आज भावी स्वप्न मेरे जायँ बन वे
गीत अभिनव और नूतन
तुम सुनाओ।

—नन्दकिशोर

भावी स्वप्नों की गीतमालिका बनाने के पूर्व यह भी देखा उसने कि "जगत् एक विराट चक्की है। आकाश और पृथ्वी दो विराट पाट है। उनके बीच इंसान पिस रहा है। यह इंसान देखने को तो मुट्ठी-भर धूल है कि फूक से उड़ जाए, किंतु चार सांसों में जो वह बांधा गया है तो धरा को ठुकराने और गगन को दुलराने की साध उसमें भर गई है। मृत्यु भय में रहती है। निर्भय हो जाने पर अमरत्व हलाहल से सिद्ध हो जाता है।" (बच्चन) "यह माया जो नागिन-सी डोल रही है, सबके लोचन-तन-मन में व्याप्त है, वही अपना खेल खिला रही है।" (बच्चन)

बच्चन की 'नागिन' एक मास्टरपीस है। उसमें हमें बहुत ही गहरी दृष्टि दिखाई देती है। दर्शन की बारीकी बड़ी ही सरस बनी है वहां। मनुष्य के जीवन के बारे में वहां बहुत अच्छा विवेचन मिलता है।

"यह मनुष्य अनंत जीवधार का एक लक्ष्य है।" (सुधीन्द्र) "अम्बर का अधिवासी तो उसकी पुकार सुनकर नहीं बोलता।" (आरसीप्रसाद सिंह)

"एक किरण के लिए जीवन का जलजात विकल है।" (जितेन्द्रकुमार) किंतु "इस धरती में स्वर्ग है, मिट्टी में अमृत तरुवर का मूल है। यह जीवन विरह का जलजात है।" (हंसकुमार तिवारी) "तन्मय हों प्राण तो फिर विरह-छोह कुछ नहीं रहता।" (शकुंतला रेणु)

नया कवि इसी चिंतन में जब समाज की ओर देखता है तो वह अपने भीतर के परिवर्तन को वहां भी उतार लाना चाहता है। वह कह उठता है :

तमाम नींव खुद चुकी, तमाम भीति गिर चुकी
समाज जीर्ण - शीर्ण आखिरी उसाँस भर रहा
परम्परा बिगड़ चुकी, अतीत-रीति सड़ चुकी
सड़ा - गला समाज–कोढ़ फूट - फूट गिर रहा !
बदल रहा जहान है, उदय नया विहान है
नवीन अंतरिक्ष में नया विहग विचर रहा !
अतीत भीति तोड़ता, नया प्रवाह मोड़ता
सजग सतर्क इन्क़िलाब विश्व में निखर रहा !
मशाल झिलमिला उठी, कि रूढ़ि तिलमिला उठी
प्रगाढ़ अन्धकार–मुक्ति का चमक शिखर रहा !
नया गगन, नयी धरा, समूल नव परम्परा
नयी दिशा, नयी उषा, समुद्र नव लहर रहा !
प्रकाशमय भविष्य है, सजग सबल मनुष्य है
उठा भुजा सशक्त–आज शंखनाद कर रहा !

—घनश्याम अस्थाना

प्रकृति का आज वह नया रूप देख रहा है। सब कुछ बदल देना चाहता है। अपने सबल पौरुष का उसे इतना विश्वास हो गया है। वह जानता है कि "रात को सूरज नहीं उगता, पत्थरों पर फूल नहीं खिल सकते। रेत से प्यास नहीं बुझती। मुर्दे गा नहीं सकते। किंतु वह सारी बाधाएं तोड़कर प्राण का संगीत गा रहा है।" (श्यामसुन्दर अशांत) वह "संघर्षों के उद्गम से आरम्भ हुआ है और आदर्शों के संगम तक उसे जाना है। वह अपना माथा अभिमानी के आगे झुकाने को तैयार नहीं, वह तो स्नेह के लिए सिर कटा सकता है। संस्कृति के नगर से दूर जाकर वह मरना नहीं चाहता। रुकने से निर्माण नहीं होता।" (वीरेन्द्र मिश्र) वह "नहीं चाहता कि सत्य का सपना स्वप्न के सत्य के लिए टूट जाए। ज़रा दुनिया कुछ ऊंची उठ सके ऐसा सीढ़ी का पत्थर उसे बनाना है। अपनी मंज़िल का

ज्ञान लेकर बढ़ना आवश्यक है। भीतर झांको तो उजाला मिल जाएगा। बुलबुल कह रही है कि पथ में गुलाब के साथ कांटे भी हैं। वह बुलबुल किरण है, स्वर से निकली हुई। घाटे और मुनाफे से ईमान नहीं तोला जाता। इन दोनों में जो अविचल रहता है। वही इंसान है।" (शिवकुमार) "एक चांद मिल जाए तो वह सारा नील गगन दे देने को तैयार है। अपनी प्यास बुझाने के लिए वह त्रिभुवन भी दे सकता है।" (गोपालसिंह नेपाली) "वह अमर अनल-पक्षी है। उसे मरने का भय नहीं है। उसकी तो राख फिर जी उठती है। उसने भविष्य के मैदानों में अपने बीज बो रखे हैं। उसके शासन में जुल्म नहीं जी सकता। उसका गीत निर्झर है, और प्राण सागर में बह रहे हैं।" (हरिकृष्ण प्रेमी) "पर्वत कांपे, धरती डगमग हो गई। किंतु पीड़ा का सागर भेद कर वह जाग उठा है। रोम-रोम गाकर कहते हैं कि मैं जाग उठा हूं, मैं जाग उठा हूं।" (उदयशंकर भट्ट) "पाषाणों से वह निर्भय रहना सीखता है, तूफानों से बाधाएं दूर करना और परवानों से तन मन धन जीवन अर्पण करके मुक्ति और शांति के लिए मर मिटना।" (तेजनारायण काक) "मिट-मिटकर जीने की उसमें प्रबल साध है।" (उपेन्द्रनाथ अश्क) "वह जीना, मरना, खिलना और मुरझाना सीख गया है। दीपक से दीपक जलता है, अपने सिर की बत्ती कटवाकर वह दीपक की ज्योति बढ़वाता है।" (हरिकृष्ण प्रेमी) उसने कितना परिवर्तन कर दिया है :

देखो अभिशापित मानव ने जीवन का पथ मोड़ दिया है,
पाषाणों-सी निर्मम बंधन की काया को तोड़ दिया है।
रूढ़ि-जर्जरित विश्वासों की आज कलेवर बदल रही है
कई युगों की जीर्ण केंचुली दीपशिखा में सुलग रही है,
नई चेतना किरणों में जीवन-आलोक सिमटता आता,
धरती पर भगवान नहीं अब तो इन्सान चलेगा साथी।

—मृणाल

यही सबसे बड़ा भेद है। "जीवन-तरु की बुलबुल सुन्दर है। वह भावों के सघन पत्तों में निवास करती है। कल्याणगगन विराट फैला हुआ है। कल्पना-कलित गहरा कानन है। भावना के सुपन खिल रहे हैं। यह बुलबुल सबसे ऊपर है। यह मानवता को चिर दीपित वर है।" (अनंतकुमार पाषाण) "प्रकृति में जीवन सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर गया है। "उदासी से भरी बर्षाति की सूनी रात में अम्बर की डगर पर पथभ्रांत-सा गमगीन चिंतामग्न चांद रेंग रहा है। पीली चांदनी का गीत क्षण-प्रतिक्षण डूब-सा रहा है। ताल की नील लहरों पर बहती नाव-से बादल आकाश में फिसल रहे हैं। विस्मरण की गोद में अनजान कल्पना की मधुमयी झंकार को सहसा ही भयानक विस्फोट तोड़ देता है।" (घनश्याम अस्थाना)

यह विस्फोट ही परिवर्तन है। "किसका साहस है कि वह मनुष्य का स्नेह काल-

दिक् में सीमित कर सके ? असीमित है वह, उसे कौन बांध सकता है ?" (बालकृष्ण शर्मा नवीन) "वह चलता है तो उसके साथ-साथ साहस, हृदय का रस, निराशा-आशा, सृजन की भाषा, ग्रहण-सर्जन, जाति-संस्कृति, संचिता स्मृति, कुसुम-स्मय, विश्व-विस्मय सब चलते हैं।" (उदयशंकर भट्ट) "आग को वह व्यर्थ नहीं जाने देगा। जिनका कोई नहीं है, उन्हें वह अपना लेगा। वह संक्रमण युग में व्यग्र है, किंतु उसके पास आग है। जितना ही वह जन-जीवन ज्योति-दीप को उकसाता है, उतना ही उपकृत होता जाता है। इससे बढ़कर जीवन का उपयोग वह नहीं जानता। (शिवमंगलसिंह सुमन) और वह प्रकृति में मानव की कलुषकालिमा को धो डालना चाहता है :

तू गा कोकिल ! गा चिर किशोर !
गंधर्वकुंवर तू चिर सुन्दर मानव की दुनिया है कठोर
कोकिल ! गा, तूने चैत्ररथी वन के मीठे फल हैं खाये
स्वर्गंगा की उल्लोल उर्मियों में स्वर सप्तक सरसाये
झंकृति रसवन्ती महती की जो गगन-गुफाओं में बिखरी—
सुरपति के वैजयन्त से जो उठती मादक गायन लहरी
इन चञ्चुपुटों में जब समस्त भर लाया अमरावती, सखे
तब दीपित क्यों न बने दिगंत में यह वसंत वसुमती, सखे
ओ उड़नेवाले, ओ कोकिल-मानव-कवि की क्या कथा कहूँ
किस अलका की प्रेयसी रूपसी से विरही की व्यथा कहूँ ?

—केसरी

मानव-कवि की कथा भी विचित्र है! वह मानव की कठोरता नहीं सह सकता। वह तो पूर्ण ज्योति चाहता है। उसका तो "उन्मुक्त विहग अबंध हो गया है। उसके वासना के मोह अंध छूट गए हैं। कारातम के वासी ने उष्ण हास देखा है। वह गगन में आतुर पंख खोलकर उड़ चला है। वह अंबर का अनंत उर चीर देगा। युग-युग की जड़ता का अंत कर देगा। वैषम्य शृंखलाएं चूर-चूर कर देगा। सुदूर समता की स्वर्ण रेखाएं उग रही हैं। अपावन छलना के दिन बीत गए हैं। वह आज पुनीत-सा प्रभु चरणों में विसर्जित हो गया है। उसका पथ प्रशस्त फैला है।" (नेमिचंद्र जैन) "समय के तीव्र पृष्ठों पर वह हृदय के रक्त से अपनी कहानी लिख रहा है। सिंधु की अरुक उमड़ी रवानी को लिख रहा है।" (रामकुमार चतुर्वेदी) "दीपक जला दो, कहीं अंधेरा पृथ्वी पर न रह जाए! जब स्वयं मनुष्य दीप बन जाएगा तभी यह अंधेरी कटेगी।" (नीरज)

यह जीवन हास-विलास के साथ किसी वासना को लिए है और इसके कितने विविध रूप हैं :

एक दिन था, हरित वन के अंक में
झूलती मैं मखमली पर्यंक में
वह अनूठा स्वप्न का संसार था
प्यार का जीवन हरा-गुलज़ार था
हिम - उमंगें बढ़ क्षितिज के छोर से
झूम टकरातीं पवन - झकझोर से
विपिन के हिय की तरँग झकोर - सी
भूमि के सिर नवल नीलम मौर - सी
मैं हुलास-विलास के पलने पली
निखिल वन की लाड़ली लोनी लली
लचक जाती अंग - अंग उभार से
मैं अलस तन्वी झुकी छवि-भार से
चूम मेरे गाल गिरि की छोकरी
गुदगुदी देती मचा वह अप्सरी
छेड़ती फिर रस - भरी मृदु रागिणी
आग उकसाती हिये वह नाजनीं
दूर देश - विदेश की सुकुमारियाँ
छवि - वनों की मुग्ध राजकुमारियाँ
बैठ मेरे गरम पर्ण - हिंडोल में
झूलती हिलमिल उमंग किलोल में
अलस यौवन प्रिया पिय - छतिया सटी
कब न जाने शिशिर की रतियाँ कटीं
आह रे जीवन कठिन यह चोट है
आज तेरी याद एक कचोट है
मिट गई है जगत् की मधु यामिनी
लुट गई मेरे हृदय की चाँदनी
करुण रे वरदान दुस्तर यह प्रथा
कौन लेगा मोल त्रिभुवन की व्यथा।

—केसरी

प्रकृति का कैसा रम्य वर्णन है यह ! एक अनूठा-सा अपना ही लोक यहां झूम उठता है।

प्रभात के वर्णन में कवि अपने समय के नये चित्र को कैसी सुन्दरता से लाकर

प्रस्तुत करता है कि उसे देखते ही बन पड़ता है। प्राय: ही कवि ने सब नयी कल्पनाएं की हैं :

प्रात के पट पर किसी ने तूलिका से
बादलों के, लालिमा के औ' क्षितिज के
आंक डालें चित्र
जैसे नाट्यशाला में
किसीने दिये लटका नये पर्दे,
और सूरज ने किसी ऊँचे शिखर पर चढ़
कि अपनी आत्मजा उजली सुनहली धूप को
रथ से उतारा
लगा किरनों की नसैनी,
और चंपा की कली के
खुल गये हैं नयन
जैसे नयी दुलहिन हरित अंचल
औ' हरी सलवार की करती सलवटें ठीक,
सुघड़ पाटल ने लगाई है मिठाई की दुकान
कि भूखे 'खनिक-श्रमिकों' की तरह टूटे भ्रमर
साधना में लीन भाक्तन की तरह सूरजमुखी ने
अर्घ्य देने युगल बाहों को पसारा
ओस के कन पहिन कर परिधान सतरंगी-अनूठे
एन० सी० सी० के जवानों की तरह
फौजी सलामी दे रहे हैं प्रात को।

—कन्हैयालाल चन्चरीक

इसमें दैनिक जीवन में देखे हुए चित्र हैं।

असल में अब कवि ने "वे पन्ने फाड़ दिए हैं जिनमें उसकी स्मृतियां संगृहीत थीं। यौवन क्योंकि आगे देखता है इसीलिए वह हतभाग होकर रोना नहीं चाहता। उसे अपना भविष्य प्रिय है, वह अतीत को नहीं चाहता। वह अपने पथ पर बाधाओं से ही विजय-गीत सुनना चाहता है।" (श्रीराम शर्मा प्रेम) "यह धरा स्वर्ग मृत्युञ्जय स्वर्ग पा गई है। सदियों के तिमिर को मानवता ने पार कर लिया है।" (गिरिजाकुमार माथुर) "नये स्वरों में जवानियां शिंजिनी बजा रही हैं। वे लहू में तैर-तैरकर नहा रही हैं।" (दिनकर) तभी एकदम नई भूमि को हमारे सामने पसार देता है नया कवि :

धरती में गड्ढा कर चिड़ियाँ धूल नहातीं,
चीर दुपेरी के उजाड़ को

चले जा रहे तेज़ काफ़िले
संस्कृत के सामासिक लम्बे
वाक्यपदों-सी वे पहाड़ियाँ
तान बादलों की रंगीन छतरियाँ
धूप किताबें बाँच रही हैं।
'याम्रो फांग'—शैल घरों की
ठण्डी पथरीली छत नीचे
लांग मार्च के विकट
दिनों में लाल सिपाही
बूट पट्टियाँ खोल सभी सुस्ताते होंगे।
वह अफीम का प्रांत शेंसी—
पीनक में सोता रहता था
सीक्यांग तलहटी में साइक्लोनी
गुब्बारे उड़ते रहते हैं
उन कपूर के गौर वनों से
आती वह सीक्यांग
गंध में सने लहर जूड़ों को
अपने हरे-हरे ताड़िल
पंखों से सदा सजाती;
वेणी जैसे गुँथे हुए वे नद्दी-नाले,
चेस्ट नटों के जंगल
में मुस्काते रहते;
चट्टानों के पंख निकाले
वे भूरी कद्दावर खानें
तैल सुखाती हँसती जातीं;
जस्ते जैसी आँखों वाली
नानलिंग की अन्धखाइयाँ
पारा-ताँबा उगल रही हैं,
जिनको सहन नहीं होती है
पेट्रोल की तेज़ मँहक
वे बादल उड़कर आगे को बढ़ जाते
नगर दीवारों के वे टूटे-फूटे

बुर्ज घास की बड़ा डाढ़ियां
गोले के ले घाव सोचते ठह जाने की।
पंख और डाढ़ीवाले
उन शेरों की वे शिला मूर्त्तियां
पानी-भरे धान खेतों में
खड़ी हुई हैं देती पहरा;
राजमंदिरों के खम्भों पर बने हुए
वे तेज दांत के उड़ते ड्रेगन
रंग ओढ़कर हांफ रहे हैं
बुढ़िया पागल जैसी अंध
हवाएँ चीख रही हैं रक्त सनी वे
इन-सत्ता घूरों के ऊपर
धुँए जला इतिहास खड़ा है
ज्वालाओं के जिसके केश दिशा कंधों पर
जली घास ले लहर रहे हैं
सदियों के कोड़ों ने खींची रक्त नदियां
महाकाश के नील क्रॉस पर
महामनुज वह रक्त सना
बेहोश आज फिर जाग उठा है।

—नरेश मेहता

नरेश ने कितनी सशक्त कविता लिखी है। महामनुज ही इसका अंतिम नायक हो सकता था। एकदम नयी उपमाएं, नया रचना-विधान! नरेश से बहुत आशा करना भी असंगत नहीं है। उसने प्रकृति और मनुष्य, इतिहास और संस्कृति को कैसा मिला दिया है! 'रक्त की नदियों का सदियों के कोड़ों से निकलना' कितनी गहरी दृष्टि है। और फिर उसने देशों की बाधाएं मिटाई हैं। सारी वसुधरा उसके लिए एक है। इतने नये रचना-विधान के दर्शन इधर नहीं हुए। उसकी एक-एक पंक्ति में प्राण है, किंतु एक कमी है अवश्य, वह है ताल और लय की। बातचीत का ढंग है, सो तो आकर्षक है; परंतु थोड़ी-सी गति और अधिक होती, तो निस्संदेह कविता और भी सुन्दर बन पड़ती। प्रश्न उठ सकता है कि भावपक्ष में यह कविता किधर अपना प्रभाव डाल सकती है? मैं पूछता हूं कि भक्ति की कविता किस ओर ले जाती है। विश्वास और आस्था के रूप बदलते रहते हैं। अतः उसपर विवाद करना व्यर्थ ही है। मान्यताएं काव्य में प्रभुत्व पाने पर प्रभाव नहीं छोड़तीं, हृदय का स्पर्श छोड़ता है। नरेश परिपाटी का कवि नहीं है।

वह प्रकृति के बहुत ही प्रभावशाली वर्णन करता है। इधर उर्दू कवि सरदार जाफरी की 'एशिया जागरण' का प्रचार काफी रहा है, किंतु इस कविता के सामने वह बहुत ही अल्पप्राण है। नरेश की शैली अलग है और उसमें एक सहज प्रेषणीयता है:

मंगोल प्रान्त के कण्ठ देश में
ठण्डी उजली मणिमाला-सी
बरफ ढँकी वायव्य दिशा की लघु पहाड़ियाँ
मुर्गपंख - सी मखमलवाली
चूनर ओढ़े नृत्य कर रहीं,
घोसी जैसा सिंलिंगशान
वृद्ध आँखों से देखा करता
कन्या के उन गोल-गोल
गोरीले चरनों का रस नर्तन।
वह पहाड़ से भरी भूमि उत्तर प्रदेश की
कमर पेटियाँ कसे खड़ा ज्यों लाल सिपाही।
उतर रही ईशान दिशा से निचले
उस नैऋत्य दिशा तक
ताम्रवर्ण की माटी गंगा,
जैसे कोई नई वधू हो
बाँये - बाँये साथ चल रहीं
शैल साथिनों के कन्धों का लिये सहारा
हरी फ़सल के मण्डप ओर बढ़ी जा रही।
वे उभरे-उभरे पठार गोरोचन छाँहों में डूबे
पीले समुद्र की पाग पहन हैं
दौड़ रहे यांगटिसिक्यांग का जल पीने।
अग्निकोण के तटवर्ती देशों की
सीमाओं पर खड़े लाल सेना-से
शैल शिखर वे
माल लदे जल पोतों को देखा करते हैं,
झेचवान की मुर्गपंख - सी
मखमल पर है
सरक रही वह पीत यांग्टी
(कुहरे लिपटी हाथीदाँत बाँह की फिसलन)

तिब्बत तक आते-जाते
वे गोरी, उजली, लाल—

—नरेश मेहता

एक के बाद एक आपको एक नयापन मिलता चला जाता है। यह सच है कि अति से चमत्कार भी जन्म ले सकता है, किंतु वह तब होता है, जब कवि के पास कोई उदात्त संदेश नहीं होता। यहां वह है और पूर्ण जागरित है। उसे मानवता से प्यार है। प्रकृति उसके लिए मानव की चेतना को परिष्कृत करनेवाली है। वह सकल भूमा को एक मानकर कहता है :

सुनो पृथिवीवासियो।
माता हमारी, महापृथ्वी
अग्नि है, धन-धान्य है,
रूपायनी संघर्षशीला है···
यह लड़ी थी सिंधु औ' आकाश से···
रूप पाने के लिये
इसलिये संघर्ष···
जन की शक्ति है
हैं चरण, मस्तक और भुजाएं
'साम्यवादी' काश में···
और जन का शत्रु वह
कीटाणुओं के बम गिराता है···
असुर है, वृत्र है,···
धूल इसके वसन हैं, मृत्यु इसका भाग्य ही है···
हम विधाता भाग्य के इसके
पृथ्वीकृत हैं, श्रमिक हैं···
और यह जन-शत्रु है।

—नरेश मेहता

सत् और असत् के संघर्ष के रूप में कवि ने लोक को दो वर्गों में बांटा है। परंतु वर्गों के विभाजन से भी बढ़कर है यहां उसका पृथ्वी के निवासियों को एक करने का प्रयत्न, जिसमें वह मधुमन्त जीवन की कल्पना करता है।

अब "कल्पना होती जा रही है और जिंदगी पास आती जा रही है। डगमगाती जा रही है वह। केवल प्रणय नहीं, साथ में संघर्ष भी चाहिए क्योंकि तूफान चांदनी से नहीं थमते। पहले कभी उसका स्वप्न से संबंध था, किंतु तब वह मंद था और वह बात

अब बीत गई है। अब वह गतिमय है। कटु सत्य के वह पास आता जा रहा है। अंधेरे को वह उजाला नहीं मान सकता, न होलिका को दिवाली। नवयुग का सबेरा हो रहा है। आज केवल आशा ही नहीं, विश्वास भी हो गया है। धरती ही नहीं, आकाश भी नव-निर्माण का संगीत छेड़ रहा है।" (वीरेन्द्र मिश्र)

"विश्व की संपूर्ण पीड़ा सम्मिलित होकर रो रही है। फिर कवि लहरों का निमंत्रण पाकर भी तीर पर कैसे रुक जाए ?" (बच्चन) "आज लहरों से उलझने को भुजाएं फड़क रही है।" (बच्चन) कुछ भी हो वह रुकना नहीं चाहता, चाहे अंत में उधर भी अंधेरा ही मिले। वह तो बंधनों को तोड़ देना चाहता है, ऐसा ऊब गया है वह उनसे। कवि कहता है :

उड़ो विहग, बाँधे मत रहो पंख
वह निशा चली गई जो अब तक
रङ्ग - रङ्ग के सपने देती रही, उड़ो विहग !
जिन किरणों ने कोमल स्पर्श से
तुमको अपना प्रिय परिचय दिया
उनको अब अपना लो, उड़ो विहग !
अब प्रकाश ही प्रकाश भूतल पर, नभ तल पर
ये प्रकाश की लहरें उज्ज्वल से उज्ज्वलतर
तिरते हैं जड़ - चेतन चर-अचर, उड़ो विहग !
दिवा यह तुम्हारी सत धर्मिणी है, लक्ष्मी है
स्वागत कर उसका सम्मान करो, उड़ो विहग !

—त्रिलोचन शास्त्री

हे विहग ! उड़ चलो। अब कोई बंधन शेष नहीं है।

वह स्वतंत्रता की ओर चलनेवाला कवि अब "किनारा नहीं चाहता। उसे देखकर दिशाएं छिपने लगी है। उसे देखकर आदाएं हसने लग गई हैं। उसे झूठी दया का सहारा नहीं चाहिए। हहरती वायु उसका साथ देगी, घहरती घटा हाथ बढ़ाकर सहारा देगी, क्योंकि तूफान ने उसे बुलाया है। उसे एक गति, एक धारा चाहिए।' (श्यामबिहारी शुक्ल 'तरल')

"वह मन्थर गति से चलनेवाला निर्झर है। वह उर्वर ऊसर, मृदु प्रस्तर पर चलता फिरता है। वह पावस का श्याम मेघ है जो क्यारी-क्यारी सींच रहा है। वह तूल नहीं है। उसमें भारी वज्रपात करने की क्षमता है।" (रुद्रदत्त मिश्र)

"व्यथाओं का किनारा ढूढ़कर भी क्या मिलेगा ? वे तो सदा आंसुओं का सहारा लेकर बैठी रही है। इन पुराने रास्तों को, अब नियति माने या न माने, लेकिन लक्ष्य पाने

के लिए तो कुछ नये पग उठाने ही होंगे।" (महेन्द्र जोशी)

"चारों ओर खंडित मान्यताएं हैं। रूढ़ियां चीन की दीवार की तरह फैली है। विज्ञान के अनुसन्धान, नये आविष्कार, गर्वोन्मत्त। जगत् की छत पामीर को चुनौती दे रहे हैं।" (महेन्द्र भटनागर)

इसलिए नया कवि रात के ढलान में दूसरा ही सौंदर्य देखता है, क्योंकि इस समय वह दुःख से व्यंग्य पर उतर आया है :

इस सुबह के चाँद की मृदु चाँदनी में
चल दिये टट्टू लिए टूटे हुए इक्के
(रथों के रूप बिगड़े)
सब पुराने कर्मयोगी
सिर घुटाकर आज उनमें हैं सुशोभित।
वे कुचलकर भी पुराने देवगृह को
जाएँगे वन्दन बजाने
क्योंकि सुंदर पर्व यह वरदान है भगवान का।

×

आज ऊँची चिमनियाँ भी
धूम्र उगलेंगी अगर, लोहबान का
आज मन्दिर की फिजाँ में
ऊदबत्ती की महक
चन्दन सुगंधित व्याप्त होगी
और पाटल गंध से अभिसिक्त जल की
अब वहाँ बरसात होगी।
क्यों सुनें वे दर्द की आवाज़ तेरी
स्वस्तिवाचन के क्षणों में ?

—हरिव्यास

आज का कवि "एक बार जी रहा है, एक बार मर रहा है, वह अपनी जान का सौदा एक बार कर रहा है। इसलिए अपनी जवानी के चिराग का एक बार तूफान में धर रहा है। कल काली रात चीरकर सबेरा आएगा। सितारों के देश से उसका सूरज आएगा। वह सोने की जवानियां साथ में लाएगा, वह अपने साथ फूलों की कहानियां लाएगा। इसीलिए वह इस रात की खामोशी और सुनसान में, सितारों के मकान आसमान में एक बार गीतों की रागिनी भर रहा है।" (गोपालसिंह नेपाली) "अश्वत्थ आज भी खड़ा है। मन स्थिर होता है, भ्रम मिट जाता है, माया हट जाती है। अश्वत्थ के तले किसको ज्ञान

नहीं मिलता ?" (जानकीवल्लभ शास्त्री) अश्वत्थ बोधिद्रुम है। उसके नीचे बैठने से मनुष्य बुद्ध हो गया था। अश्वत्थ की विवेचना हम पहले कर चुके हैं। यहां कवि का यह वचन महत्त्वपूर्ण है—"जूझो भी ! जीवन से भागे क्यों जाते हो ? तन से शांति नहीं मिलती, मन से मिलती है।" (जानकीवल्लभ शास्त्री)

मनुष्य की पराजय यदि मानव-यात्रा को अपराजय बना देने को हुई है तो वह पराजय नहीं है। अपनी 'हिमालय-अभियान' नामक कविता में राकेश ने पर्वत पर चढ़नेवाले वीरों का अंत देखकर लोक में उन्नति-पथ पर सो गए मनुष्यों के लिए कहा है :

काल कालिम नाग की कर शीर्ण विष जंजीर
सो गये चिर नींद में वे अमृतप्राशी वीर
पी गये जो धूम विष का श्याम
उन अमर बलिपंथियों को कोटि-कोटि प्रणाम
जो न अन्तिम क्षणों में भी हुए विचलित नेक
सफलता हो या विफलता पर न छोड़ी टेक।
सिर झुका, ले सुठि सुमन के हार
वन्दना उन पुरुष-सिंहों की करे संसार।
ध्वस्त उनके अस्थिकण को स्नेह से संतृप्त
अमृत बूंदों में बरस कर मेघ कर दे सिक्त
समय के इतिहास पर भी कालिमा छा जाय
पर मधुर बलिदान की यह अमिट लिपि रह जाय।

—रामइकबालसिंह 'राकेश'

हिमालय पर चढ़ना भी आज के कवि का विषय है।

"अलंघ्य गिरिमालाएं उसे सुगम हो गई है। वे उसके गले में हार बनकर झूल गई हैं। राह के देश-देश की वेगवती सरिताए उसके पैरों से लिपट-लिपट गई हैं। दुर्दात सागरों की तरंगें भुजंगिनी जैसी हैं। जाने-अनजाने द्वीप-द्वापांतर, देश-देशांतर उसके हार की मणियां बन गए है। ज्योंही उसने पांव उठाया कि विश्वसधान, नवनिर्माण की महेच्छा से आकुल होकर, चिर कुमारिका वसुधरा द्यूलोक का ज्योतिर्मय उत्तरीय धारण किए उमड़ पड़ी। अनंत कामना और अनंत आकर्षण के केन्द्र उसके वे उरोजबिंब जो चिरंतन रहस्य के आगार हैं, कवि की आंख के सामने आरपार झलक उठे। विकास और प्रगति के सारे पंथ उसकी उंगलियों पर चक्राकार खेलने लगे।" (वीरेन्द्रकुमार जैन)

"रात के सुनसान में जब तूफान नीद में डूब गया और मौत खुद मातम मनाकर मर गई, तब भी ज़िंदा दिल इंसान जीवित रहा।" (नर्मदेश्वर उपाध्याय)

वह आज प्रकृति का सबसे बड़ा नायक है। उसके वर्णन नये हैं, वह स्वयं एक

नया विषय है, तभी उसके विषय की कविता भी नयी है। वह एक दीप है। दीप में आलोक है। वह आलोक है, दिया नहीं। आलोक सर्वत्र पूज्य है, अतः मानव पूज्य है। एक कवि कहता है कि वह आलोक कभी बुझता नहीं :

बुझी न दीप की शिखा अनन्त में समा गई !
अमन्द ज्योति प्राण - प्राण बीच जगमगा गई !
अकम्प ज्योति - स्तम्भ वह पुरुष बना
कि जड़ प्रकृति बनी विकास चेतना
न सत्य बीज मृत्तिका छिपा सकी
उगी, बढ़ी, फली अरूप कल्पना,
न बँध सका असत्-प्रमाद-पाश में प्रकाश तन
विमुक्त सत् प्रभा दिगंत बीच मुस्करा गई !
मरा न कामरूप कवि बना अमर
कि कोटि - कोटि कण्ठ में हुआ मुखर
मिटा न काल का प्रवाह बन घिरा
असीम अन्तरिक्ष में अनन्त स्वर
न मन्त्र स्वर अमृत सँभाल मृण्मयी धरा सकी,
त्रिकाल-रागिनी अनन्त सृष्टि बीच छा गई।

×

जिसे न पाश तन बना, न छू सका मरण चरण
विराट चेतना अरूप बन स्वरूप पा गई
बुझी न दीप की शिखा, असीम में समा गई।

—शम्भूनाथसिंह

पुरुष ही ज्योति-स्तम्भ बना। जड़ प्रकृति से ही विकास की चेतना आई। माटी में से ही अरूप कल्पना निकली है। प्रकाश असत् में नहीं बंध सका। सत् ही विमुक्त होकर सबपर छाए जा रहा है।

यही मनुष्य बना है। यह मनुष्य भाग्य का खिलौना है, परन्तु भाग्य भी मनुष्य का खिलौना। कवि दोनों ही पक्षों को स्वीकार करता है। मानव प्रकृति का अंग है। वह उसका किसी सीमा तक नियंता भी है। पहले मानव प्रकृति से लड़कर भी डरता था, आज का मानव डरकर भी लड़ता है। यह वह असली बात है जिसके कारण उसमें इतनी उलझन भर आई है। प्रकृति का क्रम निरंतर चलता रहता है; वह रुकता नहीं। सुख-दुःख की अनुभूति प्रकृति देती ही रहती है। सब कुछ यहीं है, इसलिए कवि ग्लानि और दुःख नहीं करता। वह इसीमें छलना भी देखता है और इसीमें संपूर्ण आनन्द भी। प्रकृति

से मानव इस प्रकार अपना तादात्म्य कर लेता है। उसके द्वेष समाप्त-से हो जाते हैं :

पश्चिम में जो भानु डूबता वही उदय होता प्राची में
मावस की कारा में बन्दी चाँद खिले पूरनमासी में
यहाँ चिताएँ भी जलती हैं औ' जन्मोत्सव के दीपक भी
काँटों के विकराल जाल भी सुमनों के मादक विभ्रम भी।
यहाँ रुदन भी और हास भी।
इसी धरा पर नरक भयावह इसी धरा पर स्वर्ग सलोना।
मनुज भाग्य का एक खिलौना भाग्य मनुज का एक खिलौना
यहाँ मुक्ति का भव्य-भवन भी और मुक्ति का पुण्य पंथ भी
माया की मोहक छाया भी, ब्रह्मानन्द-प्रकाश-पुञ्ज भी।
अचिद् सग चिद् का विलास भी।

—प्रेमप्रकाश गौतम

प्रकृति में अन्य वस्तुओं पर बहुत लिखा गया था। लेकिन 'माटी' पर इसी युग में लिखा गया। माटी की अमूर्त्त कल्पना इतनी सजग है कि उसे एक नयी 'पात्री' ही कहना चाहिए। जब व्यापक दृष्टि हुई तो मानव सारे संसार को एक करके देखने लगा। उसे पृथ्वी के प्रति पहले से कहीं अधिक अनुरक्ति हो गई। अब उसने उसे सहेजा, किंतु उसके स्थूल रूप तक ही वह सीमित नहीं रहा। उसकी चेतना को उसने उदात्त माना और जीवन के उच्चतम स्तरों को उसने उसमें निहित माना। कवि कहता है कि स्थूल को मनुष्य से दूर तो नहीं किया जा सकता, परन्तु उसका उदात्त रूप ग्रहण करो :

भोगो तुम इस भाँति मृत्ति को दाग नहीं लग पाए
मिट्टी में तुम नहीं, वही तुममें विलीन हो जाए
मन का होगा आधिपत्य जिस दिन मनुष्य के तन पर
होगा त्याग अधिष्टित जिस दिन भोग-लिप्त जीवन पर
वल्कल मुकुट परे दोनों के छिपा एक जो नर है
अन्तर्वासी एक पुरुष जो पिण्डों से ऊपर है।
उसे जान लेने पर ही—
.....होगा सुप्रभात
नर के सौभाग्य उदय का
उस दिन होगा शंख-ध्वनित
मानव की महाविजय का।

—दिनकर

मन इस प्रकृति का सर्वोच्च और सर्वोत्तम उदात्त स्वरूप है। मनुष्य इसीको

श्रेष्ठतम माने तो लोक में आनंद हो और प्रकृति भी अपने पूर्णत्व को प्राप्त करे। आज हम उद्दीपन और आलंबन के चक्कर से भी काव्य मे प्रकृति के प्रति अधिक निकट आ चुके है क्योंकि अब माटी के रूप में हमने उससे अधिक सान्निध्य प्राप्त कर लिया है और वह 'पुरुष' जो चेतन है, वह भी उसीका परिष्कृत स्वरूप है। उसे यदि मनुष्य जान ले तो उसके सौभाग्योदय का सुप्रभात हो जाएगा और मानव की विजय हो जाएगी। बाहर की उन्नति और नये आविष्कार मानव की महाविजय नही है। एक रस, एकाकार तो मन की तन्मयता ही कर सकेगी।

यह है मनुष्य का प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण। वह प्रकृति के भी केवल बाह्य को ही नहीं देखता। उसमें भी अंधेरे और उजाले को देखता है। देखता है प्रकृति के उसी रूप को सर्वत्र द्वंद्वों में, समाज में, राजनीति में, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में। इसीलिए अन्धकार और प्रकाश काव्य में दो 'पात्र' बन गए है। प्रकाश-भरे प्रभात का वह वर्णन करते हुए कवि कहता है :

नया सवेरा लाया है सखि, आशाएँ कुछ साथ नवेली,
युग-युग के कष्टों की सुलझी दीख रही है आज पहेली।
देख रहा हूँ, नहीं कर्म-फल जिसके कारण हम निर्धन हैं,
नहीं कर्म-फल जिसके कारण भूखे-नंगे अनपढ़ जन हैं।
नहीं कर्म-फल जिसके कारण धनाधीश का मूरख बेटा,
मौज मनाता है जीवन-भर सुख-सम्पद-सुविधा में लेटा।
औ' मेधावी सुत निर्धन का निज प्रतिभा का दीप बुझाकर,
छुटपन से ही गले लगाता नोन-तेल-रोटी का चक्कर।
प्राण मंद ज्यों धार खड्ग की प्रबल हथौड़ों से हो जाती,
तीक्ष्ण न कितनी भी हो क्यों असि पड़े-पड़े जैसे मुरचाती।

×

शक्तिहीन होते-होते भी यह प्रतिभा खिलती मुरझाती,
चली आ रही है युग-युग से सिमटी, सिकुड़ी औ' सकुचाती।

—उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

इसीलिए आज के काव्य में अन्यों की अपेक्षा प्रकाश और अन्धकार का इतना वर्णन हमें मिलता है, इतना बहुरूपी मिलता है कि हम उसे देखकर विस्मय करते हैं। सृजन उसके लिए आदर की वस्तु है, वह उसे प्यार करता है :

"जीवन की शिरा में नया कोंपल फूट रहा है, वह स्नेह लीली से अपरिमित छवि से झूल रहा है। विश्व के पतझार में फिर मधुमास लाकर दिखाना है। मोक्ष हमारा

जीवन है, मृत्यु निर्वाण है। हम दीप धरते चलें। पथ को देखकर सब जयगान करें।"

(कंचन)

विध्वंस उसे अच्छा नहीं लगता। प्रकृति को देखकर छायावादी कवियों ने भी विस्मय से देखा था, परन्तु उस विस्मय में सरलता थी। यहां विस्मय दूसरे प्रकार का है। इसमें उसकी आत्मा को देखने की चेष्टा की गई है।

मनुष्य अपने को प्रकाश की ओर ले जा रहा है। उसने बाधाएं सही हैं, और सह रहा है। परन्तु वह हारा नहीं है, वह तो निरंतर संघर्ष कर रहा है। प्रकृति उसके भीतर रम गई है। वह सूक्ष्म बन गई है :

अन्धकार घटता जाता है,
ठोकर पर ठोकर खाता वह
गिरता उठ-उठकर चलता वह
तम की चादर को चीर - चीर
पग आगे धरता जाता है,
अन्धकार घटता जाता है,
हिम्मत कर चलता चल आगे
अन्धकार भी डरकर भागे
देख ! अन्त में दिनकर हँसकर
फिर स्वागत करने आता है।
अन्धकार घटता जाता है।[1]

इस अंधेरे के सारे पहलू आज का कवि पलट-पलटकर देखता है। उसकी सत्ता को शायद वह नहीं मिटा सके, किंतु उसका वारण करने का तरीका वह निस्संदेह जानता है। यह उसने बहुत दिनों में सीखा है।

"अन्धकार सबके जीवन में आता है, और इतना घना कि मन का आसमान छा जाता है। भले ही इंच-इंच पर आशा के तारे भरे रहें और हर तारे से ज्योतिष्क पुञ्ज झरता रहे, परन्तु जब निविड तिमिर अजेय हो जाता है तब बिचारे व्यक्ति की आशा-श्रद्धा, विश्वास-ध्येय, कुछ ज़्यादा काम नहीं आते। आत्मीय अन्धकार में नभ के परदेशी बाण नहीं गड़ते। इसीलिए हे प्रिय ! माटी के दीपक में स्नेह की बलिहारी जाए। उसके बल पर काली रातें कटती हैं। तन-तन दीपक है, मन-मन स्नेह है। विश्वास, विचार, विगत और आगत को बटकर बाती बनाओ। फिर भले ही मुक्त कण्ठ से आकाश से पुकार कर कह दो कि अब तुम अपनी अमावस को सघन कर लो !" (भवानीप्रसाद मिश्र)

अब अमावस क्या करेगी ? ज्योति के खंड क्या काम देंगे ? आलोक तो वह है,

१. इक़बाल कौल–पीड़ा।

जो अपना है, जो अपने श्रम और स्नेह का आधार लेकर पलता है। उसे हम बुझने से बचा सकते है। और वह हमारा संबल बन सकता है।

विश्वास के बिना कुछ नही हो सकता। पत्थर के दिल में जाग्रति का पाठ पढ़ा जा सकता है। किंतु जब विश्वास डावाडोल होता है, वह पहली ही मंजिल मे डिग जाता है। दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। जो है सो यही है। इसका ही अन्त अभी तक कोई नहीं जान सका है। पांवों में ममता का बन्धन और सिर पर वियोग का भार, दोनों इधर ही सध सकते हैं।

यहां कवि अपनी व्यष्टि और समष्टि दोनों का मिलान करके देखता है और वह अपने द्वन्द्व से निकलने का प्रयत्न करता है। वह कहता है :

लेकर अक्षय विश्वास अरे!
उस दिन जब पत्थर के दिल में
मैंने जागृति का पाठ पढ़ा
सोनेवालों की महफ़िल में
'भेदन करना है अन्धकार!'
तब पागल-सा मैं बोल उठा।
कब सोचा था, डिग जाऊँगा
मैं बस पहली ही मंजिल में?
उस पार! अरे उस पार कहाँ
है अन्तहीन इस पार प्रिये,
पैरों में ममता का बन्धन
सिर पर वियोग का भार प्रिये।

—भगवतीचरण वर्मा

'प्रिये' का युग भी एक विद्रोह बनकर ही साहित्य में आया था। इस देश में पति भी पत्नी का मुंह दिन में नहीं देख पाता था। उपयोगितावादियों और विशुद्धतावादियों ने स्त्री के प्रति दुरूह बन्धन बांध दिए थे। वह समय चला गया। नया कवि और आगे आ गया। वह कहता है—"जहां उस पार उदधि और आकाश दृष्टि में एकाकार-से लगते हैं, उज्ज्वलता का विहग अरुणिमा के पखों को खोल अतरिक्ष के श्याम निकुंजों में छिपता जा रहा है। अपने गीतों में आकाश बांध लो। भूगोल बांध लो। गीत का लक्ष्य, प्रीति का मिलन है। इसलिए रवि से भी कवि दिव्य है।" (पोद्दार श्री रामावतार अरुण)

कवि ने अपना दायित्व समझ लिया और वह संकुचित प्रेम से व्यापक प्रेम पर आ गया। इसका यह अर्थ नहीं कि 'प्रिया' के प्रति लिखना कोई पाप है या कोई अपमान-जनक बात है। किंतु केवल वासना की तृप्ति या शरीर विरह की संकुचित कचोट श्रेय-

स्कारिणी नहीं है। नये कवि ने इसका विरोध कई जगह किया है। विषय का यहां प्रसंग न होने के कारण हम इसपर विस्तार से इस स्थल पर विवेचन नहीं करेंगे।

स्वार्थ के इस पक्ष को भी कवि ने अप्राकृतिक समझकर ही निंदा का पात्र माना है। उसने यौन जीवन ही नहीं, राजनीति और समाज में भी इसकी निंदा की है। जयशंकर 'प्रसाद' ने 'अशोक की चिंता' नामक एक कविता लिखी है। उसमें वे इस बात को नहीं कह सके, जिसे 'दिनकर' ने अपनी सशक्त लेखनी से 'कलिंग विजय' में कहा है। 'दिनकर' का ओज बोलता है, परन्तु पीछे युग की चिंता ही 'कलिंग विजय' में बोलती है।

सम्राट को वह प्रकृति के विरुद्ध पाता है और वह इसलिए कहलवाता है :

हाय रे धन-लुब्ध जीव कठोर !
हाय रे दारुण ! मुकुटधर भूप लोलुप चोर।
साजकर इतना बड़ा सामान,
स्वत्व निज सर्वत्र अपना मान।
खड्ग बल का ले मृषा आधार
छीनता फिरता मनुज के प्राकृतिक अधिकार।
चरण से प्रभु के नियम को चाप,
तू बना है चाहता भगवान अपना आप
भों उठा पाए न तेरे सामने बलहीन
इसलिए ही तो प्रलय यह ! हाय रे हियहीन
शमित करने को स्वमद अति ऊन
चाहिए तुझको मनुज का खून।
क्रूरता का साथ ले आख्यान
जा चुके हैं, जा रहे हैं प्राण
स्वर्ग में है आज हाहाकार
चाहता उजड़ा, बसा संसार।

—दिनकर

संसार का सुख लाने का ढंग ही यह है कि मनुष्य अंतः प्रकृति को भी सुन्दर बनाए। प्राचीन और मध्यकालीन कवियों ने अंतर्बाह्य के साम्य को केवल व्यवहार और चिंतन का सम्यक् मिलन माना था। आज का कवि सृष्टि का उसमें एकाकार करता है। तभी वह कहता है—'नया रूप, "नया रंग आया है, स्वर्ग से प्राण शृंगार उतर आया है। रंग में उमंग-भरी धरा नहा उठी है। कली सोकर उठ गई, कोकिलाएं गाने लगीं। तरंगें बसंती नदी की भांति चूमने लगीं, तरु-शिखाएं झूम उठीं। पवन से हिलकर पुष्पकोश खिल गए। सुरभि से भूधरों की शिराएं भर गईं, मानो विश्व का सार उतर आया।

आकाश हंस उठा। दिशाएं मुस्करा दीं। कली, कुसुम कोंपल दल उद्यान में साकार काम छा गया। नदी की जवानी जलन बुझा रही है, गगन बरस रहा है। नर के लिए यह सब सृष्टि जीवन है। सभी से उसे प्राण का धन मिल रहा है। फूलों से ही नर मुस्कराना सीख-कर हार को विजय में बदल रहा है।" (उदयशंकर भट्ट)

मनुष्य की सुन्दरता मनुष्य के लिए सबसे अधिक आकर्षक है। विस्मय और अवाक् करनेवाला बोधन मनुष्य के व्यवहार में सबसे अधिक दिखाई देता है।

दिनकर ने इसे भी अपनी इसी प्रसिद्ध कविता में दिखाया है। बाद में 'कलिंग विजय' में हमें चेतना का प्रसार मिलता है। जब मन की आंख खुल जाती है, तब चेतना अपनी पांखें खोल देती है :

खुल गई है शुभ्र मन की आँख
खुल गई है चेतना की पाँख
प्राण की अंत:शिला पर आज पहली बार
जागकर करुणा उठी है कर मृदुल झनकार।
आँसुओं में गल रहे हैं प्राण
खिल रहा मन में कमल अम्लान।
गिर गया हत्बुद्धि-सा थककर पुरुष दुर्जेय
प्राण से निकली अनामय नारि एक अमेय
अर्ध - नारीश्वर अशोक महीप;
नर पराजित, नारि सजती है विजय का दीप!
पायलों की सुन मृदुल झनकार
गिर गई कर से स्वयं तलवार
वज्र का उर हो गया दो टूक
जग उठी कोई हृदय में हूक।

विजय का दुर्जेय अहं मानवी ज्योति से दब जाता है और अर्ध-नारीश्वर हो जाता है। यह व्यक्ति-पूर्णत्व का रूप, हृदय में जिसके अम्लान कमल खिला है। ऐसी कविताएं सचमुच बहुत कम लिखी जाती हैं। कवि फिर अभय देता है :

शत्रु हो कोई नहीं, हो आत्मवत् संसार
पुत्र-सा पशु-पक्षियों को भी सकूँ कर प्यार।
मिट नहीं जाए किसीका चरण-चिह्न पुनीत
राह में भी मैं चलूँ पग-पग सजग-संभीत।
हो नहीं मुझको किसी पर रोष
धर्म का गूंजे जगत में घोष!

—दिनकर

कवि विभोर हो उठता है। उसका स्वर पावन हो जाता है। वह किसीका भी पवित्र चरण नहीं मिटाना चाहता। धर्म का घोष वह जगत् में गुंजा देना चाहता है। दिनकर का पौरुष कठोर नही, सरस भी है। वह अपना ओज सदैव ही एक उच्च स्तर तक रखता है। मानव के कल्याण के प्रति वह सजग है।

मानव का यह कल्याण दर्शन का क्षेत्र है किंतु आज वह इतना सर्वव्यापी बन गया है कि उसे कवि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में देखता है। पुराने आचार्य इस सबको प्रकृति-चित्रण के अंतर्गत रखेंगे ही नहीं, क्योंकि वे प्रकृति का केवल बाह्य स्वरूप देखते रहे हैं। परन्तु अब युग की मांग ही और है :

संसार के अभिशाप को वरदान दो, वरदान दो
वरदान को कल्याणमय बलिदान दो बलिदान दो
बलिदान को उत्कर्ष का, आदर्श का निर्माण दो
निर्माण को मन - प्राण का ईमान दो, ईमान दो।

×

इन्सान हो, तुम नाश को निर्माण की नवशक्ति दो
नवदीप्तिमय ! नवशक्ति को विश्वास दो अनुरक्ति दो
अनुरक्ति को नवचेतना, नव भावनामय भक्ति दो
उस भक्ति को संस्कृति,कला की मंगला अभिव्यक्ति दो।
पहले मरी-सी ज़िंदगी को, प्राण की रसधार दो
धरती - गगन की बीन के तारों को फिर झंकार दो
उन आँसुओं की है शपथ, ढलते हैं जो डरते हुए
तुम पाँव की मिट्टी को पहले शीश का शृंगार दो।

—नीलकण्ठ तिवारी

जहां जीवन का दृष्टिकोण ही बदल गया है, वहां अवश्य ही हमें नये मानदण्डों को ही लेना होगा। उनके बिना ही तो आज मूल्यांकन नहीं हो पा रहा है। पुरानी परिपाटियों के माननेवालों ने तो पंत-प्रसाद-निराला-महादेवी के अभ्युदय युग को भी अपने रटेरटाए छन्दों में ही देखा है। किंतु अब वह चल नहीं पाता। वे यह नहीं देख पाते कि नया कवि कहता है : "बढ़ो ! तुम्हारे चरणों की ध्वनि नवजीवन का गीत है। तुम्हारे विक्रम का व्याख्यान सर्वत्र गूज रहा है।" (त्रिलोचन शास्त्री)

यह जिस मानव का वर्णन है, वह व्यक्ति नहीं है। समूह का व्यक्तीकरण है। उनका भावपक्ष उसको समझ नहीं पाता क्योंकि वे उसका नाम नहीं जानते। उपन्यासों का हिन्दी में बढ़ना भी इसीका परिणाम है, क्योंकि उसमें पात्र उनकी समझ में आ पाता है। काव्य का यह व्यक्ति अमूर्त्त है और वह इसलिए ही ऐसा है, क्योंकि वह समूह का

प्रतिनिधि है, वह समष्टि की चेतना का प्रतीक है। इसके साथ ही प्रकृति के बाह्य रूप भी इसी 'पात्र' के अंतर्बाहिर के साथ ही उपस्थित हुए है। अतः दुरूहता उन्हें ही सताती है, जो इसे पुराने मानदण्डों को बदले बिना ही बिठा लेना चाहते हैं। मैं अध्यापक वर्ग की बात तो कहूं ही क्यों, जो कि कोर्स में आने पर ही नया साहित्य पढ़ते है।

अतीत के प्रति तो नये कवि ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में बहुत ही सुन्दर कहा है जो हम यहां देखना चाहते हैं। नये कवि ने अपनी साधना को सामने करके कहा है :

'जय हो!' खोलो अजिर द्वार मेरे अतीत ओ अभिमानी!
बाहर खड़ी लिये नीराजन कब से भावों की रानी!
बहुत बार भग्नावशेष पर अक्षत फूल बिखेर चुकी
खंडहर में आरती जलाकर रो रो तुमको टेर चुकी।
वर्तमान का आज निमंत्रण देह धरो, आगे आओ
ग्रहण करो आकार देवता! यह पूजा-प्रसाद पाओ।
शिला नहीं, चैतन्यमूर्त्ति पर तिलक लगाने मैं आई
वर्त्तमान की समर-दूतिका तुम्हें जगाने मैं आई।
कह दो उनसे जगा, कि उनकी
ध्वजा धूल में सोती है
सिंहासन है शून्य, सिद्धि
उनकी, विधवा-सी रोती है
अर्चा सकल बुद्धि ने पाई हृदय मनुज का भूखा है
बढ़ी सभ्यता बहुत, किन्तु अंतःसर अब तक सूखा है

×

जग में भीषण अन्धकार है जगो तिमिर-नाशक जागो
जगो मंत्रद्रष्टा, जगती के गौरव, गुरु, शासक, जागो।
जय हो खोलो द्वार अमृत दो, हे जग के पहले दानी
यह कोलाहल शमित करेगी किसी बुद्ध की ही वाणी!

—दिनकर

सचमुच इतना दर्शन, चिंतन, विवेचन करके भी अतीत में मानव की समस्या नहीं सुलझी है। मैं यह नहीं कहूंगा कि आज के लोगों ने उसे सुलझा दिया है, क्योंकि इस वाक्य को लिखने का समय मेरे देखते ही देखते अतीत हुआ जा रहा है। परन्तु इतना अवश्य मुझे कहना है कि युग बदलते हैं। जिस प्रकार भक्तिकाव्य और रीतिकाव्य को एक ही मानदण्ड से नहीं परखा जा सकता, उसी प्रकार आज की कविता के लिए आज की परिस्थितियां भी देखनी आवश्यक हैं। केवल राजनीतिक घटनाओं को देख लेना ही

युग की पूर्ण विवेचना प्रस्तुत नहीं कर देता। उसके लिए युग की आत्मा देखना आवश्यक है। सन् १९३२ से ५४ तक के युग में अन्तिम सात वर्ष स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के वर्ष हैं, किंतु काव्य के युग में हम ऐसी कोई रेखा नही खीच सकते कि मानसिक युग बदल गया हो। इसलिए नहीं कि नया कवि नयी परिस्थिति को नहीं जानता, वरन् इसलिए कि केवल राजनीतिक परिस्थिति ही सब कुछ नहीं होती। वह आज भी दुःख देख रहा है और पुराने स्वर में आज भी कह सकता है :

अश्रु ?
अश्रु नहीं, छिः, पोंछो अश्रु !
रक्त चाहिए रक्त,
विश्व को निर्मल रक्त !
स्वेद चाहिए,
अविरत श्रम का स्वेद।
कर्म चाहिए अथक
साधना मूक, अखण्ड,
अपराजित उत्साह
सिद्धि तक चिर संघर्ष !
सबसे उज्ज्वल मिली विरासत तुमको, देवि !
अनुगामी हो तुमसे बढ़कर
कौन तुम्हारे पति का जग में ?
कौन साधना करे अधूरी पूर्ण ?
तुम रखोगी बलि - दीपक की
जाग्रत ज्योति।
तुम्हीं करोगी नवयुग का आह्वान।

—जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द'

यह है मानवता का संदेश। उसका पति शहीद है। यह मानवता को दिया हुआ कवि-संदेश प्रत्येक युग में एक प्रेरणा अवश्य ही देता रहेगा।

नया कवि पृथ्वी पर गाता है, त्रिभुवन की। वह आज भी यही चाहता है कि सकल सृष्टि भूमा का उपकार करे। तभी वह कहता है :

"हे गीत, नभ से उतरकर मानव के पंकिल उर-तल को स्वच्छ पुनीत कर दे। तन-शृंगार के सौरभ-भीने फूल झड़-झड़कर वसुधा के आंचल को स्नेह से भर दें। अपनी ध्वनि की मधुर रसधारा बहा ! सदियों के जलते अंगार शीतलता पाएं। इस भवभूतल का जन-जन सकरुण, सरल और अभीत हो जाए।" (राजेश्वरप्रसादनारायण सिंह)

माटी का विकास हुआ है इस युग के काव्य में। इसे किस नाम से पुकारा जाए? मैं इसे मानव-युग ही कह सकता हूं। किंतु इतना संकुचित क्यों बने यह हृदय कि इस छोटे-से काल-खण्ड को भी एक नाम दिया जाए? अभी तो इस संघर्ष के खंड-काल से एक उत्कर्ष आने को है, जिसके लक्षण बुरे नहीं हैं, बल्कि आशाप्रद ही दिखाई दे रहे है। वादों के गर्हित नामों में कविता को बांटना कवि का अपमान करना है। सस्कृति का नाश करना है। यह तो आचार्य शुक्ल ही का काम था कि तुलसी का काव्य देखकर, हृदयराम जैसे टुटपूंजिए को जोड़कर वे 'रामभक्ति शाखा' को चला गए! हमें संस्कृति का नया मनन करना है :

ये पहिये हैं आधार सभ्यता संस्कृति के
आदिम-युग से जो ले आए हैं एटम तक
इस दुनिया का कारवाँ अमर
ये रुके नहीं पथ के ऊपर
मिट्टी को विकसित कर लाए
आने वाले जन-युग के सुन्दर फूलों में।
ये शक्तिमान जनता की बाँहों के प्रतीक
उन रूखे, भारी हाथों के गतिमान चित्र
जो रूप दे रहे हैं जग को,
कर रहे मूर्त मन के सपने,
लेते हैं स्वर्ग उतार विचारों के नभ से।

—गिरिजाकुमार माथुर

स्वर्ग विचारों के नभ से उतर रहा है। हम आदिम युग से एटम युग तक चल-कर आ गए हैं। मिट्टी को विकसित करके लाए हैं। भविष्य में बननेवाले जन-युग के सुन्दर फूल के रूप में। श्रम का भी सौंदर्य जागा है, जिसके कारण प्रत्येक सर्जन से हमें प्रेम है।

विश्व भले ही इसे वासना कह ले, किंतु नये युग का सूत्रपात करनेवाला मानव जानता है कि उसीने यह यात्रा की है। वह जानता है कि "सृष्टि के आरम्भ में उसने उषा के गाल चूमे थे। बालरवि के भाग्यवाले दीप्त विशाल भाल को चूमा था। प्रथम सन्ध्या के अरुण दृग उसीने चूमकर सुलाए थे, तारों की कलियों से सुसज्जित नव-निशा के बाल चूमे थे। सबसे पहले उसीके होंठों ने वायु के रसमय अधर छुए थे। वह माटी की पुतलियों से ही क्या अभिसार करे?" (बच्चन)

यह माटी की पुतली मध्यकालीन वासना है। नये कवि की वासना उससे ऊपर उठ चुकी है, इसलिए वह श्लाघ्य है। वह सर्वत्र ही सूक्ष्म हो गया है। क्योंकि वह सर्वांगीण रूप से सुसंस्कृत होना चाहता है।

मानव-संस्कृति

"रुककर मैं विराम करूं, ऐसा कहीं निधान नहीं है। जब तक हाथ-पैर चलते हैं, जब तक वाणी बोल रही है, इस अथइतिहीन कर्ममय पथ परजी वन भार नहीं बन सकता। छोटे-मोटे आघातों से मेरा मन हार नहीं सकता।" (शिवमंगलसिंह 'सुमन')

क्योंकि—"ओ बावली ! अब अभिसार के दिन नहीं रहे। जानता हूं कि तेरा आकर्षण-भरा लोक मुझे खींच रहा है, किंतु मेरा घरबार संघर्ष की आंधी से भर गया है। आज मेरे उर पर शिला का सा भार रखा है। सरस दुलार के दिन तो बीत गए हैं। मनहार के दिन मुझसे बहुत दूर हो गए हैं। आज मैं इस रुग्ण मूढ़ समाज में कितना विवश और वेदना में चूर हूं।" (पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश') परन्तु "मत समझो कि यह विकास की गति रुक जाएगी। मत समझो कि संसार अभी मिटनेवाला है। तुम देख रहे हो कि मुकुलों से धुआं उठ रहा है। आज बहारों पर विषण्णता-सी छा रही है। रवि के किरणोज्ज्वल मुख पर कुहरा सवार है, और चांदनी की मुस्कानों पर काई जम रही है। किन्तु तुमने वह कहां देखा है जो भविष्य में है। यह सब तो वह है जो कुछ हो चुकनेवाला है।"

(कुमार)

सुनो ! "यह दुनिया की शांति, समृद्धि और साम्य की सारी सत्ता झूठी है। मृत ममता पर रूठी हुई कफन की तरह चांदनी पड़ी है। यह जो आजीवन चुसनेवाले भोले-भाले जन हैं, यह तो जीवित भी मृत जैसे हो गए हैं, जैसे उनके पेटों में क्षुधा ने चूहेदान खोल दिए हों। उनमें जीवन की लाचारी—प्रतिहिंसा चक्कर काट रही है, जैसे गर्मी से अकुलाकर शिकारी श्वान टहल रहा हो।" (अंचल)

अब तो "मैं पृथ्वीकृत हूं, तुम पृथ्वीकृत हो, हम सब पृथ्वीकृत हैं।"

(नरेश मेहता)

चारों ओर कैसी भयानकता छा रही है :

मानापमान हो इष्ट तुम्हें मैं तो जीवन को देख रहा !
मैं देख रहा दानवता के दुःसाहस के विकराल कृत्य
मैं देख रहा बर्बरता का भू की छाती पर नग्न नृत्य
मैं देख रहा उठनेवाली अम्बर पर संसृति की उसाँस

मैं देख रहा यह मानवता कितनी निर्बल कितनी अनित्य !
मैं जग को सुख देनेवाले जग के क्रन्दन को देख रहा !

—भगवतीचरण वर्मा

किंतु कवि पूर्णतया पराजित नहीं है। वह कहता है—"साथी ! उसे भी देख, जो भीतर अंगार भरा है। ज़मीं को एक तेरी आग का ही आधार है।" (दिनकर)

विषमता का कारण है धन। वह कहीं अधिक है, कहीं उसका अभाव है। अभाव में दारिद्रय है, तड़पन है। तभी वैभववालों को देखकर कवि कहता है :

उनके मस्तक पर खेल रहा था अहम्मन्यता का पिशाच
उनके प्यालों के साथ-साथ थीं जग की आहें रहीं नाच।

—भगवतीचरण वर्मा

परंतु वैभव अकेला क्या करेगा। कवि तो जाग्रत है। वह पुकारता है—"कायर ऊंचे फूल झरोखे से नीचे झांका करते है, वीर सदा आंधी के हर झोंके से ऊपर उठते हैं। वीर तो जगत् की आहों से अपने घाव पिरोते है। वे अन्यायों की धूल उड़ाकर मिट्टी में दफनाते हैं और सत्य शिव सुन्दर के मंदिर की गहरी नींव जमाते है।" (नीलकंठ तिवारी)। इसी उत्साह में कवि देखता है कि "ज्योति की तरंग उठी, दूर-दूर तक छा गई। सदियों का तिमिर पार करके मानवता आ गई। युग के विराट चरण जनपथ पर गूंज रहे है। धरती के महान स्वर अंबर को चूम रहे है। धन-बल के दीपों की रेख झांवरी पड़ गई है। भयद कारा-सी सांवरी काल रात्रि मिट गई है। मृत्यु के निदाघ पर ज़िंदगी जीत गई है। तप्तदग्ध भूमि हरित, पीत और संदली हो गई है।" (गिरिजाकुमार माथुर)

कवि को विश्वास है कि शोषितों को—"प्रगति का वरदान मिला है। उन्हें दुर्दम शक्ति का अभिमान होना चाहिए। पुरानी ज़िंदगी के तार तोड़ने होंगे।"

(महेन्द्र भटनागर)

नगर में साहूकार और लुटेरे हैं। दानवता है। साम्राज्य के "रक्तपात से मानवता की गति नहीं रुक सकती। पशुता लड़ती है। जड़ता की जड़ कटती जाती है।"

(नरेन्द्र)

उफ़ ! कैसा कठोर दारिद्रय छाया हुआ है इस देश में :

चाँदी के टुकड़ों को लेने
प्रतिदिन पिसकर, भूखों मरकर
भैंसागाड़ी पर लदा हुआ
जा रहा चला मानव जर्जर !
है उसे चुकाना सूद-कर्ज़
है उसे चुकाना अपना कर

जितना खाली है उसका घर
उतना खाली उसका अन्तर !
नीचे जलनेवाली पृथ्वी
ऊपर जलनेवाला अम्बर !
औ' कठिन भूख की जलन लिए
नर बैठा है बनकर पत्थर
मानव का कृश कंकाल लिए—
चरमर चरमर चूँ चरर मरर·····

—भगवतीचरण वर्मा

किंतु "मानवता गिरि-शिखर है। पाशवता गहनगह्वर के समान है। मनुज के गिरकर उठने की क्षमता की सीमा नहीं है। जिनकी शक्ति और भय-संशय साथ-साथ बढ़ते हैं, जो मोहार्त्त प्राणरक्षा-हित मृत्यु भीत लड़ते है। संशयशील वे अविश्वासी, विगत-युग के अविवेकी, उनकी ही मिट्टी में नवयुग के प्राणांकुर उगते है।" (नरेन्द्र)। अतः कवि विश्वास के साथ आगे बढ़कर कहता है कि—"तुम देश के निशान हो, कहीं सिर न झुक जाए। वह चिंतना करो कि सब मनुज समान हों।" (नामवरसिंह)

इस समानता के लिए—"तुम्हें अपनत्व का हर वासना का रूप आज छोड़ना पड़ेगा। असफल मोह से द्रोह करके तम से ग्रस्त अवनतिकूप को बंद कर दो। शून्य की निस्सार धुंधली क्षीण-सी छाया मिथ्या स्वप्न की माया बनकर खड़ी है। तुम सुदृढ़ चट्टान बनकर खड़े हो जाओ। अन्यथा तुम्हारा धर्म कलंकित है। तुम्हें तो बढ़कर तूफान को रोकना है। अन्यथा पौरुष धर्म को ही विगलित हुआ समझो। डरो मत ! तुम्हारे सामने नया जमाना हुंकारता बढ़ रहा है। उसके मन में भावी विश्व की भव्य और दृढ़ कल्पना है। आज जनता की ऊंची हो गई है प्रखर आवाज ! वह ताजवालों का राज अब नहीं चाहती।" (महेन्द्र भटनागर)

"शोषणहत, गम के खानेवाले दुःख के स्वामी, अविश्रांत का तो हाथ रिक्त पेट की आंतों में दुःख के प्रदाह लेकर व्यस्त है। उनकी बेबस कर्मशीलता ने युग-युग के गौर कपोलों में लाली की मदिरा भर दी है। परंतु उनकी श्वेत अस्थियों से युग का भयंकर वज्र बनेगा।" (गजानन माधव मुक्तिबोध)

कवि इसीलिए पुरातन का मजाक उड़ाता है। भारतीय नारी के जीवन के प्रति वह कैसा व्यंग्य करता है :

पढ़िये गीता, बनिये सीता
फिर इन सबमें लगा पलीता

किसी मूर्ख की हो परिणीता
निज घर-बार बसाइए।
होयें कँटीली, आँखें गीली
लकड़ी सीली, तबियत ढीली
घर की सबसे बड़ी पतीली
भरकर भात पसाइए।

—रघुवीर सहाय

अब प्रेम गया। अब वह झिलमिल खो गई। व्यंग्य आया, गहरी कचोट भरा। बल्कि जब कवि पुकारता है कि—"हे अमृत! जन्मो! देवता राह देख रहे हैं!" (दिनकर) तब मोह में डांवाडोल हृदय सहसा चैतन्य हो उठता है और दृढ़ होकर कह उठता है—"बताओ, यह कैसे संभव है कि तुमको अपनाकर सबको ठुकरा दूं? एक तुम्हारे पीछे जग की आशाओं में आग लगा दूं? मैं अपना भी नही हूं। मैं तो विश्व की थाती बनकर चलता फिरता हूं। अपने ऊपर से मैं सबका सम अधिकार कैसे उठा दूं?"

(राजेश दीक्षित)

क्योंकि "एक ओर नाशक अस्त्रों की पशुता के बल के अभिमानी हैं, दूसरी ओर मनुजता के रक्षक निःशस्त्र सिपाही खड़े हैं। जो पशुता का समर्थन करे वह निश्चय ही पशु है चाहे वह धनी हो या धर्मध्वज। न्याय ही पशु और मनुज की एकमात्र सच्ची कसौटी रहा है।" (पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश')। अब तो एक नया स्वप्न भी आंखों के सामने जाग रहा है। शीघ्र ही सूर्य-चंद्र, ग्रह-नक्षत्रों के ऊपर कल इंसान के जायों की गर्वीली जय-यात्रा होगी। अंधभाग्य, अंधप्रकृति, पाप-पुण्य, देव और कर्मफल के मिथ्या स्वार्थी शोषक नियम-विधान अब मानव का अधिक शोषण न कर सकेंगे। अपनी सत्ता का सर्व-तंत्र स्वामी बनकर मनुज अवनी और अंबर पर अपना राज्य करेगा!"

(वीरेन्द्रकुमार जैन)

ऐसे समय में पीछे हटने का क्या काम! कहां से प्रारंभ हुआ यह संघर्ष, कहां आ गया। वह कितनी स्फूर्ति का अनुभव कर रहा है अब! "मनुज को आकाश से पाताल तक सब कुछ श्रेय है। बुद्धि पर चैतन्य उर की जीत उसका वास्तविक श्रेय है। श्रेय तो मानव की मानवों से असीमित प्रीति है।" (दिनकर)

विद्रोही कहता है—"हमने फ्रांस में भयंकर क्रांति की ज्वाला जगाई। स्पेन में स्वाधीनता की आग लगाई। रूस में हमने जारशाही का जनाजा निकाला। हम जग से जुल्म करने का इरादा भी निकाल देंगे। हम विश्व में सब मानवों के एक-से अधिकार हैं।" (निरंकारदेव सेवक)

"एक बार फिर अन्यायी का राजसिंहासन डोल उठा है। युगों की सोई आंधी

जाग उठी है। निचुड़ी-चुसी हड्डियों ने यह कैसी ज्योति जगा दी है! मुद्दत बाद बंधे हुए ज्वालागिरि ने अपना मुंह खोल दिया है। फिर शीश उठ रहा है।" (अंचल)

देख रहा हूँ पलट रहा युग
खोल रहा है कुंडलि
श्रम का सोया अजगर!
युगों-युगों से इसे जोतकर
बंड काठ के या लोहे के
मथते रहे निरन्तर ऋषि-मुनि!
राजा, जमींदार औ' पूंजी के पति
असुरों से सुर
धरती सागर!

×

किंतु प्राण अब पलट रहा युग
क्षीरोदधि में उठा बवंडर!
कोटि फनों से फूत्कारकर,
खोल रहा है कुंडलि श्रम का
सोया अजगर!

×

सेज न यह अब और बनेगा लक्ष्मी पति की!

—उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

श्रम के अजगर की तुलना कितनी सुंदर है!

कवि मानवीय मूल्यों के मानदण्डों को नये ढंग से स्थापित करता है। वह प्रेम का संदेश सुनाता है:

"मैं तो यह सिखाता हूं कि जियो और संसार को जीने दो। तुम जितना बांट सको अपने प्यार को बांटो। इस तरह हंसो कि तुम्हारे साथ यह पददलित धूलि भी हंसे। इस तरह चलो कि तुम्हारे पग से कोई शूल भी न कुचल जाए। सुख अकेला तुम्हारा नहीं है। जग का भी उसमें भाग है। फूल डाल का बाद में है, वह पहले उपवन का शृंगार है। कोई पराया नहीं, यह सारा संसार मेरा घर है।" (नीरज)

सारा संसार ही घर हो गया। भारत का झगड़ा अब अलग नहीं रहा। हमारे संघर्ष ने ही हमें देश की नागरिकता से ऊपर उठाकर विश्व की नागरिकता प्राप्त करा दी। अब वैदिक ऋषि की भांति वह संपूर्ण भूमा को अपना समझने लगा है:

क्या करेगा प्यार वह भगवान को
क्या करेगा प्यार वह ईमान को
जन्म लेकर गोद में इन्सान की
प्यार कर पाया न जो इन्सान को।

—नीरज

सारे धर्मों का मूल कवि ने सहज पा लिया है। वह मनुष्य को प्यार करता है। क्योंकि अब बंधन नहीं रहा। "आज नई चेतना जागी है। वर्ग के बंधन बिखर रहे हैं। जातियों के बंधन धूल में मिलकर धूल बन रहे हैं। आज जन-जन के गले से जीत के नारे उमड़ रहे हैं।" (जगदीश)

हम एक परिवार देखते है।

नवयुग का कवि कितना आत्मविभोर है। वह सारी क्षुद्रताओं से परे हो गया है:

कोई नहीं पराया, मेरा घर सारा संसार है।
मैं न बँधा हूँ देश-काल की जंग लगी जंजीर में,
मैं न खड़ा हूँ जाति-पाँति की ऊँची-नीची भीड़ में,
मेरा धर्म न कुछ स्याही शब्दों का सिर्फ गुलाम है
मैं बस कहता हूँ कि प्यार है तो घट-घट में राम है,
मुझसे तुम न कहो मंदिर-मस्जिद पर मैं सर टेक दूँ
मेरा तो आराध्य आदमी, देवालय हर द्वार है।
कोई नहीं पराया मेरा घर सारा संसार है।

—नीरज

यह मधुशाला की एकता नहीं, बिना किसी शर्त की एकता है। इसमें सबको सहज स्थान है। क्योंकि परिवर्त्तन हो गया है। अब "धर्म बदला, देवता बदले। समय बदला हुआ है। हम इस नये युग के विधाता, क्रांति के अवतार हैं। हम धरा पर सर्व-जन-सुख-सुंदर स्वर्ग बसाएंगे। हम मनुष्य को देवताओं पर न्यौछावर करेंगे। संसार में कुछ भी नहीं है जिसके सामने हम नतशीश हों। विश्व में सब कुछ हमारे लिए है। हम सब बराबर हैं। आज जो दुनिया के लिए स्वप्न है, वह कल सत्य होगा। हम एक नूतन सृष्टि के निर्माण के आधार हैं।" (निरंकारदेव सेवक)

समानता की प्रतिध्वनि उठ रही है। आज कवि ने क्रांति का अनुभव किया है।

"आज शहादत की उठती झांकी की लुकाठी कौन बन गया है? आज महाक्रांति का चिरज्वलंत वैतालिक चारण बोल उठा है।" (अंचल)

इस प्रकार यह विभवान्वित स्वर शक्ति भरता जा रहा है। वह प्रतिक्रिया-

वादियों को पुकारकर सुनाता है :

सुनो सुनो ऐ भगवान के ठेकेदारो,
हृदय और आत्मा के दावेदारो,
तुम्हारी मंदिर वेदियों के राज-भोग
करोड़ों मासूम आत्माओं के खून में डूबे हुए हैं,
करोड़ों बेकसों, बेवाओं और अनाथों के
आंसुओं से गीले हैं।
तुम्हारे देव-दीपों की कारुणिक लौ में
कोटि-कोटि दलित पीड़ित
आत्माओं के मूक क्रन्दन घुट रहे हैं
तुम्हारी यज्ञ वेदियां बन गई हैं भट्ठियां
सत्यानाशी एटमबम ढालने की,
तुम्हारी गोशालाओं के बाहर,
तुम्हारी दूकानों पर
खुली हैं कत्लगाहें इन्सान की !
तुम्हारे राज में आदमी आदमी का गला काटकर
भाई-भाई के खून में डुबोकर
खाता है रोटी अपनी !

—वीरेन्द्रकुमार जैन

"तो भला ऐसी दुनिया क्या रहने लायक है? वह तो यहां नहीं रह सकता, क्योंकि उसमें जागरण है। वह वीर है। अब वीर जगे हैं, वसुंधरा जाग गई है, युग की ज्वाला जाग उठी है, जन-जन जाग गए हैं, कण-कण जाग उठा है !" (शिवमंगलसिंह 'सुमन')

जब सब जाग उठे हैं, तब नींद कहां रह सकती है। कवि तो बड़ा अनुभवी है। उसने संसार में उत्थान और पतन को देखा है।

"निर्निमेष पलकों से मैंने सुख-दुःख का चिर नर्तन देखा है। न मैं सुख को अमर कर सका, न दुःख की ही रेखा मुझसे धुल सकी।" (जगदम्बाप्रसाद 'त्यागी')

अब तो कवि चाहता है कि उसका स्वप्न पूरा हो जाए। यहां पर 'जो झुका हुआ है वह उठकर सिर उठा दे। वह चले जो रुका पड़ा है। वह चले और नभ को चूम आए। जो लुटा है वह नये सपने सजा ले। जुल्म और शोषण को खुली चुनौती देकर अब प्यार हर तलवार को बहला रहा है।" (नीरज)

अब विश्वमैत्री का चित्र आता है हमारे सामने। यह बिल्कुल नये ढंग का चित्रण है। इसमें अतीत, वर्तमान और भविष्य एकाकार हो उठते हैं :

तिब्बत के दक्षिण मेरा वृद्ध देश है—
क्षीर सिंधु-सा महाहिमालय
बरफ कंचुली मारे जैसे शेषनाग हों
नीलगगन लेटा है जिस पर स्वयं विष्णु बन
ब्रह्मपुत्र वह नाभिनाल है जिस पर
तिब्बत गौर कमल-सा खिला हुआ है,
पीला चीवर धारण कर
ब्रह्मा के जैसा चीन सुशोभित
नये वेद के सामगान का पाठ कर रहा—
बर्मा, हिन्दचीन की शतशत
जनता, लक्ष्मी जैसी
जीवन के देवाधिदेव के
चरणों में नतमस्तक बैठी—
तीस वर्ष तक नयी सृष्टि हित
ब्रह्मा ने संघर्ष किया है
उसके नयनों में आलोक लोक हैं
चमकीले पंखों के सूरज खेतों के हित
सृजन कमण्डल में जलवाले
मेघ हमारे नदियों के हित
चावल के फूलों की माला पहने ब्रह्मा—
पीत बालियों वाले स्वर्णिम
अन्न सिंधु पर
उजले शांति हंस पर उड़ते
मानव मंगल गान सुनाते।

—नरेश मेहता

इस मंगलमय स्वप्न को अभी विश्व ने पूर्णतया साकार नहीं पाया है।

आएगा एक दिन जब ऐसा भी होगा।

एक दिन इतना भी नहीं था। गांवों में अब भी जीवन कितना विषम और दरिद्र है। वहां लघुता को ही महान मान लिया गया है। अध्यात्म का सर्वस्व संतोष है, परंतु संतोष अभाव की कचोटों से उपजी पराजय नहीं। समर्थ जब उग्र होकर दूसरे पर आक्रमण न करे, तब वह संतोष है। कवि ने ग्राम का एक चित्र देकर देश में खेतिहर व्यवस्था की निर्बलता का कैसा हृदयग्राही वर्णन किया है :

हैं दशों दिशाएं बन्द और यह पावस-अंधियाली छाई
डगरों पर काई-कीच और कगरों पर घास घेर आई
ये भरे तलैया-ताल नदी-नद, है न कहीं नैया बेड़ा
ओ पथिक ! अरे पावस का पथ जीवन-सा ही टेढ़ा-मेढ़ा
पर जिसे न रोक सकी लहराती कोदो मकई की माया
फूलों से सजे आम-महुए के बागों की शीतल छाया
रस में डूबे धन-खेतों में भीनी पुरवैया के झोंके
जो चला जा रहा गाँवों की पावस की उमड़-घुमड़ खोके
जो चला जा रहा एक देह में दो प्राणों की साँस लिए
जो चला जा रहा एक पिकी के जीवन का मधुमास लिए
वह भाग्यहीन मजदूर, नहीं जिसका हक जीवन-स्वादों में
ओ गाँव! तुम्हारा लाल चला परदेश, भरे रस भादों में।

—केसरी

और इसीलिए कवि माटी को महत्त्व देता है, क्योंकि वह उसे बहुत बड़ा उपदेश देती है। वह उसे बताती है कि पहले बीज बनकर मिटना ही पड़ता है।

मिट्टी मिली, पानी मिला। धरती हंस दी तो अंकुर खिल गया।

"जीवन मिला ! जीवन मिला ! बीते हुए इतिहास पर यहां रोना अच्छा नहीं है। यह तो संसार है। सामने प्रलय का पथ पड़ा है। तूफान भी आकर अड़ गया है। पर मैं यह सोचकर बढ़ता रहा हूं कि निर्माण का अवसर मिला है, इसे खो देना अच्छा नहीं है।" (शिवमंगलसिंह 'सुमन')

निर्माण का अवसर है तूफान का आगमन। कितना साहस है। 'सुमन' में उन्नद्ध-शीष की गरिमा सर्वत्र प्राप्त होती है।

और नया कवि कहता है :

घन की चोट जिसे कुचल सकती है लेकिन
इन कुचले टुकड़ों में जो अटूटता है वह
घन की निरर्थकता के ऊपर चढ़कर बोलती है।

×

मुस्कराने की आदत से
बाज न आनेवाला चेहरा घृणित लगता है
तभी देखता हूँ, 'नाउम्मीदी' का मरा सांप फुंकार रहा है
और तब मुझे उसका फन पकड़ दुबारा जीतने में
बुरी तरह घायल हो जाना पड़ता है

तब अपने-आपसे लड़ लथपथ बहने पर
न जाने कहाँ से चीड़ का वही पुरातन टुकड़ा
जिसे मैंने घने वनों, बीहड़ों,
आग के समन्दरों, ओलों के ज्वालामुखी से लड़कर ढूंढ़ा है
मन की आत्मा के कठोर लेकिन सार्थक
हाथों में आकर जकड़ जाता है।[1]

कवि का अन्तर्द्वन्द्व और समाज की कठोरता, आर्थिक विषमता, सब में घोर उलझन-सी पड़ गई है। इसका मूल है दरिद्रता। कवि उसे पहले समाप्त करना चाहता है।

एक दिन कवि ने कहा था—"कि उधर श्वानों को दूध-वस्त्र मिलता है, इधर भूखे बालक अकुलाते हैं। वे मां की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं। युवती के लज्जावसन बेचकर ब्याज चुकाए जाते हैं। मालिक उस समय तेल-फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते हैं। पापी महलों का अहंकार ही क्रान्ति को आमन्त्रण देता है। क्रान्ति निस्तेजों का तेज है। वह युगों के मूक मौन की वाणी है। वह दिलजले शासितों के दिल की जलती हुई कहानी है। सदियों की ज़ब्ती तोड़कर जागनेवाली ज्वाला की रानी क्रांति विष-भरी जवानी की भांति जहर उगलती फिरती है। वह आहत भुजंगिनी के दंशन जैसी है। वह भूखी बाघिन की क्रूर घात है।" (दिनकर)

आज भी वह समस्या उसके सामने बनी हुई है। किंतु वह उसकी 'जिजीविषा' का दर्शन बन गई है अब।

"यदि जीना तुम सजग धर्म मानो, तो मरना भी महाकर्म बन जाएगा। निर्माण करो! निर्माण करो!" (भवानीप्रसाद तिवारी)

'रिरिंसा' के लिए निर्माण है। इन दो के मिलन में अमर शांति है। इसीलिए वह बर्बरता और युद्ध का प्रचंड विरोधी हो गया है:

जिसकी छाती से फूटा है मातृत्व अभी,
वह माँ क्या दफनायेगी दूध मजारों में!
क्या गोली की बौछार मिलेगी सावन को,
क्या डालेगा विनाश झूला अमराई में?
क्या उपवन की डालों में फूलेंगे अंगार,
क्या घृणा बजेगी भौंरों की शहनाई में?
असहाय बुढ़ापा तड़पेगा क्या मरघट में
बारूद करेगी क्या शृंगार जवानी का?

---

१ हाड़-मांस की संस्कृति—शिवनारायणसिंह 'सुयोगी'

×

सुन्दरता की जब लाश सड़ेगी सड़कों पर,
साहित्य पड़ा महलों में कैसे सोयेगा ?
जब कैद तिजोरी में रोटी हो जायेगी
तब क्रांति-बीज कैसे न पसीना बोयेगा ?

—नीरज

किसी भी प्रकार का शोषण उसकी सुन्दरता के स्वप्न को तोड़ता है। वह परंपरा की रूढ़ियों को देखकर कहता है कि "अब तुम अपने को दर्शन, धर्म, पंथ के पीछे डरकर मत छिपाओ। जीवन के पथरीलेपन पर हरियाली लहरा दो। जीवन की हल्दीघाटी में बलि को न्योत बुलाओ।" (रामइकबालसिंह 'राकेश')

वह प्यार चाहता है। सहज। उसपर भी प्रतिबन्ध है। क्या मनुष्य की कोमलतम अनुभूति का अपमान उसके सहन करने योग्य है, जो वह चुप रह जाए? वह सोचता है कि प्यार तो जीवन में आवश्यक है। "किसीकी याद आने पर उर डोल उठता है। चंचल मन संयम के बंधन खोल देता है। हमारा तो सीधा-सा प्रश्न है, लेकिन जगत् का उत्तर गोल है। मेरी मौन व्यथा की तोल कैसे हो सकती है ? यहां प्यार का मोल चांदी के टुकड़ों पर होता है।" (शैलेन्द्रकुमार पाठक)

वह पुरानी नैतिकता को ढोंग समझता है, जो वस्तु के सत्य को न देखकर लीक पीटती है। उस सत्य को क्यों झुठाया जाए, जिसने मनुष्य को विवश किया है :

"हम भिखारी छात्र से नैतिकता की आशा क्यों करें ? हम जलती चिनगारी से तुषार की आशा क्यों करें ? क्या हम भूखी नारी से सतीत्व की आशा कर सकते हैं ? क्या उजड़ी क्यारी से खिले कुसुम की आशा की जा सकती है ? भूखे से नैतिकता की आशा करना क्या अन्याय नहीं है ? भूख में क्या नैतिकता का शुद्ध और अभिप्राय नहीं छिपा हुआ है ? क्या भूख ही अन्यायों से लड़ने का अमोघ उपाय नहीं हैं ? क्या भूखा होना ही नैतिकता का अन्तिम उपाय नहीं है ?" (रामदयाल पांडेय)

बड़ा सीधा प्रश्न है यह ! परन्तु अब डरने की कोई बात नहीं है। नया ज़माना आ रहा है :

मासूम लहू की गंगा में आ रही बाढ़,
नादिरशाही सिंहासन डूबा जाता है,
गल रही बर्फ-सी डालर की काली कोठी,
एटम को भूखा पेट चबाए जाता है ?
निकला है नभ पर नये सवेरे का सूरज
हर किरन नई दुलहिन-सी सेज सजाती है,

हो सावधान! सँभलो ओ ताजतख्तवालो!
भूखी धरती अब भूख मिटाने आती है।

×

तुम कफन चुराकर बैठ गए जा महलों में
देखो! गांधी की अर्थी नंगी जाती है,
इस रामराज्य के सुघर रेशमी दामन में
देखो सीता की लाज उतारी जाती है,
उस ओर श्याम की राधा वह वृन्दावन में
आलिंगन-चुंबन बेच पेट भर पाती है।
हो सावधान! सँभलो ओ ताज तख्त वालो!
भूखी धरती अब भूख मिटाने आती है।

—नीरज

क्या सधा हुआ तीर है! अचूक! वह अब बिलकुल निर्भय है। कैसी मार्मिकता है इन शब्दों में।

"मानव का रोदन-क्रंदन सुनकर मेरे कवि की वाणी मुखरित हो जाती है। मैं मानव के हित ममता की रसधार खोजता हूं।" (देवराज दिनेश)

जो कुछ है मनुष्य के सुख के लिए है। मनुष्य सुखी हो जाए। उसकी सुन्दरता और निखर उठे। असंतोष मिट जाए। दीनता दूर हो जाए :

सृष्टि हो जाये सुरभिमय इसलिए
कंटकों में फूल मुस्काता रहा।

—नीरज

यह है उसकी कल्पना! वह जानता है कि इस संसार में—"जो आग औरों को जलाती है, वह पहले खुद जलकर अपने तन को राख बनाती है। जो नदी गांवों को बहाती है, वह खुद पहले अपने कगार खा जाती है। हर नफरत को एक मुहब्बत का घूंसा दो। मरतों को जीने का पैगाम दिए जाओ।" (विश्वम्भरप्रसाद तिवारी)

नफरत उसकी जिंदगी का सहारा नहीं बन सकती।

जीवित रहना है तो उसका आनन्द लेकर।

"जीवन में मस्ती से मुस्कराकर जीना है। सचमुच वही जवान है, जिसकी जवानी जग में संघर्षों का विष पीकर भी मुस्कराती है।" (देवराज दिनेश)

किंतु दर्शन की उड़ान में भी वह विषमताओं को नहीं भूलता। वह उसे हर पल याद बनी रहती है। एक दिन वह भूख से व्याकुल होकर कहता है :

जहां कहीं से एक अठन्नी लानी होगी

वर्ना इस चूल्हे के मुंह पर
फिर मकड़ी का जाला होगा।

—नागार्जुन

×

कहां तो सृष्टि के सौदर्य की प्यास, कहां एक अठन्नी की विवशता! तभी वह कहता है :

हम इच्छुक हैं सगुण शांति के
त्रास और आतंक, बाध्यता अथवा संशय
नाश और विध्वंस, भूख या
मौत मात्र की अधिस्वामिनी
महाकाल की कलिश-कामिनी
ऐसी शांति कौन चाहेगा ?
पेटी में पिस्तौल संभाले
अमन चैन के बोल अधर पर
अब भी बाइबिल बाँट रहे हैं
गोरी चमड़ीवाले बर्बर
गुर्खों की नर-बलि दे-देकर
टिन औ' रबर बटोर रहे हैं—
सौदागर अँगरेज़ हमारे
स्वाभिमान को बुरी तरह
झकझोर रहे हैं
नभ से बरसाकर कीटाणु
कोरिया को वीरान बनानेवाले
राजघाट में बापूजी की शिवसमाधि पर
मनों मनोरम फूल चढ़ाते ही रहते हैं
हमें शांति की सीख दे रहे
चील-गिद्ध के चचा-भतीजे।

—नागार्जुन

ढकोसले से उसे चिढ़ है। जैसे तुलसीदास ने अपने धर्म-विरोधियों को गालियां दी हैं। नया कवि भी उतनी ही गालियां देना जानता है। नीरज आशा बंधाता है :

रह चुकी बहुत बरसात कैद में मेघों की
उसको ज़मीन पर अब उतराना ही होगा

शरमीले नभ के सूरज-चाँद-सितारों को
पानी का यह घूंघट उघारना ही होगा।

—नीरज

पुरानी कला जो इस सत्य को नहीं देखना चाहती कवि उसका स्वरूप उघारकर सामने रखता हुआ कहता है कि—"बेशर्म बांसुरी लाशों में बहुत बज चुकी है, बहुत बज चकी है, उसे बन्द करो!" (वीरेश्वरसिंह)

पुराने शृंगार के भी रूप बदल गए हैं। अब उसके सामने एक नई नैतिकता आ गई है।

"चिर दिन व्यापी प्रेम का अवसान हो गया है। अब तो एक प्रेम में सभी प्रेम की स्मृति के तार समा गए हैं।" (श्यामसुन्दर खत्री)

इस प्रेम के लिए संसार को शांति चाहिए। बर्बरता इसको समाप्त कर देती है:

फूलों की लाशों पर खाते भौंरे पछाड़
मुरदा तितलियाँ कफन ओढ़े है कलियों का
चढ़ आया मलय-समीरन को काला बुखार
सब खून तपेदिक चूस गई पथ-गलियों का।

—नीरज

इसलिए अब ता जो शोषितों से छीन लिया गया है, वह उन्हें वापस मिलना ही होगा। उसे कोई कब तक छिपाकर रख सकता है:

आने दे शीघ्र धरा पर सावन की फुहार
अन्यथा समय की प्यास सिंधु बन जाएगी
यदि जल न मिला तो सत्य मान ओ आसमान
यह मिट्टी शोणित के सैलाब बुलाएगी।
नीची हो जाती हैं चोटियाँ पहाड़ों की
जब प्यास तड़पकर अपना शीश उठाती है
धोने को पाँव विकल हो उठते हैं सागर
जब वह निज रेगिस्तानी नज़र घुमाती है।

—नीरज

बर्बरता का अन्त होगा तो नया उल्लास जागेगा। कवि उस उल्लास से परिचित है। वह कहता है:

"आज मरघट पर सृजन ने मंद स्वर में सृष्टि की मधुरतम मुरली फूंक दी है। मौत की छाया तले सोई हुई बेहोश नज़रें फिर उठ रही हैं। आज इस बलवान क्षण ने पर्वत को अपनी भजा में बांधकर चूर कर डाला है।" (हरिव्यास)

वह सत्ताधारियों से कहता है :

ओ प्रभुओ, ओ प्राणों के ठेकेदारो, तुम
ओ बधिको, ओ वैद्यो, आओ फिर
हम गुमराहों के भेषज मँगाओ फिर,
रसरी में कसो, खूब धरती में गहरे दबा दो,
पर हम तो हठी हैं, हम जीवन के अमिट बीज
लाख करो, धरती छुएँगे, उग आएँगे
बढ़ते रहेंगे प्रभु, चढ़ते रहेंगे इस आसमान के विरुद्ध
बढ़ते रहेंगे हम, कोटि-कोटि रक्तबीज !
क्योंकि हम धरती के चित्र हैं—अमिट चित्र
क्योंकि हम धरती के पुत्र हैं—अमृत पुत्र
क्योंकि हम विद्रोही प्राणवान,
क्योंकि हम धरती के रक्तबीज, इन्सान।

—प्रयागनारायण त्रिपाठी

प्राणवान हैं विद्रोही, उनकी एक-एक रक्त की बूंद से एक-एक नया विद्रोही जन्म लेता है।

"दो दुनिया के विषम शून्य में आज का जीवन त्रिशंकु बना हुआ है।" (गिरिजा-कुमार माथुर) इसलिए एक मार्ग लेना होगा। वह है मानव के कल्याण का, जिसमें किसी प्रकार का भी ढोंग न हो। न वह किसी पूंजी का सर्वाधिकार हो, न किसी दल का अधि नायकत्व ही। स्पष्ट बात तो यह है जो विचारक बताता है :

"यह भूमि किसीकी क्रीतदासी नहीं है। जन्मना सब समान हैं, सब इसके निवासी हैं। मृत्ति का पोषक रस पीनेका सभीका समान अधिकार है। सबको मुक्त प्रकाश चाहिए, सबको मुक्त समीरण, बाधारहित विकास और आशंकाओं से मुक्त जीवन चाहिए। जब तक मनुज-मनुज का यह सुखभाग सम नहीं होगा, तब तक न यह कोलाहल शमित होगा, न यह संघर्ष ही कम होगा।" (दिनकर)

जब इस सत्य को पहचानकर प्रयोग में लाया जाएगा, तब ये उलझनें दूर हो जाएंगी, मानव का सच्चा कल्याण जाग्रत् होगा और उसी समय नये आलोक में, नई चेतना में, "मरे पत्थर-सा यह युग नई ज़िंदगी की अविजेय नींव का पत्थर बन जाएगा।"

(गिरिजाकुमार माथुर)

यद्यपि हम इस विषय में कवियों को अभी तक एक ही पक्ष लेते देख रहे हैं, परंतु अब ऐसे नहीं हैं। जो कहते हैं :

वोल्गा पर उगे मंगल
लाल जन नक्षत्र को
लील जाने के लिए—
आसुरी षडयंत्र जिसने था किया
बेचता फिरता रहा ऊदी अफ़ीमें
और आर्थिक दासता
जन चीन के बाजार में—

—नरेश मेहता

वे साम्राज्यवाद के पुराने रूप को तो पहचानते है, जनवाद के नाम पर चढ़ते हुए दल के अधिनायकत्व का खतरा महसूस नहीं करते। यह तो सत्य है कि पूंजीवादी जगत् की व्यवस्था में "द्रव्य ही दुर्वार धर्मदण्ड है। वही जगत्-जीवन का सुखमय द्वार है।" (रामइक़बालसिंह 'राकेश') और यह भी सत्य है कि साम्राज्यवाद के उपनिवेशवादी कठोर विदेशी शासन में—"बीच चौक के चौराहे पर भूखी बेचारी लाज बिकती थी। मुट्ठी-भर दाने की खातिर नारी अस्मत हार जाती थी। कितना शोषण, कितना पीड़न, कितना पतन और कितना वहशीपन था।" (विचित्र सिन्हा) और यह भी एक कठोर सत्य है कि आज भी साम्राज्यवाद रूप बदलकर पूंजी का अंतिम प्रहार करता हुआ नये ढंग के उपनिवेश बना रहा है :

ये सब असुर उन मेनहाटन द्वीप में,
बारूद की फसलें उगाते हैं,
जलाकर पुस्तकें ये अग्नियाँ पीते
महा 'जनशत्रु' हैं, चिर शत्रु हैं—
जापान को कोढ़ी किया एटम गिराकर
और जिसने कोरिया की जन धरा पर
खून के पंजे बनाए—
देवता-सा लड़ रहा हिंदेशिया इस वृत्र से—
इसलिए संघर्ष, जीवन सत्य है।

—नरेश मेहता

किंतु हमारे देश में जहां मनुष्य दरिद्र है, कुचला हुआ है, जहां उसका आत्म-सम्मान बहुत दिनों से पददलित रहा है, जहां "केवल मुट्ठी-भर अन्न ! इसीपर मानव का जीवन केन्द्रित है। दो-चार हाथ कपड़ों से ही मानव का तन ढंक जाता है। भूमि पर ऐश्वर्य-सदन होने पर भी मानव का इतना अपमान है। वह इतना क्रन्दन करने को बाध्य हो गया है।" (भगवतीचरण वर्मा) वहां हमें दूसरे खतरे के प्रति भी जागरूक रहना है

कि हम किसी कुत्सित समाजशास्त्र के अधीन होकर किसी कठमुल्ला मतवाद को स्वीकृत न कर लें, और यह अच्छी तरह जान लें कि अधिनायकत्व को किसी भी अवस्था में बुरा ही कहना चाहिए। जनता के नाम पर दल शासन करता है, परंतु दल व्यक्तियों से बनता है, जिनमें अधिकार की तृष्णा होती है। इस 'प्रभुत्व स्वत्व' के प्रति कवि जागरूक है :

फटे जमीन का कुहा, धुले दिगंत का धुआँ,
मिटे कि तिमिर का नशा, जले कपूर का दिया।
विजन निकुंज म्लान में, निसंग प्राण-प्राण में
शिथिल जलद-विमान में, सुनील आसमान में।
तने वितान मुक्ति का, उड़े पराग गंध का
बजे मृदंग छन्द का, कि दीपराग मन्द का।
खिले गुलाब बन भुवन, अरुण किरण-फिरन पहन
कछार, खेत, बाग, वन, पहाड़, कन्दरा गहन।
प्रपंच कालनेमि आंजनेय को ग्रसे नहीं
प्रभुत्व स्वत्व दन्त से अशक्त को डँसे नहीं।

—रामइक़बालसिंह 'राकेश'

चाहे वह अधिनायकत्व पूंजीवाद का हो, या किसी जनवाद की आड़ में छिपनेवाले विवेक-त्यागी मत का, दोनों ही मनुष्य के कल्याण को कुचलनेवाले हैं। यह सत्य इतना प्रखर है कि इसे कोई भी विचारशील व्यक्ति अस्वीकार नहीं करता। करते हैं तो वही जिनकी रोटी किसी मत-विशेष के प्रचार के कारण ही चलती है। ऐसे लोगों को जनता के सामने उघारकर कवि को स्पष्ट कर देना चाहिए। किंतु यह मानव-कल्याण की भावना ही एकांगिता को दूर करनेवाली है। जब कवि विषय के सत्य में डूबता है, तब वह अपने मत के सत्य से उठ जाता है, और अनायास ही सुंदरता को जन्म देता है। किंतु जीवन एक पहेली भी तो है। उसका हल कहां है ?

"यहां क्षितिज के पार एक धौंकनी मरे चाम-से सूने नभ में श्वासों की हुंकार भरती चल रही है। पृथ्वी लपट-पट पहने हुए है, भूमि गर्म अंगार-भरा है। यह भव लहू-लुहान तपा लोहा है। लोहा ही यहां रंक है, वही भूप बनता है। केवल तपे हुए लोहे को ढलने का अधिकार है। लोहे से लोहा कटता है। बुझकर जल उठने तक निशिदिन अहंकार का साथ है, किंतु फिर विधना के हाथ तपना, कुटना है।" (नरेन्द्र शर्मा)

कवि एक विराट माया देखता है। बच्चन की 'नागिन' साहित्य का एक 'मास्टर-पीस' है। इसमें बड़ी प्रचण्ड शक्ति है। गूढ़ है और सहज भी। वह कहता है :

नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आंगन में!
तू प्रलय-काल के मेघों का कज्जल-सा कालापन लेकर

तू नवल सृष्टि की ऊषा की नव द्युति अपने अंगों में भर
बड़वाग्नि-विलोड़ित अंबुधि की उत्तंग तरंगों से गति ले
रथयुत रवि - शशि को बंदी कर दृग-कोयों का रच बन्दीघर
कौंधती तड़ित को जिह्वा - सी विष - मधुमय दांतों में दाबे
तू प्रकट हुई सहसा कैसे मेरी जगती में, जीवन में ?
तू मनोमोहिनी रंभा - सी, तू रूपवती रतिरानी - सी
तू मोहमयी उर्वशी सदृश तू मानमयी इंद्राणी - सी,
तू दयामयी जगदम्बा - सी, तू मृत्यु सदृश कटु, क्रूर, निठुर
तू लयंकरी कालिका सदृश, तू भयंकरी रुद्राणी - सी
तू प्रीति, भीति, आसक्ति, घृणा की एक विषम संज्ञा बनकर,
परिवर्तित होने को आई मेरे आगे क्षण - प्रतिक्षण में।

—बच्चन

नागिन का 'कैनवास' बहुत ही बड़ा है।

"तू अपने फन में फुफकार लिए चंचल फिरकी-सी फिरती है। तेरी भीषण हुंकार से दिग्गज भी कांप उठते हैं। पल-भर में तेरा स्वर और मुद्रा बदल जाती हैं। तेरी हर चितवन में स्वर्ग-नरक के द्वार खुलते-मुंदते हैं।" (बच्चन)

किंतु यह गांभीर्य हमें सर्वत्र नयी कविता में ऊभ-चूभ करता हुआ नहीं मिलता। हम जिस व्यापक भूमि में पहुंचे हैं, वहां विकृति भी कम नहीं है, जिससे कवि डांवाडोल हो उठता है :

"ज़िंदगी पीले गले कागज़ पर लिखी, कटी-पिटी, मिटी सतरों की तरह है। वह मकड़ी के जाले, प्लास्टर के चपाड़, खाली कनस्तर, चीकट बिछौने और उधार के समान है। चिनिया बादाम के छिलके, बुझा 'स्टार'···यही ज़िंदगी है।" (सैयद शैफुद्दीन)

ज़िंदगी के लिए कितनी कचोट-भरी बात कही है कवि ने। आज का जीवन कितना उलझ गया है। तभी वह कहता है कि विज्ञान का विकास सब कुछ हिलाए दे रहा है। फिर भी वह परिवर्तन को स्वीकार करने को विवश है, "पथ में पत्थर, कंकड़, कांटे तो बहुधा मिलते हैं। यदा-कदा ही मुस्काता हुआ फूल मिला करता है। नये जनम के लिए कफन का प्यार मिला करता है।" (शकुन्तला सिरोठिया)

पुराने विषय भी फिर से बार-बार लिए जाते हैं। नारी को विभिन्न रूपों में देखा गया है। परन्तु बहुधा नारी-सम्बन्ध में व्यक्तिगत कुंठा प्रकट होती है। कहीं-कहीं सुंदर चित्र भी मिल जाते हैं। भारत की विधवा की अवस्था कैसी दयनीय है :

चलती धीमी,
मग ठहर-ठहर,

कुछ सहम-सहम
कुछ ठिठक-ठिठक,
हा ! कुसुमकली-सी
मुरझाई अलसाई-सी,
भीषण ज्वाला से दग्ध हुई, संतप्त हुई
जीवन-तापों से झुलसाई,
वह विरह-व्यथा से खिन्न अमित
वह चिर प्यासी, नीरस जीवन से अकुलाती,
वह दुर्बल-सी, अति क्षीणकाय
भय खाती-सी, अपराधी-सी,
भारत की विधवा है आती।
है होंठों पर मृदु हास नहीं
मुखमण्डल पर उल्लास नहीं,
हैं केवल दुःख की रेखाएँ,
कर याद दिवस बीते अपने
वह रोती है, घिघियाती है,
भरती है वह गम की आहें,
सौभाग्य-बिंदु, सिंदूर मिटा,
सर्वस्व लुटा, है विधि रूठा,
वह जीवन मित्र - विहीना है।
वह तपस्विनी, वैरागिन - सी
कुछ भूली-सी, जीवित रहती,
जीती यों, पड़ता जीना है।

—लालबहादुर सिंह

नारी अब भी पुरुष से अपनी समान स्थिति पर कोई बराबरी स्थापित नहीं कर सकी है। अब भी इसके प्रति विद्रोह की भावना मिल जाती है, "नारी केवल रमणी बने, यह सत्ता का कैसा नव परिचय है। सहचरि का केवल प्रेयसि बनकर यह कैसा प्रगतिशील अभिनय है ?" (दीप्ति)

किंतु बहुत-सी बातें ऐसी हैं जो अब भी प्रतिक्रिया के रूप में मौजूद हैं जैसे रिश्वत, दहेज़-प्रथा, अनमेल विवाह, जाति-व्यवस्था, पर्दा इत्यादि। अब यह विषय इतने पुराने पड़ गए हैं कि इनपर लिखने से कवि ऊबने लगे हैं। इन्हीं विषयों को लिखते समय वे समस्या को इतना नहीं लेते, जितना उनका प्रयत्न नयी अभिव्यक्ति के रूप ढूंढ़ने में लग

जाता है। अब भी कवियों की दृष्टि विविध विषयों की ओर जाती है। 'कोरे कागज़ से' ऐसी ही एक बहुत सुंदर कविता है, इसमें कागज़ बहुत-से प्रतीकों का एक प्रतीक बन जाता है। ऐसी कविताएं अंगरेज़ी साहित्य में तो बहुत मिलती है, किंतु हिंदी में कवि-सम्मेलनवाद के कारण प्रायः सस्ती भावुकता काम में आती है। कविता यों है :

अभी हिमानी के टुकड़े-सा यह जीवन है श्वेत
कुन्द कुसुम-सा धवल हृदय,तन उज्ज्वल गंगा-रेत!
मृदुल लचीला गात पवन से उड़ता सौ-सौ बार
जैसे नीड़ खोजता कोई पक्षी पंख पसार
अभी न छू पाई तुमको है जग की काली स्याही
काँट-छाँट बंधन की तुमपर आई नहीं तबाही
अभी तुम्हारे जीवन का है छंद बड़ा स्वच्छंद
अभी नहीं देखे तुमने हैं कठिन दुखों के फन्द !
अभी विरहिणी के न विरह का तुमपर अंकित लेख
अभी न आँसू-शोक विश्व का तुमने पाया देख
अभी न अपने को समेट तुम भेद कर सके बंद
अभी न तुमपर लिखा गया है मधुर मिलन का छंद!
चित्रकार ने अभी न चित्रित किए बसन्ती कुञ्ज
मूर्तिमान मृदुस्वप्न सदृश जिनपर बिखरे अलिपुंज
अभी ललायित कबरी में मृदु गूँथ-गूँथकर फूल
किसी सुन्दरी ने न तुम्हें छूने की की है भूल।
पूर्ण तृप्ति की भाँति अभी तो तुम हो बिल्कुल मूक
किसी वियोगी के न हृदय से किए गए दो टूक।
पृथ्वी को मानव ने लिख-लिख कितना दिया बिगाड़
तुम कोरे ही ठीक ! करें–करते जो तिल का ताड़

—हरिश्चन्द्रदेव शर्मा 'चातक'

इसमें बहुत ही कोमल व्यंजना है और सांकेतिकता बड़ी गहरी है। इसी प्रकार नये कवि ने कोयले पर जीवन की गहरी अनुभूति उतार दी है। कोयला काला है। कल्पना की सूझ ने उसे जीवन की मर्यादा दी है।

'कोयला' में कवि कहता है :

"मैं कालिमा में कैद उज्ज्वल ज्योति हूं। मैं अंधेरे का कफन ओढ़े हुए पावन सबेरा हूं।" (मोहनलाल श्रीवास्तव)

'कानाफूसी' एक बहुत ही गहरी अनुभूति का ज्वलंत प्रमाण है। ऐसी कविताएं

बहुत ही कम मिलेंगी। मैंने इस कवि की अधिक रचनाएं पढ़ने का सौभाग्य नहीं पाया है परन्तु यदि इसमें यही लगन रही तो इससे बड़ी आशाएं करना भी अनुचित न होगा।

'कानाफूसी' प्रतीकों का सहज भंडार है :

सुना आपने ?
चांद बहेलिया जाल रुपहला कंधे पर तो
चावल की कनकी बिखेर कर बाट जोहता रहा प्रहर-भर,
किंतु न आई नींद छोड़कर रंग-बिरंगी किरन-बयाएँ—
सुना आपने ?
फाग खेलने क्वांरी कन्याएँ पलाश की
केशर-घुले कटोरे कर में लिए ताकती खड़ी रह गईं
ऋतुओं का सम्राट पतन कर पीले चीवर बौद्ध हो गया—
सुना आपने ?
अभी गली में ऊँची-ऊंची घेरेदार घघरियां पहने
चाकू-छुरी बेचनेवाली इरानियों की निडर चाल से
भटक रही थीं लू की लपटें गलत पते के पोस्टकार्ड-सी—
सुना आपने ?
मोती के सौदागर नभ की शिशिर-भोर के मूंगे-से पट से छनती
पुखराज किरन-सी स्वस्थ-युवा, अनब्याही बेटी उषाकुमारी
सूटकेस में झिलमिल करते मोती, माणिक, नीलम, पन्ने, लाल, जवाहर
सब सहेजकर इक्केवाले सूरज के संग हिरन हो गई हवा हो गई
मोती के सौदागर नभ की बेशकीमती मणि खो गई—
सुना आपने ?

—रामविलास शर्मा (द्वितीय)

चावल की कनकी तारे हैं। किरनें बया हैं। केशर-घुले कटोरे फूल हैं। घेरेदार घघरियां लुओं की चक्करदार गति हैं। लू भी चालू छुरी की तरह काटती है, ईरानिन-सी लड़ाका होती है। मोती का सौदागर आकाश है। सारी कविता में प्रत्येक चित्र अपने-आप में पूर्ण है और हर जगह नई उपमा भी पूर्ण है। समाज पर, पुरानी मान्यता, परंपरा और रूढ़ियों पर गहरी चोट है। अब बयायों यानी निर्माणकर्ता (वास्तविक) को बाहर छलना से बहकाया नहीं जा सकता। विषमताओं के कारण अकाल ही व्यक्ति सौंदर्य और स्नेह की बेला में आत्मविकास करके लोक छोड़ जाते हैं। वे जो जीवन-संघर्ष में खाना-बदोश हैं आज भी पीड़ित हैं, जीते हैं तो अपने दुस्साहस से और तभी वे असह्य बन जाते हैं अपने पराक्रम में। आज वर्ग टूट रहे हैं। विराट बनने का स्वप्न जीवन की लघुता में

भी प्रेम प्राप्त कर रहा है। और कवि ने कहीं भी प्रचार का सहारा नहीं लिया। इसी तरह कवि ने बहुत ही साधारण-सी वस्तु ली है—'दियासलाई की तीली' और कहा है :

मुझे विश्वास है अमा की बेला में
सूरज, सितारे औ' चन्दा जब किरनों का वैभव खो
अम्बर के चुल्लू-भर पानी में डूब, मर जाएँगे—तब भी मैं
शांत कोकिल-पंखी कमरे में
वसंत की पलाश-पताका फहराऊँगी !

×

प्रकाश के गीत अँधेरे के अधरों पर गाऊँगी।

×

आकाश में चमकते-दमकते विशाल सूरज की
धरती पर उतरी हुई प्राणवान बाती हूँ।

—श्रीराम वर्मा

कोकिल-पंखी कमरा—द्वयर्थक है। कोकिल पंख-सा काला और नर्मी से भरे वातावरण वाला। श्रीराम वर्मा की कलम में उगती हुई उत्तेजना है।

यहां मैं अभिव्यक्ति के कुछ नये रूप सामने रखता हूं, जिससे हमारी भाषा की शक्ति प्रकट होती है। इस शक्ति से हमारा भंडार बढ़ रहा है। इसके साथ ही इसमें जीवन की अनुभूति भी है।

"बहती नदीरेख को अनिमेष मत देख। दुःख ग्रीष्म का तापतल तक व्याप रहा-है। हर स्वप्न जलहीन है, दरकी हुई भूमि है। हर स्वप्न जलता हुआ स्वार्थ का दंश है।" (जगदीश गुप्त)

"सब कुछ तो बदल गया, पर मुंह का भाव नहीं बदला। संघर्ष, घुटन, हारी बाज़ी, लाचारी है, पर जीवन जीने का चाव नहीं बदला।" (अजितकुमार)

"मरुथल में तो अनुभूति की शिराओं में छनकर आत्मा तक केवल कुछ ही बूंदें आ पाती हैं। जहां ज्योति पानी बनकर बहती है, वहां रुक जाओ। रुदन ज्योति का स्वभाव नहीं है, उसे जल मत समझो।" (जगदीश गुप्त)

"मरा और क्या मरे, इसलिए अगर जिए भी तो क्या ? जिसे पीने को पानी नहीं है, वह लहू का घूंट पिए तो क्या हुआ ?" (अज्ञेय)

"गहरा नीला धुंआ उस छोटे पूरे गांव के सीमांत पर जम गया है। खेतों के बरहों में चलता हुआ पानी थम गया है। मटर की भींगी उदास डांठ बैंगनी बूटोंवाली हरी साड़ी पहने दूर-दूर तक पसरी है। बंद ढेकुल डूबे हुए सूरज के किनारे एक प्रश्नवाचक चिह्न बनकर उलटकर जड़वत् सहम गया है। दिन के वे गीत जो हरे तोतों जैसे पंख

खोले दिशा-दिशा में तैर रहे थे, अब किसी उनींदी अमराई में उतरकर झमक रहे हैं। ओ सितारो ! तुम चमको, आकाश साफ है। ओ जुगनुओ ! कुंजों में अंधेरा है, तुम भी दमको।" (सर्वेश्वरदयाल सक्सेना)

"दादा वर्ग ददरिया गाता है, राजछत्र का दास है। राजदंड के खूंटे में आज साहित्यिक गाय अटक गई है। हम जान चुके हैं कि सब शोषण की चक्की में पिस रहे हैं। दादा वर्ग युग की सही तरक्की को रोकने में अड़ा हुआ है।" (अनिलकुमार) सूर्य के लिए कवि कहता है—"अभिवादन करो प्रजा। ज्योति का राजा अब आकर सिंहासन पर बैठ गया है।"

'बैडमिंटन की चिड़िया' बहुत ही सुन्दर रचना है। कवि कहता है—"यह परवाली चमकदार चंचल चिड़िया लम्बी बरौनियों-सी जाली के पार से तिरछी निगाहों के तीरों-सी तिरछी आती है। इसने मुलायम-सा स्कर्ट पहना है, यह फ्लर्ट है। हवाओं में रहती इसे भूमि नहीं भाती है। ग्लैमर है बहुत किंतु हाथ नहीं आती है। यह तो चिड़िया है, इसका तो उड़ना धर्म है, उड़ जाएगी। पर मोहने की आदत से बाज नहीं आएगी।" (गिरिजाकुमार माथुर) कितना तीखा व्यंग्य है।

"सेम में फूल आ गए हैं सहेली ! देख आ ! या कहूं—जाड़े में शीशे की झील पर तैरी कपास—या धूप के सुनहरे हरे खेत लहरा गए।" (इन्दु जैन)

खोए सपनों के लिए कवि कहता है, "भला कहीं, कोई तो मेरी मदद करे, जाए, उन्हें ढूंढे। जहां हो वहां पहुंचकर उनसे कहे कि उनका पिता यहां चौखट पर दिए संजोए विजय-संदेशा सुनने की इच्छा में विह्वल उनकी राहें जोह रहा है।" (उदयभान मिश्र)

"गालों की धरती पर आंसू की झीलें हैं। आंखों का आसमान बरस-बरस जाता है, किंतु रूढ़ियों का हृदय तरस नहीं खाता। किरणों के छूने से इन झीलों में सरसिज के दल के दल इन्द्रधनुषों से खिल उठते हैं। मन मनुष्य-पूजा को आतुर है पर उसे देव नहीं मिलते। मंदिर में पत्थर का साम्राज्य सचाई का स्वर घोटे दे रहा है। सत्य अर्धमृत-सा सूली पर लटका है। लेकिन मरियम मनुष्यता की कोख उर्वर है, उसकी आंखों के आसमान नीले हैं।" (शिवकुमार श्रीवास्तव)

"शूल के वक्ष पर स्रष्टा की खरोंच से निर्मित हम सब आकृतियां हैं, हम सब विकृत होंगे ! हम सब विलीन होंगे।" (उमाकांत मालवीय)

"मनों की दरारों को दूरी बढ़ाकर मौन अनुल्लंघ्य बना देता है। तब फिर शब्दों को आंच में तपकर, महासागरों में डूबकर, खंड-खंड होकर, आंखों की राह प्रकट होना पड़ता है। शब्द तो चूक भी सकते हैं, इसलिए मेरे हृदय से नाता जोड़ो।" (दुष्यंतकुमार) किंतु समय बड़ा अजीब आ गया है।

"यह कैसा वक्त है कि किसीको कड़ी बात कहो तो भी वह बुरा नहीं मानता।

जैसे घृणा और प्यार के जो नियम हैं उन्हें कोई नहीं जानता। यह कैसी लाचारी है कि हमने अपनी सहजता ही एकदम बिसारी है। जो भी हो, संघर्ष की बात तो ठीक है।" (कीर्ति चौधरी) कवि कहता है—"मुझमें अरक्षण सावन के तरल मेघ-सा जो लहराता है, रह-रहकर छलक जाता है, उसे प्लास्टिक के नपने से मत नापो : वह अजस्र है, अमित है, क्योंकि वह मेरा है, मेरे दर्द से उपजा है। मैं हूं : मेरी आस्था है, इसलिए जो प्रतीक्षित है, वह अवश्य आएगा।" (मलयज)

"मैं वह हूं जिसने सघन अभावों की डाल पर अपने हाथों अपने जीवन का छत्ता रचा है। बड़ी कठिनाई से थोड़ा-सा मधु इकट्ठा कर पाया हूं। मेरे शहद को चुरानेवालो, मैं तुम्हें क्षमा करता हूं। अपने अस्तित्व की ऊंचाई तक जाने में जिस डगाल को पकड़ो, उसको मत तोड़ो।" (पुरुषोत्तम खरे)

"चीखो मत ! चीख के बाद भी दरवाज़ा बंद न करने दूंगा ! क्या पता तूफान की झकझोर से उखड़े, तनिक विश्राम को ललचा रहे दो पांव यहां तक आ पहुंचें और दरवाज़ा बंद पाकर, टूटती हिम्मत फिर साहस बटोरे लौट पड़ें।" (कन्हैयालाल नन्दन)

"ओ पागल ! यदि तू सचमुच जीना चाहता है तो साधन नहीं, शक्ति मांग। शक्ति से साधन मिल जाएंगे, परंतु साधन तुझे शक्ति नहीं दे सकेंगे।" (सिद्धनाथकुमार) "प्यासा तट जहां था, वहीं रहा। धारा ही आई, प्लावन की बेला में आज मैंने नई उपलब्धि पाई है। निश्चय ही समर्पण ही सिद्धि है। जब वर्षा आएगी तब स्वाती की एक बूंद मोती बन जाएगी। छोटी-सी सीपी ही यह सिखाएगी कि रस का सही ग्रहण कितनी बड़ी बात है।" (भारतभूषण अग्रवाल)

"सागर कभी कगारों से नहीं मिलता।" (गंगाप्रसाद पाण्डेय)

"रिमझिम-रिमझिम हो रही है। इंद्रधनुष का झिलमिल बूटेदार दुपट्टा ओढ़कर सांझ हिंडोले चढ़ी झूल रही है। किवार खोलकर रह-रहकर बिजली झांककर गरजती-तड़पती है।" (चंद्रदेवसिंह)

आधुनिक 'प्रेम' पर वह व्यंग्य करता है—"प्लीमथ के बगैर इसकी उपलब्धि नितांत असंभव है।" (कैलाश वाजपेयी)

"गतिरोधों से तो अच्छा है कि पशु हमें ले चलें।" (सत्येन्द्र श्रीवास्तव)

"तुम्हारी अठारहवीं सदी की (आउट आफ डेट) हवेली, पुरानी पीढ़ी के प्रति श्रद्धा के नाम पर अब भी चल रही है। इसका अगला हिस्सा तुड़वाकर तुम इसे आधुनिक बनाना चाहते हो ? आनेवालों को बाहर ही बाहर नकली चेहरा लगाकर भरमाना चाहते हो ?" (केशवचंद्र वर्मा)

"जब पहला सूरज उगा तब से हम 'केन्द्र' की सत्ता स्वीकार कर प्रदक्षिणा कर रहे हैं। हमारे दाएं-बाएं समृद्धि है, जीवन है, धमनियों का स्पंदन है, पर हम जीवन को

नाशवान समझकर उधर कभी नहीं मुड़े।" (शशि पाण्डेय)

"मेरा मन अंधकार का प्रतिरूप है, परंतु वह रश्मियों, रश्मिचरित्र को, सत्य को—आकाश, अवकाश, प्रभास व रेखाएं प्रदान करता है। उसकी सार्थकता अपार है।" (गजानन माधव मुक्तिबोध) "मिट्टी के इस ठंडे पुतले को दीपित व्यक्तित्व का अखंडित प्रताप चाहिए।" (गिरिजाकुमार माथुर)

"गीत चांदी-सोना नहीं, न हुगली का मटियाला पानी है। वह तो बदली का पतला-सा कोना है, किसी बुलबुल के स्वर की नादानी है। गीतकार पीड़ा से प्रतिमाएं गढ़ता है। सपनों पर जीवन का महल खड़ा होता है। उनका महत्त्व सत्य से भी बड़ा होता है। गीत रोटी-चावल नहीं, गीत तो इंद्रधनु की कुछ झुकी-सी कमान है, अन्तर का शतदल है।" (चंद्रदेवसिंह हृदय)

"जो चट्टानें ठुकराने का आदी है, उसे क्षार लहर नहीं ठुकरा सकती।" (इक़बाल कौल) "जब तक मेरा मस्तक झुका हुआ है, और ऊपर को नहीं उठता तब तक मुझे सारे सुख-वैभव के साधन वर्जित होंगे। मधुर चांदनी अंजलि में भरते ही हाथ कांप उठता है।" (कीर्ति चौधरी) "मेरा दृग् एक ब्रह्म का सृष्टि-सृजन-द्रष्टा है। मेरा द्वितीय दृग् महारुद्र-तांडव-दर्शक है। मेरा कर एक विश्वकर्मा का सहयोगी है तो दूसरा यम का भववाही सायक है। मैं स्वयं पूर्ण हूं। तुम अपनी अपूर्णता से मेरी नश्वरता का यों अभिषेक मत करो, क्योंकि मैं जीवन का मीत, आत्मा का गीत हू।" (देवव्रत देव) "जीवन की मस्ती है कि दोनों सिरे मृत्यु से लिपटे हैं। मुझे तो इसकी तुलना में मृत्यु भी सस्ती और हल्की लगती है। दूज के चांद के सामने भी अंधेरा ढेर-ढेर कब रह सकता है! तू तो मुक्त विहंगम है। तू देख रहा है—धरती बटोरती है, गगन बिखेरता है।" (जानकीवल्लभ शास्त्री) "मन की सुरूपता वैसी ही है, जैसी दुनिया-भर में बिखरी पड़ी है। तोड़नेवाला ही नाते जोड़ देता है, जिनसे सीमाएं महत् संभावनाएं बन जाती हैं, और काराएं मुक्ति की सलिलाएं।" (अजितकुमार) "जीवन की रचना अद्भुत है। जीवन की निर्जलता निर्मलतर रेत-सी है, जैसे पत्रहीन बेंत सासों के ढेर चढ़ी हो। जीवन की निर्मलता मले हुए हाथ-सी है कि घुटे हुए माथे-सी, कि छूटे हुए साथ-सी!" (जानकीवल्लभ शास्त्री) "माटी के बांधे संन्यासी प्राण नहीं रुकते, उनके तो झिलमिल डेरे काल नदी के आयु तटों पर हैं।" (रामकृष्ण दीक्षित 'विश्व') "एक के बाद एक संघर्ष आ रहा है। विजय का कोई प्रमाण नहीं है, किंतु हार का भी ध्यान नहीं आता।" (शांति मेहरोत्रा) "आओ इस सागर के पास रेती पर बैठकर हम कसम खाएं। गीत गाने का बीड़ा उठाया था, वह भी पूरा नहीं हुआ। ज़िंदगी अनमोल अमर वर-सी है। हम तो आगे बढ़ेंगे, इस धार में धंसेंगे, भले ही ये लहरियां धावित पदचिह्नों को सूने में आ-आकर लीप जाएं।" (प्रवासी)

"जिसने भी अनमोल मदिरा पी ली, वह पार हो गया। इसी मदिरा को पीकर कलियों में भौंरे जीते हैं।" (आनन्द मिश्र) "मैं किरण-छवि का सिंचा हूं। मैं तिमिर-पट पर लिखा हुआ एक ही अक्षर हूं।" (निशांत केतु) "वे जो मेरे दीपक के हाथों से रोशन पतवारें छीनकर उसे अंधियारे के जाल में सिरा गए, वे जो मेरी बहार के पांवों से प्रसून पायज़ेब उतार उसे व्यथाओं के वन में हिरा गए, वे जो मेरी आस्था की आंखों से अधबनी पुतलियां नोंचकर उसे अनास्था के आंचल में गिरा गए; वे जो मेरे सपनों के गांवों से सत्यों के पुखराज बीन मुझे उजाड़ पिराती पीर, पिरा गए, वे सब, मेरी रचना-सीताओं के अनजाने शत्रुमीत थे, वे उसे जो 'प्रभु' था, अनबूझे तिरा गए।" (राजा दुबे) "रस्सी के आने-जाने से सिल कट जाती है। मंज़िल की बाधाओं में, जूते फेंक देने से कम से कम तले की चिंता हट जाती है।" (भवानीप्रसाद मिश्र)

आस्था में "समय-व्याध के तीर से जैसे सब कुछ बिद्ध है। इस संसार में तो जो दर्द को पीते हैं, मौजों पर जीते हैं। जिनकी उदासी का कुहरा गांवों पर, फूलों के, पत्तों के, कलियों के, गीतों-सा है, वे रससिद्ध हैं। वे रससिद्ध हैं जो सड़कों के गलियों के कोनों पर सिर पर जल की सम्हाले लैम्पपोस्ट-से जागते हैं। वह व्यथा जिसमें आस्था नहीं, वृथा है। वह व्यथा, व्यथा का आभास है। वह व्यथा की प्यास है। व्यथा तो धरती की है जिसमें व्यथा को आस्था के साथ धारण करने की असीम क्षमता है। व्यथा के हर रूप के प्रति अगाध ममता है। तप के प्रति निश्चल, निश्छल निष्ठा है।" (शिवकुमार श्रीवास्तव) "सामने चलो जहां अर्घ की गहरी खाई है, वहीं भाव का उत्स है, सृजन-क्षण की दोपहरी है। वहां साधना स्वयं साध्य की छहरी छाया है।" (राजेश्वर शुक्ल 'राजेश') "मैं आस्था की चिनगी हूं। शाश्वत हूं। बीजों के कण बन खेतों पर बिखरी, माटी का आसव पी मैं सोना बन निखरी, फसलों की बाली में। धरती के छालों में हरित लेप बनी। मैंने ही आशा की खिड़की से आदि पुरुष मनु के अन्तर में झांका था।" (शंकर शेष) "हारों की शर्तों पर अपना नाम मत लिखाओ। उड़नेवाली पांखों में पत्थर मत बांधो। जब तुमने तूफानों से दांव लगाए हैं तो उन किरणों का ध्यान करो जो कल आएंगी।" (प्रयाग-नारायण शुक्ल) "ओ विवशता की संज्ञाओ! मैं वरेण्य हूं, किंतु मुक्त रहने दो। ओ विलयन की संभावना की आवर्तित रेखाओ! मुझे अपने छंदों से वियुक्त रहने दो। आश्लेष की जड़ता बाधक न हो, अदेय तो कुछ नहीं है, परन्तु समर्पण नहीं दूंगा।" (राजेन्द्र किशोर) यह एक अजन्मे जी आवाज़ है जो माता-पिता के कष्ट देखकर कहता है—"तुम सबका दर्द मुझसे देखा नहीं जाता। नन्हे दिन का बाकी सफर मुझे नहीं भाता। मां! मुझे मुक्त कर दो। मैं अंधेरे से लड़ूंगा। मैं तुम्हारे द्वार सबेरा लाऊंगा।" (नर्मदाप्रसाद त्रिपाठी) "देखता हूं अभी आगे राह कितनी है। कौन देखेगा कि कितनी दूर आ चुका हूं। गीतमालाएं मैं शून्य में बिखरा चुका हूं।" (नन्दलाल पाठक) और वह कहता है—

मृत्यु से पहले क्या सदा जलजात नहीं खिलता ?" (गंगाप्रसाद श्रीवास्तव) तब वह पुकारता है :

ओ रे गरबीले
तूने आहत अभिमानपूर्ण
चरणों से झेल लिया पन्थ की पिपासा को।
जब-जब बवंडरों से उड़ने को पृथ्वी हुई
तूने हठी साहस से रोप दिए पांव;
बांधी वज्र मुट्ठियों में छूटती तृषा की रास
रोक दी पछाड़ें बन्द होठों के कगारों से;

×

इस आखिरी पड़ाव तक तूने क्षत चरणों से
आंक दी स्पृहा की रेख कोरी मरुभूमि पर।
ओ रे पंथ बाँकुरे—

×

इस सीमा पर तूने शीश वृक्ष के कबंध से टिका लिया ?
वीर ! तेरा यंत्र तो बना था लोह-तंतुओं से
कौन-सी थी डोर भाग्य-ध्रुव की जो टूट गई ?

—विजयदेवनारायण साही

कितना गतिरोध है, विवशता है ! परन्तु कितना सशक्त चित्रण है ! कवि ने कहा था कि "जवानी और बुढ़ापे में यही अन्तर है कि जवानी ने कभी बंधन नहीं माना।" (देवराज दिनेश) वह आत्म और समाज के इन द्वन्द्वों को पूरी तरह पकड़ नहीं पाता।

"ज़िंदगी की धार गहराई बढ़ाती है। बूंद-भर में आदमी का मन डुबाती है। जो हृदय की नदी तैर आया है उसे सिंधु के तट पर तिनके तिराना व्यर्थ ही है।" (राममनोहर त्रिपाठी) "मैं ज़िंदगी चाहता हूं, मैं ज़िंदगी लूंगा, बिजली-सा मन में कुछ कौंध रहा है। शायद मैं जल्दी ही होश में आ जाऊं।" (सिद्धनाथकुमार) "हम भले ही उदय-अस्त का अर्थ न समझें मगर हर दिन प्रभात में सहज ही सृष्टि हंस पड़ती है। आनेवाले क्षण के लिए पक्षी उल्लसित गीत न गाएं तो धरती से नभ तक की सारी सृष्टि व्यर्थ हो जाए।" (भवानीप्रसाद मिश्र)

"हम सब खोखली हंसी हंसते हैं। कहते हैं एक ज़हर ऐसा भी होता है, जिसके खाने पर न मन डूबता है, न तन ऐंठता है। सिर्फ हंसी आती है।" (जगदीश गुप्त)

चौरासी लाख की वार्ता में वसंतदेव ने आज के जीवन पर गहरा व्यंग्य किया है। कविता पढ़कर विक्षोभ से भी हंसी आती है।

"डस्ट बीन की गगन गुफा में काले चूहे रहते हैं। 'नालित्री' के नाल्मोदक में रोज़ नहाते रहते हैं। एक दिन की बात कहीं तबीयत सट गई। घर लौटे, पाया अपनी पूंछ कहीं कट गई। तब से अब तक :

एक सिरद्धा एक आसथा : कटी पूंछ लहराए जाओ
दया-धरम-कस्तूरी-डिबिया : नाभिचक्र सहलाए जाओ
'संग-गच्छम्' महामंत्र - बीड़ी का सुडका मारे जाओ,
यही ज़िंदगी, यही धरम है : लखचौरासी तारे जाओ।
दुःखेष्वनुद्विग्नमना : सुखेषु विगतस्पृहः
वीतराग भय क्रोध : नामर्दमुं निरुच्यते ॥
स्वधर्मे निधनं श्रेय : परधर्मो भयावहः।
ॐ तत् सत् !"

नामर्द मुनि की गीता कैसी तीखी कचोट लिए है।

खाई हुई गुठली के प्रति भी उसकी ऐसी मजबूरी है कि वह उसे फेंकता नहीं। फिर वह कल्पना करता है कि यह गुठली ठगेगी। उस समय का कितना आकर्षक वर्णन है :

हरी घँघरिया पहन यह गुठली इठलाती नाचेगी
कल···परसों···नरसों···कभी न कभी आमों के अंबार लगा देगी।

—वसंतदेव

'काले वन की शाम' में प्रकृति का नये ढंग का वर्णन है—"सलोनी सोन चिरैया अंधकार के जाल में फंस गई। तरुडाल में चमकीले कुहरे के विषधर लिपट गए। गोधूली की सजीली छांह में बक-पांतें लहरा रही हैं, जैसे किसी बड़े पुल के नीचे से नौकाएं जा रही हों। खोज कुंज में बिखरे मोती, रहीं ज्योति की रानियां, जोगन की वातास डोलती कहती अजब कहानियां।" (गिरिधर गोपाल)

"दर्द धन है, उसे न बहाओ, न भुलावे देकर भुलाओ। राह की राहत बने, उतनी दवा तो ठीक है। छांव का सहारा होता है, ले लो, मगर घर मत बनाओ।"

(जगदीश एम० ए०)

'आरा मशीन' में कुंतल मेघ आधुनिक यंत्र, मानव-कर्मठता और मानवीय संवेदनाओं का एकत्रीकरण करता है :

"आरा मशीन का प्रश्नचिह्न तुम्हें नित आमंत्रण देता है—चीरो-चीरो दर्द, थकन को और जीर्ण-शीर्ण को काटो-काटो। प्रश्नचिह्न के सम्मुख अपने करकमलों को अर्पित मत होने दो। घन वन मर्मर, चैत्र-मनोहर, सुमन गंधवर को जड़-चेतन में महमहका दो। उन्हें कर्मकक्ष की मेजें, अलमारी, दरवाज़े, पलंग, चौखटें बनाओ, रेलों के

नीचे स्लीपर बनाओ। जड़ जीवन का धंसता कर्दम लोहे के आरे चलाकर काट दो। गहन-जटिल प्रश्नों को कमलों की आत्मा लेकर सुलझाओ।" (कुंतल मेघ)

'मृत सैनिकों का एक गीत' कितना करुण व्यंग्य है—"और नीचे हमें दफनाओ जिससे कोई न जाने हमें कालान्तर में कि हम मानव-जाति के शत्रु थे, घृणा, हिंसा और गुलामी के समर्थक थे···जुल्म, शोषण और वहशी सभ्यता के हम प्रतीक हैं, हमें और गहरा दफना दो।" (जगदीशचन्द्र)

'मसि' पर कवि नयी ही कल्पना लाकर सामने रखता है :

"एक बूंद मसि में मानव की जीवनधारा है। उससे आंसू का सागर हारा है। उसने नैराश्य निशाओं को निगला है, और श्रमित पाषाणों को पिघलाया है। तरुण रक्त का उष्ण चेतना इसमें सोई है। उसे काजल के कण के धोखे में ढुलका न देना। उसमें न जाने भावों के कितने सिंधु-भरे हुए हैं।" (नटवरलाल 'स्नेही')

जीवन के प्रति वह सोचते हुए उथले किस्म के लोगों से कहता है—"जाओ। तुम तट की सूखी रेती से खेलो, यह पानी गहरा है।" (ज्वालाप्रसाद खेतान)

कंचन मृग के पीछे
कितने राम, न जाने, वन-वन भटके
कितनी सीता हरी गईं रावण के छल से,
कितने बन्धु विभीषण बन भेदी निकले,
कितने सोने की लंका में आग लगी।
किंतु, आज तक वन से राम न लौटे।
रावण नहीं मरा
औ' न बन्दिनी सीता अब तक मुक्त हो सकी,
पर सोने की लंका जलकर क्षार हो गई।

—ब्रजराज तिवारी 'अधीर'

युद्धों के बाद युद्ध आते हैं, मानवता मुक्त नहीं होती, एक का मद उतर जाता है, किंतु विजयी कभी स्नेह के लिए नहीं लौटता। असली 'पाप' तो मरता ही नहीं, जो कि इतने अत्याचारों का निर्माता है।

ऐसे ही 'वन घासें' एक सशक्त कविता है :

"वन घासें हम उन सबकी सखा हैं जो सखाहीन हैं। हमने अपना हृदय-प्रदेश नहीं बरजा है, खुले खेत-सा हम बाँहों का देश क्षितिज-छलों के चरण चांपने स्वागत करता है। हम शिशिर कांस उन सबकी सखा हैं जो सखाहीन हैं। हम कुलशीलों से वंचित क्षुद्र दूब हैं। यहां-वहां यों ही उग आनेवाली स्वत्वहीन घासें हैं। हम अपात्रों को यही एक कर्तव्य मिला है कि जिसे तुम्हारा महान यश खूंद गया है उस धरती के नग्न जघन को ढंक दें।

हम हरी चींटियों-जैसी हैं। हम आदिकाल से सब विनयों की नियति धरा को ओसवती दूबों से मण्डित करने गिरिवन, मरुथल, नगर-ढूह नाप रही हैं।" (नरेश मेहता)

"कोई भी यात्रा अब मुझे बहुत लम्बी नहीं है, कोई भी राह मुझे दुर्गम या दुस्तर नहीं है। हे मीत ! जब तुम साथ हो तो अब और चिंता कहां हैं। अब कष्टों के कांटे मुझे फूलों से घटकर नही हैं।" (देवराज)

देवता और धर्म के ढकोसले को देखकर कवि कहता है—"मंदिर के देव को अब उस जगह पहुंचा दो, जहां पर ढेर के ढेर देवता पड़े हैं। ये संग्रह की वस्तु हैं, ये भाग्य-विधाता नहीं। ये अब ज़िंदा नहीं, काल के चरण हैं।" (वंशीधर पण्डा)

यात्रा अंतहीन है। कवि ऊबकर कहता है, "क्या कभी यह एक उजड़ी मांग-सी धूल-धूसर राह खत्म होने को न आएगी? क्या यह सफर की अबुझ-अथाह प्यास एक दिन मुझीको पी जाएगी? क्या मेरे साथ यही सब ऊंघते कस्बे, और पुराने पुल जाएंगे? क्या यह धनुष-सी दुहरी पांव में लिपटी हुई नदी मुझे बिल्कुल ही बींध देगी?"

(धर्मवीर भारती)

कवि जितना परिवर्तन चाहता है उतना पा नहीं सका है। सांकेतिक वैयक्तिकता यहां युग का प्रतीक बनकर सामने आती है।

"गिरिपर्वत-बन लांघता नया मेघ कुम्हलाए फूलों में नूतन गंध भरने आया है। इसको नभ में छा जाने दो। यह तुम्हें स्नेह, सौंदर्य, स्वास्थ्य सब कुछ देगा।"

(श्यामसुंदर 'अशांत')

"अब दिक्काल अज्ञान और भय का कारण नहीं है। अंतिम रण के लिए नर-नारायण अब कटिबद्ध हो रहे हैं। परम पावन-कारण क्षेत्र अब रणक्षेत्र बनेगा।" (नरेन्द्र शर्मा)

"फागुन का अनमनपन फैला है, अलस दुपहरी है। बेमन नीरस ध्वनियां प्रौढ़ा परकीया-सी पसरी है। पनीली रुग्ण हवाएं चल रही हैं। कहते हैं बसंत बौराया है, पर मुझे लगता है कि मैं जैसे संडसी में जकड़ गया हूं।" (विद्याभूषण अग्रवाल)

"प्यार स्वतन्त्र है, मगर उसपर कहीं न कहीं नियंत्रण भी है, जैसे छन्द कहीं मुक्ति है तो कहीं बन्धन।" (नीरज)

"एक पीली शाम ऐसी है जैसे पतझर का ज़रा अटका हुआ पत्ता। अब गिरा, अब गिरा वह अटका हुआ आंसू सांध्य तारक-सा है।"—(शमशेरबहादुर सिंह)

"दीप जलाकर रात गुजार दी, दोपहरी देह जलाकर।" (नेपाली)

"आनेवाला सबेरा होता है, जानेवाली शाम होती है।" (बलवीरसिंह रंग)

'चांद और मेघ' का वर्णन करते हुए कवि कहता है :

"दिशा ने भी दूधिया हाथी सजा, फेरी लगा, काली रुई-सा नभ को धुना और

मन का बांध ढाहा। सलोनी चांदनी पीकर पेड़ ने रूमाल से पत्ते हिलाकर आपा भुलाया।"
(विष्णुचंद्र शर्मा)

"दिन रुपयों का राजा है, रात गिन्नियों की रानी है। राजा की चादर उजली है, रानी की चूनर धानी है। रानी सोना लुटाती है, राजा चांदी। लूटनेवाले खुशहाल हैं यानी धनीमानी हैं।" (बजरंग वर्मा) बिल्कुल बच्चों-जैसा गीत है किंतु अर्थ व्यवस्था पर कितना गहरा व्यंग्य है !

"मैंने नियति से कहा कि सब खत्म कर दे, लूट ले, पर एक मेरी आस्था, मेरे विश्वास को रहने दे। नियति बोली : अरे आस्था वाले ! 'होश कर। असलियत से सदैव निहत्था ही युद्ध करना पड़ता है। इसलिए तू पहले ही कवच-कुण्डल दान दे दे।" (गिरिजाकुमार माथुर) कवच-कुण्डल कर्ण ने दान किए थे, यह कथा प्रसिद्ध ही है।

कबीर की उलटबांसी की तरह एक नया व्यंग्य है—"वह युग कब आएगा जब गाड़ी घोड़े को खींचेगी, जब खेती नहरों को सींचेगी !" (बेधड़क बनारसी)

"नीति, धर्म की एक ही कसौटी है, मानव का कल्याण। अनेक अगणित विधियां हैं, परन्तु सभी का लक्ष्य एक इंसान ही है। यहां कोटि-कोटि भगीरथ सुरसरि लाने में जुटे हुए हैं। अश्रुबिंदु लय कर लेने को अमिय की धारा बही है।" (विद्यावती मिश्र)

"कल रात मैंने सपने में देखा कि मेनका अस्पताल में नर्स हो गई है, और विश्वामित्र ट्यूशन पढ़ा रहे हैं। उर्वशी ने डान्स स्कूल खोल दिया है, नारद गिटार सीख रहे हैं। गणेश बिस्कुट खा रहे हैं और बृहस्पति अंगरेज़ी से अनुवाद कर रहे हैं।" (भारतभूषण अग्रवाल) आज के समाज की खोंखली झांइयां साफ हो जाती हैं। किंतु जब कवि व्यंग्य में सीमित नहीं रहता तो वह मुक्तकण्ठ अपनाने से भी पीछे नहीं हटता। समाज के दरिद्रों को एक करने के लिए जब वह आह्वान देता है, तब उसके क्षुद्र परिकर अपने आप दब जाते है :

इसलिए आह्वान करता हूं तुम्हें ऽ ऽ—
जो मां को फ़सल पहना रहे हैं,
ओ किसानो।
शोषकों के वस्त्र हित निज स्वेद
पहियों को पिलाते जा रहे जो—
ओ मजूरो ! सुनो पृथ्वीवासियो !
तुम भी सुनो—
कवि ! लेखको ! क्लर्को !
अरे तुम भी सुनो—
देवता वह श्रम करे जो—

इन्द्र भी पहला श्रमिक था,
वृत्र, जो जनशत्रु था, श्रमचोर था,
इन्द्र को उस शत्रु से लड़ना पड़ा था—
और जन विजयी हुए—श्रम की विजय थी।
आज के हम इन्द्र हैं—हैं देवता श्रम के—
जान लें, पहचान लें सब
आज के इस असुर, शोषक वृत्र को ऽ—
जो जलाता फसल, मंदिर, नगर, जन के केन्द्र को।

—नरेश मेहता

धरती जाग रही है।

कवि किसान को बुलाता है। धरती का गुन है कि वह गूंजती है। "ओ किसानो! तुम्हारी हरी धरती की आग से अभय मानव पल रहे हैं। मुक्ति के नेता! सजग होकर बिगुल का निर्घोष कर दो।" (शिवमूर्ति मिश्र)

अंत में मैं कहूंगा कि अभी बहुत बड़ी शक्ति और उसकी संभावना हमारे काव्य में छिपी हुई है। जनता से जितना सामीप्य होगा काव्य निखरता आएगा।

"जन-भावना की शिञ्जिनी मधुर स्वर में बज रही है। आगामी मुक्त जगत् की वह कामना है वह स्वर। वह चांदनी-सी मधुर है, प्रातःकाल-सी उन्मेषदात्री है। वह जंगल, गांव, घर, नगर, गली में घूमती है। वह ज़िंदगी की जीत का ढिंढोरा पीटती है।"
(हरिव्यास)

इधर 'प्रभात' की 'ऋतंवरा' में जीवन की बड़ी ही गहन अनुभूति प्रकट हुई है, जिसमें हम जल, पृथ्वी, अग्नि, पवन और आकाश, मानव, प्रजा, नारी और चराचर को एक महान कर्मयज्ञ में सन्निहित देखते हैं। 'ऋतंवरा' एक नया मील का पत्थर है। आज जीवन बढ़ रहा है :

मनु की प्रजा बनी शतधा बिखरी दिशि-दिशि में भू पर
वन-गिरि-गह्वर, समतल में, हिममंडित ध्रुव के ऊपर।
यह मानवता की सहस्र धारा अनन्त अविनाशी
बनने चली विश्व-संस्कृति का जल-निधि जय-विश्वासी।
देशों में जन बँटे, बनी सरि-सागर की सीमाएँ
धरती बँटी, एक नभ में पर सबके स्वर लहराए।
धर्म - जाति - रंगों - वर्गों की बनी नई दीवारें
पर विराट जन-चरण न पथ की बाधाओं से हारे।
मिली एक ही नील गगन से सबको स्वप्निल छाया

हुई एक जीवन-धारा से सबकी शीतल काया।
जब-जब अन्यायों ने जनता को पथ में ललकारा
रावण, नीरो, धीणु सभी का टूटा भाग्य-सितारा।
जय अजेय जन-धारा।

—शम्भूनाथसिंह

यह अजेय जीवन है। इसकी महिमा में ही है कि यहां दुखियों को नया संबल मिलता रहे :

"हर छलकती आंख को वाणी थमा दो। हर सिसकती हुई सांस को अब कोमल बना दो। हर लुटे हुए शृंगार को अब पायल पहना दो। तम से कहो कि सितारे वापिस कर दे। बिजलियों से कह दो कि वे घूंघट उघार दें। श्रम काली घटा पर लपटों का मुकुट पहनकर मुस्कराता है। मरघटों को खेत की खुशबू सुंघा दो। पतझरों से फूल के घुंघरू बजाओ। अब हर कलम की नोक पर स्वर्ग का नक्शा उतरा आता है।" (नीरज)

नई कविता नये गीतों में नये मैदान ले आए, नये सूर्यों का उदय करे। यही मेरी कामना है। और वाणी की अमर विजय की यही कामना नया कवि भी करता है :

"हे वीणावादिनी! तेरी जय हो! तू कुंदेन्दु-धवल कलवदना कला-प्रसादिनि है। रस-आह्लादिनी है। जनस्मय-वंदित चरण है, शब्द, अर्थ, ध्वनि रस तेरे आभरण हैं। तू प्रणव-निनादिनी है। तेरी जय हो!" (उदयशंकर भट्ट)

नई कविता में नया 'एप्रोच' है, प्रयोग के नाम पर आज बहुत-से टूटपुंजिये कवि भीड़ में अपने को ऐसे ही चला रहे हैं जैसे छायावाद के युग में या प्रगतिवाद के युग में बहुत-से चल पड़े थे। पर वे नहीं चले, ये भी नहीं चलेंगे। अच्छे कवि ऊपर उठ आएंगे। आज विषय बढ़ गए हैं, शैली में परिवर्तन है। चमत्कारवाद का भी प्रश्रय लिया जाता है। ज़रा-सी बात भी विस्तार से लिखी जाती है। प्रायः जमकर चिंतन नहीं होता, छुट-पुट होता है। दुःख से व्यंग्य उपजता है। नये उपमान आते हैं अपनी वैयक्तिकता को उभारने को, क्योंकि शक्ति का स्रोत जनजीवन पास से नही देखा गया है। नये भाव-चित्र आते तो हैं, पर गीतत्व के अभाव में गद्यात्मकता ययार्थ के नाम पर धंसी आ रही है। महाकाव्यत्व की उत्तमपुरुष-मार्गी भाव-संयोजना का व्यापक क्षेत्र मुक्तक के लघुत्व ने ले रखा है। जैसा कि मैं कह चुका हूं कि मुक्तक के लिए एक संदर्भ का अभाव दुरूहता को जन्म दे सकता है, वह अब भी पाया जाता है। अंततोगत्वा अभी तक नई कविता में मौलिक परिवर्तन नहीं आया है। अवश्य ही कुछ नये अलंकार पैदा हुए हैं। आस्था का परिवर्तन काव्य की उपलब्धि नहीं मानी जा सकती। कल की भांति ही आज भी कवि को स्वदेश प्यारा है, किंतु किसी देश-विशेष से उसे घृणा नहीं। उसे तो प्रत्येक देश के

प्रतिक्रियावादियों से घृणा है। और जहां भी मानव की स्वतन्त्रता का प्रश्न है, वहीं उसे सांत्वना मिलती है :

मुझे अमरीका का लिबर्टी-
स्टैचू उतना ही प्यारा है
जितना मॉस्को का लाल तारा
और मेरे दिल में पेकिंग का स्वर्गीय महल
मक्का-मदीना से कम पवित्र नहीं
मैं काशी में उन आर्यों का शंखनाद सुनता हूँ
जो वोल्गा से आए
मेरी देहली में प्रह्लाद की
तपस्याएँ दोनों दुनियाओं की चौखट पर
युद्ध के हिरण्यकश्यप को चीर रही हैं

×

आज मैंने गोर्की को होरी के आंगन में देखा
और ताज के साए में राजर्षि कुंग को पाया
लिंकन के हाथ में हाथ दिये हुए
और टॉल्सटॉय मेरे देहाती यूपिअन होठों से बोल उठा
और अरागों की आँखों में नया इतिहास
मेरे दिल की कहानी की सुर्खी बन गया
मैं जोश की वह मस्ती हूँ जो नेरूदा की भवों से
जाम की तरह टकराती है…
मैं पंत के कुमार छायावादी सावन-भादों की चोट हूँ
हिलोर लेते वर्ष पर
मैं निराला के राम का एक आँसू
जो तीसरे महायुद्ध के कठिन लौह पर्दों को
ऐटमी सूई-सा पार कर गया पाताल तक

—शमशेरबहादुर सिंह

संसार की सुन्दर कृतियां उसे सुहाती हैं, वह चाहे कहीं की भी क्यों न हों। उसे किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं है। हो भी क्यों ? जिसका आधार जीवन के प्रति प्रेम है, वह क्या उस सबसे स्नेह नहीं करेगा, जो कि जीवन को वरदान बनानेवाले हैं ! उसने तो शताब्दियों, संस्कृतियों और देश की सीमाओं को पार कर लिया है। घृणा केवल उससे है जिसके द्वारा मार्ग रुकता है। अन्यथा उसे सबसे प्रेम है। वह अपनत्व का अनुभव करता

है। रूप का बाह्य अलग-अलग होता है। अन्तस्थ में सबमें अंत है सत्य और शिव। प्रत्येक देश का श्रमजीवी दलित है। वह भारतीय किसान ही नहीं, लोक-श्रम का प्रतीक है :

धधकती धरा उगलती धुआँ
खदकते ताल - तलैया - कुआँ
चीरती चली जा रही नील
शून्य को ऊपर-ऊपर चील।
अलस जडिमा से भाराक्रान्त
वन्य पशु ग्रीष्मा तप से क्लांत।
अंगारा - सा घाम,
हाथ में हलस्थाणु को थाम;
रहा वह ऊसर धरती जोत,
उगे संकट के मोथे जोत।
खेत में भूखा कमकर एक
दूर जीवन के मधु से दूर;
छाँह से वंचित नंग-धड़ंग
पसीने से लथपथ - प्रत्यंग।

—रामइक़बालसिंह 'राकेश'

उसके हाथ में वह बल है जिससे मानव ने पृथ्वी को अपनी विजय का धाम बनाया है। वह उनसे शताब्दियों के स्तरों को खोलता चला आया है :

चल रहा फार चमकता तीव्र
मोड़ पर जीवन के अति शीघ्र
चल रहा फार खोदता गर्त
फाटता पर्त, पर्त पर पर्त।

—रामइक़बालसिंह 'राकेश'

मानव ने क्या नहीं किया ! वह निरंतर विजयी होता चला जा रहा है। विज्ञान उसकी शक्ति का प्रतीक है।

"गति के पागलपन से प्रेरित होकर महान संसृति चलती है। सागर पर जहाज़ चलते हैं, अंबर में वायुयान उड़ते हैं।" (भगवतीचरण वर्मा)

अब वह 'पौरुष' और 'कर्तृत्व' से 'सकर्मक' बन गया है।

"किस्मत के कुटिल भरोसे पर जीना, नादानी के सिवाय और क्या है? किस्मत को रोनेवालों की रग में रक्त नहीं पानी होता है। लोक बनानेवाले तो सिर उठाकर चला करते हैं। वे अपने चरणों में करवालों से सान चढ़ाते हैं। हिमशिखर पर उनका ही

जयकेतु दिखाई पड़ता है। मेघों के गर्जन में उनका ही जयघोष सुनाई पड़ता है।"

(गोवर्द्धनप्रसाद 'सदय')

चाहे भारत हो या अन्यत्र, सब जगह सृजन की लहर उठ रही है :

सुनहली चीन धरतियाँ बरफ हो गईं,
बरफ लबादा ओढ़ हिमालय
के शिखरों पर खड़ी हुईं जो
बादल के रूमाल हिलाकर
बुला रहीं मेरी फसलों को
(ज्यों स्कूल बालिका अपनी
साथिन को हँस बुला रही हो।)
मानसून की तनी हुई हैं
पूरी नीली तरल झिल्लियाँ
मौसम के उन सर्द गरम
उलझे केशों को
कंधों पर डाले पहाड़ हैं, शान दिखाते।
जिनके नारियल के हुक्कों के
धुएँ जैसे मेघ घिहरते।
उत्तर की वे सर्द चुड़ैलें
हड्डी से ठिठुरे नाखुन ले
मंगोल देश की धरती को
फाड़ा करतीं, नोचा करती हैं
सदा बिखर जाया करता है
धरती के स्तनवाला वह दूध धान का
जब दक्षिण के अंगों में
रंगफूल सितारों से उगने लगते हैं
बिना दाँत की डाढ़ सरीखी,
उत्तर धरती चटका करती।
लम्बी कलगी की तम्बाकू रंग
की गौरैयाएँ
गोबी पर झरती सर्दीली
बरफ रुई को चीर
यांग्टी चल देती हैं—

रंगफूल की तितलीवाली
छींट पहनकर जिसकी घाटी
गरम कोख-सी फैली रहती।

—नरेश मेहता

नरेश मेहता के चित्र बहुत पैने होते है और सुन्दर भी। चीन का वर्णन कितना गर्वीला सौंदर्य है हमारे काव्य के प्रतीकों में। नरेश नये काव्य का बनपांखी है,बड़ा सुरीला, वैसा ही मस्त और सलोना, ऊंची है इसकी उड़ान। चीन ही नहीं सारा एशिया जाग रहा है :

"एशिया की आग लपलपाती बढ़ रही है। अरे तूफान उठा है। दीपक जल उठो! एशिया की आग सारे शोषितों की आग है। आग मे निर्वाण है। तुम बुझाए से कभी बुझ नही सकते, न झुकाए से झुक सकते हो। करोड़ों दीपको से यह आग एक होकर उठी है।"

(शिवमूर्ति मिश्र)

सारे संसार में प्रतिध्वनि उठ रही है :

जयरव है यह जयरव,
आर्त्त तृषित भूखे नंगों का
भैरव है यह भैरव !
जिसने बाँधे अगणित बन्धन
तन पर, मन, जगजीवन पर
कुटिल क्रूरता से प्रहार कर
काट लिए बचपन के कर, पग,
घोंट दिए मदमत्त जवानी
के चंचल मधुगीतों के स्वर,
तलवारों की फसल उगाई
शांति-प्रगति के वक्षस्थल पर
उसी दैत्य को आज डुबोने को जो आतुर
वह पीड़ित शोषित जनता के
तरल रक्त का लाल-लाल
अर्णव है अर्णव !

—शंकर शैलेन्द्र

कैसा उन्माद है ! एक राष्ट्र की स्वाधीनता की प्यास आज संसार की स्वतंत्रता की प्यास बन गई है। आज यह दुर्दयनीय शक्ति उमड़ी आ रही है। क्रान्ति जग उठी है। संपूर्ण क्रान्ति ! एक दिन कवि ने आक्रोश से भरकर गाया था :

"नाश ! नाश ! हां महानाश की प्रलयंकारी आंख खुल जाए ! कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाए। सावधान ! मेरी वीणा मे चिनगारिया आ बैठी है। रुद्ध गीत की क्रुद्ध तान मेरे अन्तरतर से निकली है। जग को चकनाचूर कर दो। ब्रह्माण्ड नाश के स्वर से गूज उठे।" (बालकृष्ण शर्मा 'नवीन')

आज—"इधर मशीनगन गड़गड़ाती है, उधर आसमान तड़पता है। टैंकों से टैंक भिड़ते हैं। लोक-युद्ध संसार में जनता में शक्ति भर रहा है। बच्चों के चिथड़े-चिथड़े सड़कों पर दिखाई पड़ रहे हैं। मां की ममता उन्हें देखकर आखों मे भर आती है।"

(शिवमगलसिंह 'सुमन')

कवि केवल देश की सीमा में ही नहीं रहता। जहां भी अन्याय है, स्वतन्त्रता का संग्राम है, वहीं-वहीं उसकी सहानुभूति पहुंच जाती है।

आवेश और सुंदरता! विध्वंस और निर्माण! द्वन्द्वों का सौंदर्य उमड़ा आ रहा है।

वह अब किसी प्रतिक्रिया को शेष नही रखना चाहता :

"जिन दीपकों में खून भरा है, उन्हे बुझा दो। वे राजमहलों के दीप है। उन्हें बुझाकर जीवन की नयी ज्योति जगा दो।" (गानसिंह 'राही')

और हिंदी काव्य में एक बहुत ही सशक्त रचना हमें गूजती सुनाई देती है :

देख लेना, कल रुपया मर जाएगा
शोषक लोभ के दानव के साथ
उसका भी जनाज़ा निकल जाएगा।
और वस्तुएँ आज़ाद होंगी,
कि वस्तुएँ ज़िंदा हो उठेंगी।
क्योंकि तब इंसान का उत्पादन
नहीं होगा एक गुलाम का उत्पादन
नहीं होगा वह निचोड़ उसकी मजबूरियों का,
नहीं होगा निर्जीव ट्यूमर वह
उसके घुटे अरमानों का,
नहीं होगा अवरोधक कैंसर वह
कोटि-कोटि मानवों की
जीवन-रक्त-कुण्ठा से ग्रंथीभूत !
नहीं होगा मुर्दा खून वह उसकी
निपीड़िता इच्छा-वासनाओं का,
नहीं होगा रूप वह उसकी
चिर प्यासी, विकृत कल्पनाओं का

नहीं होगा अन्न वह
जोकि उगता है उसके बुधमुँहे
बच्चों के खून की खाद पाकर

×

वह होगा अखण्ड दर्पण
उसकी पूर्ण काम, प्रगतिशील चेतना का।

—वीरेन्द्रकुमार जैन

कितना प्रचण्ड रव है! एक-एक पंक्ति में हृदय बोलता है। यदि कोई अलंकार-शास्त्री चाहे तो ढेरों अलंकार यहां पा सकता है। आज तो "धूल के हर रेशे में जन-जीवन बिखरा हुआ है। धूल की शक्ति मिटकर भी नही मिटती। इसी धूल से आशाओं के नये दीपक सुलगेंगे। सूखी धरती हरियाएगी और उजड़े नगर बस जाएंगे।"

(मानसिंह 'राही')

और धकधकाते मेघों-सा गर्जन करता हुआ, बिजलियों की छटा-सा बरसाता कवि-स्वर उठाता है :

आहों से शोले, नयनों से
निकली यदि चिनगारी न प्रखर
अधरों में भर तृष्णा असीम
यदि पी न सका अहरह सागर
लेकर इतनी वेदना-व्यथा
किस योग मिला फिर यह यौवन
फिर व्यर्थ मिला ही क्यों जीवन?

×

यदि अटल साधना के बल पर
कर पाया विष, मधु पेय नहीं
यदि आत्मविसर्जन कर तुममें
पाया अपना चिर ध्येय नहीं
क्यों अग-जग में परिवर्त्तन मिस
बनता-मिटता रहता कण-कण,
फिर व्यर्थ मिला ही क्यों जीवन?

—शिवमंगलसिंह 'सुमन'

सत्ता, जीवन, यौवन, संस्कृति, सौंदर्य सब एक रेख में दीपकों-से जल रहे हैं। प्रकाश कहता है कि "गरीबी को वरदान नहीं माना जा सकता। अभावों पर अभिमान

नही किया जा सकता।" (श्रीराम शर्मा 'प्रेम')

जीवन की सार्थकता का प्रश्न नहीं। इस प्रकार यह सब झंझट बाह्य मूल्यों का नहीं, मानव-जीवन का मूल प्रश्न है। वह देखता है कि "जहां बंधन की छाया नहीं, जहां राग-द्वेष, शोक-ताप, माया नहीं, जहां काया मुक्त है, जहां शांति समता के सपनों का मेला है, अमर सत्यमत्र पूत है, उसी ओर अकेला शाश्वत शांतिदूत कालपुरुष बढ़ रहा है।"

(शंभूनाथसिंह)

कालपुरुष की गति अखण्ड है। कवि यह तो स्पष्ट देखता है कि वर्ग विषमता से बहुत कुछ बुराई पैदा हुई है : "इस दुनिया में दो दुनिया हैं, जिनके नाम गरीब-अमीर हैं। सोने के नगर मिट्टी का सीना चीरकर ही बने हैं। देश-देश में मुफ्तखोर हैं, देश-देश में मेहनतकश है।" (नरेन्द्र शर्मा)

"धन के कारण ही भगवान भी बिक-सा गया है। अब मनुष्य का इतना मोल नहीं, जितना धन का है। वह अपने शासक अत्याचारी 'धन' को पहचान गया है। वह कहता है। इन्सान के मन का महामानव मार कर भगवान चुप होकर लक्ष्मी की गोद में सो रहा है। यदि भाग्य का शैतान न बांधता तो आदमी का हाथ चांद-सूरज को तोड़ लेता।"

(श्रीराम शर्मा 'प्रेम')

यह दरिद्र मानव ही तो नयी संस्कृति का आधार है :

पलकों पे थरथराता ढलका हुआ जो पानी
कहता है निर्धनों की आंसू-भरी कहानी।
रहने को एक गन्दी टूटी-सी झोंपड़ी है
जैसे कि कब्र कोई मुंह खोल रो पड़ी है
देता कफन के पैसे, मरने पे कोई दानी
वरना है करना पड़ती गीधों की मेजबानी
महलों में जो भरा है इनका है वह पसीना
खेतों में जो हरा है इनका है वह पसीना
अपने लहू से मिट्टी को ये बनाते सोना
इनके लहू से गुलशन धरती का कोना-कोना।
फूलों - सी जिनकी रातें, करते हैं जो बरातें
उनको गरज है क्या जो भूखी हैं इनकी आंतें
उठ जाग अब तो भाई, डंका जरा बजा दे
महलों को झोंपड़ी के पैरों तले झुका दे
है शेर मर्द तू भी दुनिया को तू बता दे
उठ जालिमों की हस्ती ठोकर से तू उड़ा दे।

साँसों में देख तेरी आँधी की है रवानी
जागी है लाश तेरी, बनकर नयी कहानी।

—नीलकंठ तिवारी

अब भला किस प्रकार इस सत्य को देखकर भी कवि अपने नयन मूद सकता है। सत्य कितना भी कठोर क्यों न हो, उसे तो कहना धर्म ही हो जाता है।

"मेरे स्वर में जीवन भर दो। यह हवाई वैभव के महल क्षण-भर में चकनाचूर कर दो। मुझे इन सपनों से दूर करके मेरी आहों के वेगों में मानवता का क्रदन भर दो। मेरी वीणा में बंदी की बेडी की झन-झन-झन भर दो। जिसने चांदी के टुकड़ों में मेरा दिल ले लेना चाहा, उसको क्षत-विक्षत करने को ही अनिल-अनल छिपाए हूं। मुझमें तूफानों की हर-हर, सन-सन भर दो।" (शिवमंगलसिंह 'सुमन')

कवि बिकना नहीं चाहता। जैसे योगी स्त्री के सुख को झूठा सुख मानता है, वैसे ही कवि पैसे की छलना को झूठा सुख मानता है। वह अपने को एक व्यक्ति के रूप में मानता ही कब है। वह जानता है : "मानव की भले ही मृत्यु हो जाए, मानवता की मृत्यु नहीं होती।" (यतेन्द्रकुमार)

इस मानवता को क्या वह हृदय में चेतना लिए, धोखा दे सकता है ? क्या वह अपने को भी धोखा दे सकता है ? वह तो युद्ध की विभीषिका के बाद की एक सुंदर छवि को देख रहा है—नयी उपमाए है :

थम गये तूफान वर्षा और आँधी
छा गई चारों दिशा में
एक श्रम-सौंदर्य में डूबी हुई नवशांति।
लौट आयी चेतना फिर
चल पड़ा सूखे, सरोवर-पंक में
लिपटा हुआ संक्रान्ति कछुआ गहिर तल को।
सिक्त रेती की करारें काटती सीपी बढ़ी।
फट गई कच्चे घड़े-सी बादलों की पर्त गहरी
चाँदनी (चाँदी सरीखी स्वच्छ)
शीतल दूध जैसी बह चली।
आ रही है लौटकर तूफान में उलझी हुई नौका किनारे !
उड़ रही हैं बादबानें
चल रही पतवार नाविक मस्त गाता गीत
जिसकी गूंज का संस्पर्श उपवन की कली में प्राण था
संचार करता।

लौट आया है समीरण गुदगुदाता
भीति से रूठी जुही निज प्रियतमा को।
चल पड़ा क्रम सृष्टि का फिर।
बह गया तूफान सूखी धूल पत्ती को उड़ाता
दूर पश्चिम की दिशा को।

—हरि व्याम

एकदम जैसे चलचित्र हो। ऐसे हिंदी में न जाने कितने सुंदर चित्र है। आवश्यकता तो इसकी है कि नये काव्य में विषयानुकूल अति सुंदर रचनाओं के संग्रह निकाले जाएं। बहुत-से तैयार हो सकेंगे और बहुत सुंदर बनेंगे। इनमें मनुष्य के कल्याण की कल्पनाएं हैं। कवि कहता है :

"कल्पना की उड़ाने सत्य के उन्मुक्त पंखों में भरो। क्षितिज की हर डोर में उलझे भविष्यत् को धरा पर ला धरो। निराशा की दिशा के वृत्त मे प्रगति का केन्द्र खोया है, इसलिए समय की धूलि में अपने चरण के चिह्न को और गहरा करो। जब तिमिर घना हो तब दीप की लौ का सहारा बनकर चलो और जब ज्योति से मही को लीप दो तब भले ही मौन होकर ढल जाओ। नयन की दृष्टि की चिनगारियां विघ्न के पुतले जला दें। जब सुरसरि वेदना में गलो तो धरा को एक दान दे दो।" (कुमारी रमासिंह)

अब तो मिल जाने की बेला आ गई है :

कहीं रहे कैसे भी मुझको प्यारा यह इन्सान है,
मुझको अपनी मानवता पर बहुत-बहुत अभिमान है,
अरे नहीं देवत्व, मुझे तो आता है मनुजत्व ही,
और छोड़कर प्यार नहीं स्वीकार सकल अमरत्व भी,
मुझे सुनाओ तुम न स्वर्ग - सुख की सुकुमार कहानियाँ
मेरी धरती सौ - सौ स्वर्गों से ज्यादा सुकुमार है।
कोई नहीं पराया, मेरा घर सारा संसार है।

—नीरज

सिद्धान्त बाहरी मतभेद के है। सबसे ऊपर तो मानवता है। इस सत्य को पहचानो। अन्यथा देखो कि इस विषमता में तो सब "रीति, धर्म और आदर्श आज पुस्तकों के पृष्ठों में बन्दी हैं। मानव का कल्याण पन्थ पर बैठा आहें भर रहा है। विष से प्यास बुझायी जाती है। विसर्जन विकास कहलाता है। यह युग भी कैसा है! एक रात में यह सोने के वैभव की लंका ढह जाएगी। हिमगिरि की चोटी से परिवर्तन का डंका बजता आता है। समय शेषनाग का शिथिल पाश खोल रहा है।" (शिवशंकर मिश्र)

आखिर तो फिर भी उठना ही होगा। व्यक्ति बिना इसके जिएगा भी तो कैसे :

मुझे मिली है प्यास विषमता का विष पीने के लिए
मैं जन्मा हूँ, नहीं स्वयं-हित, जग-हित जीने के लिए,
मुझे दी गई आग कि इस तम में मैं आग लगा सकूँ
गीत मिले इसलिए कि घायल जग की पीड़ा गा सकूँ,
मेरे दर्दीले गीतों को मत पहनाओ हथकड़ी
मेरा दर्द नहीं मेरा है, सबका हाहाकार है,
कोई नहीं पराया, मेरा घर सारा संसार है।

—नीरज

नीरज हिंदी काव्य-सरोवर का सचमुच का एक नया कमल है। बड़ा स्निग्ध है, इसके दल कैसे प्यारे हैं। गंध तो कैसी-कैसी नहीं बगराता। मनुष्य की पर्वतारोही शक्ति देखकर वह पुकार उठता है : "आखिर मुट्ठी-भर धूल वहां पहुच ही गई जहां इतिहास पुराणों के भी पांव न जा सके। मानव के साहस तू धन्य है। तूने दिखा दिया कि चुवन से सूरज को भी शरमा सकता है। तू तूफानों को पायल पहना सकता है और पाषाणों को सांसों से नरमा सकता है।" (नीरज)

ऐसे युग की बात है जब संसार में जातिवाद की विभीषिका महात्मा गांधी जैसे व्यक्ति की भी निर्मम हत्या कर सकी है। कवि देखता है और उसके सामने सभ्यता का पूरा चित्र आता है। वह बैठा हुआ है :

रात का पहला पहर आ गया है। राजघाट की समाधि पर—
बढ़ चली उदासी सन्ध्या की
धीरे-धीरे आ गई रात ;
तारों छाए नभ के नीचे
थी शून्य बनी सोई समाधि !
दायें अनेक सम्राटों के वैभव का खंडहर मूक बना
था हत-गौरव हो खड़ा अरे वह लाल किला !
सन्ध्या की धुंधली पृष्ठभूमि की छाती पर
ज्यों मूंग दल रहा हो कोई दानव महान !

×

बायें था भवन राष्ट्रपति का उठती प्रभुता का नवप्रतीक
जिसमें जूठन साम्राज्यवाद की छोड़ गई थी एक हौक !

×

इसके गुंबद पर मँडराता
कितने साम्राज्यों का अतीत !

कितने अभाव, आँसू, आहों का
इसपर मँडराता भविष्य !

×

इन दो छोरों के बीच शांति से सोई थी
बापू की यह पावन जीवित-जाग्रत् समाधि ।

—मोहनसिंह सेंगर

यह बलिदान, और इसपर मातम का वह व्यंग्य, और यह मानवीय मूल्यों की कराह, सब कितनी गहरी अनुभूति के प्रतीक हैं ! नीरज ने भी इसे देखा है । पर्वतारोही की प्रकृति-विजय का बाह्य-मात्र उसे भी नहीं सुहाता । मानव का महानतम रूप बलिदान में ही है, इसलिए वह विज्ञान और प्रगति को चेतावनी देता है :

तूने निश्चित कर दिया कि बहुत शीघ्र भू पर
देवों का सुन्दर स्वर्ग उतारा जाएगा,
तूने संकेत कर दिया वह दिन दूर नहीं
जब विजय मृत्यु पर भी मानव पा जाएगा ।
पर ठहर, गर्व का मुकुट न पहिना गौरव को
बस यहीं - यहीं तेरे गिर जाने का भय है
कर सका न प्राप्त विजय खुद पर ही तो तेरी
यह प्रकृति विजय रे सबसे बड़ी पराजय है ।

—नीरज

भीतर को भी सुधारते चलो । बाहर ही बाहर की दौड़ आसुरी वृत्ति है । भीतर को इतना सूना मत रखो, अन्यथा तुम्हें सुख नही मिलेगा । सत्य का पूर्ण रूप बहुत ही गहराई से देखा जा सकता है ।

यहां हम विवेच्यकाल की भाव-चित्रात्मकता देख चुके है । हमारा आलोच्यकाल बहुत छोटा है । इसे हमने धाराओं में नहीं बांटा, वरन् समस्त चिंतन का सांगोपांग रूप देखने की चेष्टा की है । हमारा उद्देश्य केवल महाकवियों को देखने का ही नहीं रहा है, बल्कि हिंदी काव्य का रूप दिखाना रहा है । इसे समस्त विवेचन में ही हमने प्रस्तुत किया है । भाव-चित्रात्मकता में हमारा काव्य बहुरूपी है ।

व्यापक विराट संसार और लघु मानवी संसार का द्वन्द्व नयी कविता में विज्ञान के प्रभाव से ही आया है । व्यंग्य और उद्बोधन प्रकरण के परिवर्तन के फलस्वरूप जन्मे है । व्यक्ति का वैयक्तिक दृष्टिकोण हमारे लिए महत्त्वपूर्ण नहीं, हम तो सुंदर का अभिव्यंजन देखना श्रेयस्कर समझते हैं, चाहे वह किसी भी रूप में अपने को क्यों न प्रकट करे । यह काव्य और मानव के भाव-जगत् को धनी बनाने की प्रक्रिया है ।

नये कवि के "उजड़े चमन में संकल्पों के अगणित घेरे हैं। परंतु मन के पंछी नहीं चहके। कठिनाइयों के झोंके आते हैं। आशाएं पूरी नहीं हुई हैं। वह बंधनों की सीमाएं तोड़कर धरती के कण-कण को चमका देना चाहता है।" (चक्रधर 'नलिन') "वह नहीं मानता कि उसमें कोई सार नही है। अभी भी उसके मन पर भार अवश्य है। भौंरे उसे किरणों की करियां प्रतीत होते है।" (प्रेमीहृदय) वह "चिर अमर स्नेह का लघु कण चाहता है, ताकि जीवन-ज्योति का जीवन अजेय बन जाए। मरण को अशरण और निःसंबल बनाकर, तम को चीरकर आलोक निकल आए।" (जितेन्द्रकुमार) वह कहता है : "हे प्रिय मेरे अभ्यंतर को विश्व-वेदना के जल से आप्लावित कर दो। मेरी मुग्धा व्यथा परिधिगत हो गई है, उसे निस्सीम बना दो।" (बालकृष्ण शर्मा 'नवीन') "सुकोमल दूब के तट पर शबनम का जलयान रुक गया है। शबनम का बाण खाकर जगत् बेहोश लहजे में पड़ गया है।" (नारायणलाल कटरियार) "दीप के माथे पर काजल की शिखा चढ़ गई है। इसलिए हर सत्य पर चिलमन का होना ज़रूरी है।" (मनोहर वर्मा) "श्यामल केश मुह पर डाले, काली चादर ओढ़कर छद्म वेश में मृत्युरानी आई है, वह कराली और असित नही हैं, वह मरण के आवरण मे अमरता छिपाकर लाती है।" (बालकृष्ण शर्मा 'नवीन') "मृत्यु की खाई के पार देखना ही ठीक है। आदि की उलझन न देखकर, अंत का शृंगार देखना चाहिए। मृत्यु और प्रलय बाहर नही, भीतर ही हैं।" (जगन्नाथ) "यहां इंसान से बढकर मजबूर कौन है?" (रामकुमार चतुर्वेदी) आज की विषमता में कुत्ता हो जाना भी सौभाग्य की बात है? "कुत्ता हो जाने को आदमी स्वतन्त्र है।" (रामावतार चेतन) आज का कवि मानता है कि "बादशाह बनने का विचार सबसे पहले किसी बीमार को ही आया होगा।" (विपिनकुमार अग्रवाल)

किंतु "अंतर के खोखले पठार आज जाग गए हैं, एक परिधि तोड़कर हम दूसरी के आगे है।" (सत्येन्द्र श्रीवास्तव) तभी कवि चाहता है कि सत्य की विजय हो जाए :

सच्चाइयाँ
जो गंगा के गोमुख से
मोती की तरह बिखरती रहती हैं
हिमालय की बर्फीली चोटियों पर
चाँदी के उन्मुक्त नाचते परों में
झिलमिलाती रहती हैं
जो एक हजार रंगों के
मोतियों का खिलखिलाता समुन्दर हैं।
उमंगों से भरी फूलों
की जवान कश्तियाँ—

कि बसंत के नये प्रभात-
सागर में छोड़ दी गई हैं।
ये पूरब-पच्छिम मेरी—
आत्मा के ताने-बाने हैं
मैंने एशिया की सतरंगी किरनों को
अपनी दिशाओं के गिर्द लपेट लिया
और मैं योरप और अमरीका की
नर्म आँच की धूप-छाँव पर
बहुत हौले-हौले नाच रहा हूँ
सब संस्कृतियाँ मेरे सरगम में विभोर हैं।

—शमशेरबहादुरसिंह

वह सारे संसार की संस्कृतियों को अपने भीतर समेटने को तैयार है, क्योंकि सब ही तो मनुष्य ने बनाया है। वह गतिमान हो उठा है। वह देखता है कि "नभ में सूरज, चांद, सितारों के पहिये विश्रांतिहीन घूमा करते हैं। नीचे धरती का चक्र अविरल चला करता है। जीवन के महान पहिये घूम रहे हैं। युग-युग से यह चक्र योंही चल रहा है।"

(गिरिजाकुमार माथुर)

इस अनथक चलते चक्र को क्या वह नहीं देखता। अब वह छल नही चाहता। तभी वह कठोर व्यंग्य करके विभीषिका को प्रकट करता है। जैसे : "एक बार तोप के पास बैठकर एक सैनिक ने दो हज़ार सैनिक मार डाले और तब ज़ख्मी होकर लाचार होकर गिर गया। डॉक्टर एंबुलेंस लेकर दौड़े और उसे ले जाकर खून के इंजैक्शन दिए। यह मानव का कितना महत् विश्व-प्यार है! जब वह सैनिक दूसरों के खून से जी उठा तो उसे फिर वही ड्यूटी मिली और इस बार उसने छः हजार मारे।"

(गिरीशदत्त पाण्डेय)

युद्ध की विभीषिका और उसको ढंकने के हमारे ढकोसले कवि स्पष्ट किए दे रहा है।

कवि प्रेम का पारखी है और उसने आदान-प्रदान की सुन्दर व्याख्या की है : "तुम्हारी तृप्ति यदि मेरे हृदय की प्यास हो जाए, तो उसी क्षण से मुझे जीवन सरस मधु-मास हो जाए। बहुत संभव है कि कल यह प्यार का इतिहास बन जाए। मैं अगर नजर भरकर देख लूं तो धरा भी आकाश हो जाए।" (बलवीरसिंह 'रंग')

अपनी क्षमता के प्रति भी वह जागरूक है। किंतु अभी तक वैयक्तिक 'अहं' अपना तादात्म्य समाज से पूरी तरह नहीं कर सका है।

राजनीतिक स्वतन्त्रता आज के युग में केवल एक ही मंज़िल की प्राप्ति होती है। हमारे काव्य में यदि प्रयोग के रूप में मोड़ आया माना जाए तो वह भूल होगी, क्योंकि

प्रयोग तो अयोध्यासिंह उपाध्याय से ही आरम्भ हो गए थे, जोकि सुमित्रानंदन पंत इत्यादि में विकास करते रहे और आगे भी उन्होंने शैली के अन्तर्गत विकास पाया। मत-विशेष या दृष्टिकोण-विशेष जो वस्तु-विधानपरक परिवर्तन लाए है, उन्हें हम कविता की अपनी इसी सार्वभौम कसौटी पर कसकर देख सकते हैं। स्वदेश-प्रेम का विश्व-प्रेम में जहां विकास हो गया, वहां जिस मानव-दर्शन की प्राप्ति हुई, उसमें देशकाल का प्रभाव तब तक रहेगा जब तक कि मूलभूत स्थिति में परिवर्तन नहीं आ जाता।

कुत्सित समाजशास्त्र की अति या वैयक्तिक स्वरों की अति आदि विचार-प्रवाहों को तब ही साहित्य के इतिहास में महत्त्वपूर्ण समझा जा सकता था, यदि उनके द्वारा साहित्य को बहुत बड़ी उपलब्धि हुई हो। जिस प्रकार ग्रीक, शक, हूण इत्यादि शासनों के उपरांत हमें साहित्य में विशेष मौलिक रूप से मूलाधार बदले नहीं मिलते, वैसे ही राजनीतिक स्वतन्त्रता से भी नहीं बदले हैं। मुगल साम्राज्य के बाद अंग्रेजी साम्राज्य का उदय, शासन का विशेष परिवर्तन ही नहीं, वह आर्थिक व्यवस्था में भी एक परिवर्तन था और मानव-जीवन पर विज्ञान के नये दृष्टिकोण ने प्रभाव डाला था। आज भी युग-विशेष या युग के अन्तर्गत कालखण्ड को हम विज्ञान के प्रभाव के अनुसार विभाजित कर सकते हैं।

धाराओं के रूप में काव्य के इतिहास को बांटना नितांत अवैज्ञानिक है। किसी काल में भी किसी विचारधारा के प्राबल्य के कारण, हम अन्य अच्छी कविता को यदि महत्त्व न दें और 'फुटकल' कह दें तो वह नितांत असगत होगा। इतिहास में जब हम ऐसे मोड़ देखते हैं, जिनका जन-जीवन पर सांस्कृतिक प्रभाव पड़ा है तब हमें उनका ध्यान रखना आवश्यक है। इसीलिए हमने नये युग का विवेचन उसकी पृष्ठभूमि पर किया है।

अन्त में आज के मानववाद की एक प्रमुख अनुभूति मैं आपके सामने रखता हूं, जिसमें कल का प्रकाश है और नया आयाम है :

दुख को सुमुख बनाओ; गाओ!
काली घटा छँटेगी कैसे? रिमझिम-रिमझिम स्वर बरसाओ!
एकाकीपन तभी सुहाता, जब जीवन से जी भर जाता;
इन आती-जाती साँसों को—साधो; जीवन-राग सुनाओ!
कौन सुने करुणा की वाणी? दीन दृगों के आँसू-पानी!
पर, अगीत संगीत अभी भी, इसका लयमय भेद बताओ!
असह सहो; दृढ़ प्राण बनाओ; अश्रु-कणों को गान बनाओ;
जब सुख छिटके चंद्रकिरण बन, सजल नयन झुक, चुप हो जाओ!

—जानकीवल्लभ शास्त्री

व्यक्ति का यह पूर्णत्व किसी भी देशकाल में स्तुत्य माना जाता रहेगा।